श्री कृष्ण चरित्र

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय
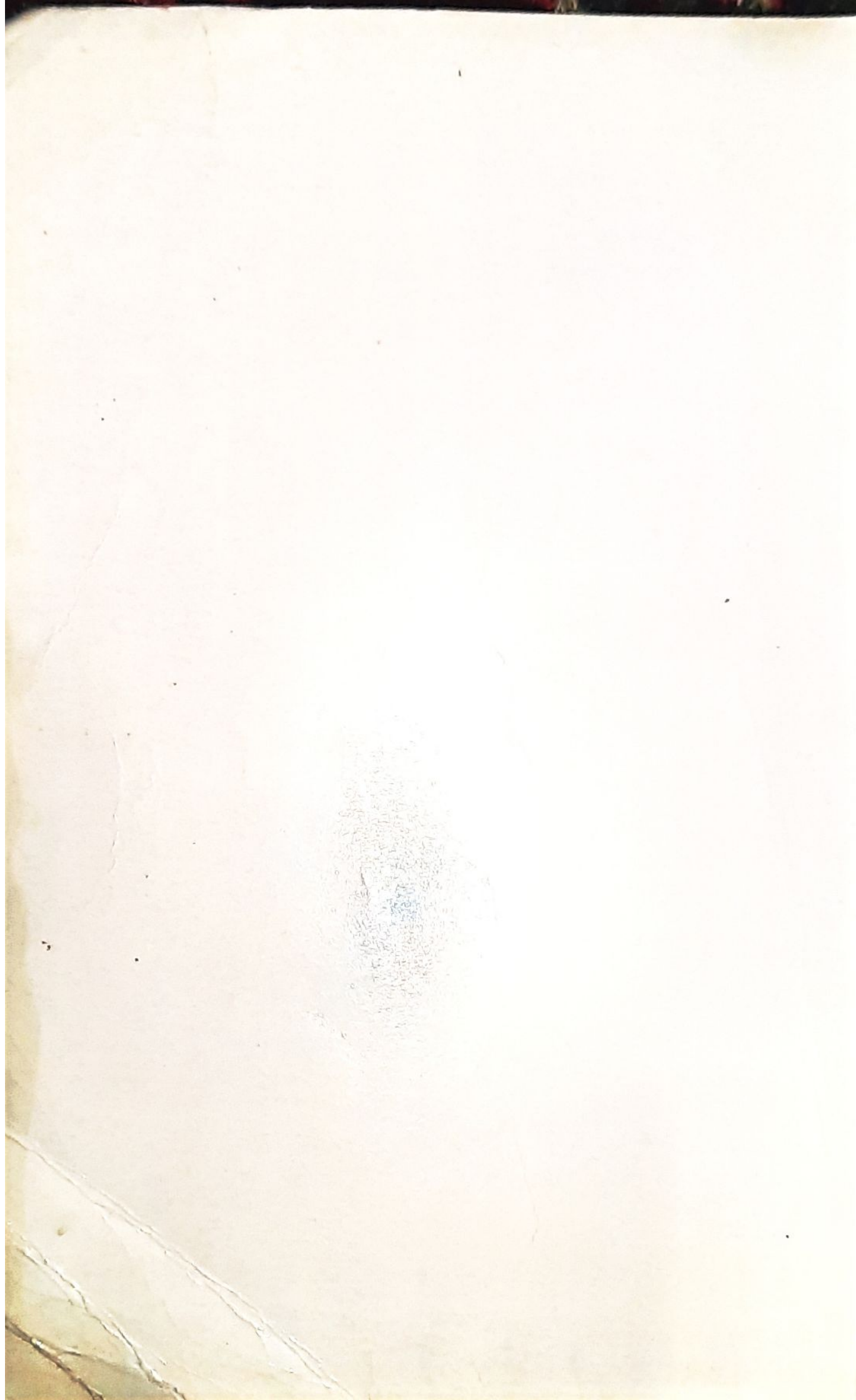
श्री कृष्ण चरित्र

श्री कृष्ण चरित्र

लेखक
बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

अनुवादक
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

होप इंडिया

विषय सूची

प्रकाशक की ओर से

महान देशभक्त एवं लेखक श्रीयुत बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की मूल बंगला पुस्तक 'श्री कृष्ण चरित्र' के हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी द्वारा किए गए अनुवाद का यह संस्करण पाठकों के हाथों में थमाते हुए हमें अपार हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है। प्रथम संस्करण 1923 में छपा था और वह भी बहुत थोड़ी संख्या में। इसीलिए पुस्तक बहुत लम्बे अर्से से अप्राप्य थी। कई दिशाओं से सुझाव आए कि नए रंग-ढंग से इस अभाव की पूर्ति की जाए। सो यह नवीन संस्करण निकाला गया है।

दुर्भायवश श्री कृष्ण के महान कार्यों को, उनके महान व्यक्तित्व को, कुछ स्वार्थी लोगों ने बुरी तरह से कलुषित कर डाला है। बचपन में वह चोर दिखाए गए हैं, युवा अवस्था में लम्पट और बुढ़ापे में धोखेबाज। बड़ी भयंकर स्थिति है। न कोई ऐतिहासिक तथ्य, न आंकड़ें, न गवाही, न औचित्य और विश्व के महान दार्शनिक, महान यौद्धा, महान सेनानायक, महान राजनीतिज्ञ, महान धर्म गुरु, महान चरित्र के धनी योगीराज के मुंह पर ऐसी कालिख पोती कि सब कुछ काला ही काला नजर आता है। भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत श्री बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से इस कालिख को पोंछ कर श्री कृष्णचंद्र को वैज्ञानिकं कसौटी पर परख कर इतिहास के सच्चे रंगों से उनकी यह सतरंगी तस्वीर बनाई है।

आज से लगभग 81 वर्ष पूर्व छपी यह पुस्तक अपने पुराने रूप में आधुनिक पाठकों को कई तरह से असुविधाजनक रहती। इसलिए इस को नए ढंग से पेश किया गया है। पर इस से न तो लेखक के मूल भावों तथा विचारों पर कोई प्रभाव पड़ा है और न ही उनके तथ्य एवं तर्क ही छेड़े गए हैं। हां अनुवादक की भाषा का कहीं-कहीं नयाकरण अवश्य किया गया है : यह जरूरी था।

भूमिका*

कृष्ण चरित्र के पहले संस्करण में केवल महाभारत की कृष्ण-कथा की आलोचना हुई थी। वह भी थोड़ी-सी। इस बार महाभारत से संबंध रखने वाली जितनी आवश्यक कथाएं मिलती हैं उन सबकी समालोचना हुई है। इसके सिवा हरिवंश और पुराणों में समालोचना के योग्य जो कथाएँ मिलती हैं उनकी भी आलोचना की गई है। उपक्रमणिका फिर से लिखी गई है और विशेष रूप से इस संस्करण में परिवर्धित हुई है। यह मेरा इच्छित संपूर्ण ग्रंथ है। पहले संस्करण में जो था उसका अल्पांश मात्र इस दूसरे संस्करण में है। इसमें अधिकांश नूतन ही है।

मैं इतना कृतकार्य्य हो सकूंगा, इसकी आशा पहले न थी।...मैं यह कहने के लिए विवश हूँ कि पहले संस्करण में जो मत प्रकाश किया था, वह अब के कुछ छोड़ दिया गया है और कुछ बदल दिया गया है। कृष्ण की बाल्यलीला के संबंध में यह बात विशेषकर हुई है। इस प्रकार मत परिवर्तन कर के कह देने में मुझे कुछ भी लज्जा नहीं आई है। मैंने अपने जीवन में कई विषयों में मत परिवर्तन किए हैं। कौन नहीं करता है? कृष्ण के विषय में ही मेरे मत परिवर्तन का विचित्र उदाहरण लिपिबद्ध हुआ है। वङ्गदर्शन में जो कृष्ण चरित्र लिखा था, और अब जो लिखा है, इन दोनों में उतना ही भेद है जितना आलोक और अंधकार में है। वयोवृद्धि, अनुसंधान का विस्तार और भावना का फल मत परिवर्तन है। जिसके मत का कभी परिवर्तन नहीं होता है वह अभ्रांत देवज्ञानविशिष्ट है या बुद्धिहीन और ज्ञानहीन है। जो काम सब करते हें, उसके करने में मुझे लज्जा क्यों होने लगी?

इस ग्रंथ में यूरोप के विद्वानों का मत मैंने कई जगह नहीं माना है। पर उनसे सहायता और पता नहीं मिला है ऐसा नहीं है। विलसन, गोल्डस्टूकर, म्यूर, के गुणों को मानने को मैं विवश हूँ। देशीय लेखकों में से हमारे देश के मुखोज्ज्वलकारी श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त, सी. आई. ई., श्रीयुत सत्यव्रत सामश्रमी और

---

* दूसरे संस्करण की।

महात्मा अक्षयकुमार दत्त का मैं कृतज्ञ हूँ। अक्षय वावू अच्छे संग्रहकार थे। महात्मा कालीप्रसन्न सिंह का मैं सवसे अधिक ऋणी हूँ। जहाँ महाभारत से उद्धृत करने की आवश्यकता हुई, वहाँ मैंने उनके भाषांतर से उद्धृत किया है। आवश्यकतानुसार मूल से उल्था मिला लिया है। दो चार जगह जहाँ बहुत वड़ा मत भेद जान पड़ा, वहाँ टिप्पणियाँ दे दी हैं। आवश्यकता के अनुसार स्थान विशेष को छोड़कर महाभारत के मूल श्लोक उद्धृत नहीं किए हैं, क्योंकि इस से ग्रंथ का कलेवर वहुत बड़ा हो जाता। हरिवंश और पुराणों से मूल ही उद्धृत कर दिया है। इन के भाषांतर का दोष मेरा है।

अंत में कहना यही है कि कृष्ण का ईश्वरत्व प्रतिपन्न करना इस ग्रंथ का उद्देश्य नहीं है। उन के मानव चरित्र की समालोचना करना ही मेरा उद्देश्य है। मैं उन्हें ईश्वर मानता हूँ—यह बात भी मैंने कहीं छिपाई नहीं है। किंतु पाठकों को वह मनाने के लिए मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया है।

बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय

अनुवादक का निवेदन

...मैंने पहले-पहल जिस समय 'कृष्ण चरित्र' पढ़ा था उसी समय इसे हिंदी में उल्था करना विचारा था। पर 'गृह कारज नाना जंजाल' के कारण इतने दिनों तक अपना विचार पूरा न कर सका। आनंद का विषय है कि इस वर्ष के बाद अब वह पूरा हुआ चाहता है।

कुछ लोग नासमझी के कारण भगवान् श्री कृष्णचंद्र पर कई प्रकार के दोष लगाते हैं। बङ्किम बाबू से यह नहीं सहा गया। इसी से बङ्किम बाबू ने बहुत खोज-ढूँढ़ के साथ 'कृष्ण चरित्र' लिख कर श्री कृष्णचंद्र को केवल निर्दोष ही नहीं वरन् आदर्श पुरुष सिद्ध करने का प्रयत्न किया और वह उसमें बहुत कुछ कृतकार्य्य भी हुए। यह पुस्तक मुझे इतनी पसंद आई कि कई स्थानों पर मतभेद होने पर भी इसका उल्था किए बिना मुझ से नहीं रहा गया।

मैं यह डंके की चोट कहूँगा कि भगवान् कृष्णचंद्र-सा सुंदर आदर्श जगत् में दूसरा न हुआ है और न किसी कवि ने उसकी कल्पना ही की है। यही बात समझाने के लिए बङ्किम बाबू ने 'कृष्ण चरित्र' की रचना बंगभाषा में की थी। मैंने भी इसी हेतु इसका हिंदी में उल्था किया है।...यदि इस पुस्तक से पाठकों का कुछ भी उपकार हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।...

97, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
कलकत्ता
होली, संवत् 1969 (1912)

निवेदक
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

अध्याय 1

उपक्रमणिका

I : ग्रंथ का उद्देश्य

भारतवर्ष के अधिकांश और बंगाल के समस्त हिंदू श्री कृष्णचंद्र को ईश्वर का अवतार मानते हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'—इस पर सबका दृढ़ विश्वास है। बंगाल में प्रायः सब जगह कृष्ण की उपासना होती है। गाँव-गाँव में कृष्ण के मंदिर हैं और घर-घर में कृष्ण की पूजा होती है। प्रायः प्रति मास कृष्ण का उत्सव होता है। प्रति उत्सव में कृष्ण की लीला होती है। सवके मुँह से कृष्ण के गीत और नाम सुनाई देते हैं। किसी के वस्त्र पर कृष्ण की नामावली है, तो किसी के शरीर ही पर कृष्ण के नामों की छाप है। कोई कृष्ण का नाम लिए विना घर से बाहर पैर नहीं रखता है और कोई कृष्ण का नाम लिखे बिना कुछ लिखता-पढ़ता नहीं है। भिखारी राधाकृष्ण का नाम लेकर भीख माँगते हैं। बत्ती जलाते समय भी 'हरे कृष्ण'—'राध-कृष्ण' कहते हैं। वन के पक्षी पालते हैं, तो उन्हें भी राधाकृष्ण के नाम रटाते हैं। तात्पर्य यह कि कृष्णचंद्र इस देश में सर्वव्यापक हो रहे हैं।[1]

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'—यदि हिंदुओं का यही विश्वास है तो सब समय कृष्ण की आराधना, कृष्ण के नामों का उच्चारण, कृष्ण की कथा का श्रवण धर्म का ही उन्नति-साधक है। ईश्वर को सदा स्मरण करने की अपेक्षा मनुष्यों के लिए और कौन मंगल कार्य है? पर अब प्रश्न यह है कि भगवान् को हम लोग क्या समझते हैं? यही कि वह बचपन में चोर थे और दूध, दही, मक्खन चुराकर खाया करते थे, युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुतेरी गोपियों के पातिव्रत्य धर्म को नष्ट किया था, प्रौढ़ावस्था में वञ्चक और शठ थे—उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिए थे। क्या इसी का नाम भगवन्-चरित्र है? जो केवल शुद्ध सत्व है, जिससे सब प्रकार की शुद्धियाँ होती हैं और जिसके नाम से अशुद्धि और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर के समस्त पापाचरण करना क्या भगवन्-चरित्र है?

सनातन धर्म के द्वेषी कहा करते हैं कि भगवन्-चरित्र की ऐसी कल्पना

करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर के किसी को कभी जय प्राप्त करते भी नहीं देखा है। मैं श्री कृष्ण को स्वयं भगवान मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ। अंग्रेजी शिक्षा से मेरा वह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है। पुराणों और इतिहास में भगवान् श्री कृष्णचंद्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है यह जानने के लिए मैंने जहाँ तक वना इतिहास और पुराणों का मंथन किया। इसका फल यह हुआ कि श्री कृष्णचंद्र के विषय में जो पाप कथाएँ प्रचलित हैं, वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्री कृष्ण के विषय में जो मनगढ़ंत बातें लिखी हैं, उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है, वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्व-पापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है। न किसी देश के इतिहास में है और न किसी काव्य में।

इस सिद्धांत पर मैं किस प्रकार पहुँचा यह बताना भी इस ग्रंथ का एक उद्देश्य है। परंतु इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ के और भी उद्देश्य हैं। मैं जो मानता हूँ वह मानने के लिए पाठकों से नहीं कहता। श्री कृष्ण का ईश्वरत्व संस्थापन करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस ग्रंथ में मैं उनके केवल मानवचरित्र की ही समालोचना करूँगा। आज कल हिंदू-धर्म के आंदोलन की कुछ प्रवलता है। धर्म आंदोलन की इस प्रबलता के समय कृष्ण-चरित्र की सविस्तार आलोचना की आवश्यकता है। यदि पुरानी वातें बनाए रखनी हैं तो एक बार देख लेना होगा कि यहाँ कौन बात रखने के योग्य है और कौन नहीं। और यदि पुरानी वातें बिल्कुल उठा देनी हैं तो भी कृष्ण चरित्र की आलोचना आवश्यक है, क्योंकि कृष्ण को उठाए बिना पुरानी बातें नहीं उठेंगी।

इसको छोड़ मेरा एक और बड़ा उद्देश्य है। इसके पहले मैं 'धर्मतत्व'[2] नाम की पुस्तक लिख चुका हूँ। उसमें मैंने जो कई बातें समझाने की चेष्टा की हैं वे संक्षेप में यह हैं :

(1) मनुष्य में कई शक्तियाँ हैं। मैंने उनका नाम वृत्ति रखा है। उनके अनुशीलन, विकास और चरितार्थ होने में ही मनुष्यत्व है। यही मनुष्य का धर्म है।

(2) वृत्तियों का आपस में सामंजस्य होना ही अनुशीलन की सीमा है। यही सुख है।

अब मैं स्वीकार करता हूँ कि एक ही मनुष्य में सब वृत्तियों का पूर्णरूप से अनुशीलन, विकास, चरितार्थता और सामंजस्य दुर्लभ है। इस विषय पर उसी पुस्तक में मैंने जो लिखा है वह भी यहाँ उद्धृत किए देता हूँ :

> शिष्य ने पूछा : ''ज्ञान में पांडित्य, विचार में दक्षता, कार्य में तत्परता, चित्त में धार्मिकता और सुरस में रसिकता आदि आने से ही तो मानसिक वृद्धि पूर्ण होगी। और फिर उसके बाद सब प्रकार की शारीरिक उन्नति होगी—अर्थात् शरीर बलिष्ठ, स्वस्थ तथा सब तरह के शारीरिक कार्य में सुदक्ष होना चाहिए।''
>
> ''ऐसा आदर्श कहाँ मिलेगा? ऐसा मनुष्य तो कभी नहीं देखा।''
>
> गुरु ने कहा : ''मनुष्य न देखा न सही, पर ईश्वर तो है। ईश्वर ही सर्वांगीन विकास और वृद्धि की पराकाष्ठा का एकमात्र उदाहरण है।''

और यह भी सच है कि उपासक का प्रथमावस्था में निराकार परमेश्वर आदर्श नहीं हो सकता, परंतु ईश्वर के अनुरूप मनुष्य, अर्थात् जिन लोगों में गुणों की अधिकता के कारण ईश्वरांश मालूम होता है, अथवा जो देहधारी ईश्वर प्रतीत होते हैं, वही आदर्श हो सकते हैं। इसीलिए ईसा मसीह क्रिस्तानों के और गौतम बुद्ध बौद्धों के आदर्श हैं। धर्म बढ़ाने वाला आदर्श जैसा हिंदू शास्त्रों में है, वैसा संसार के और किसी धर्म ग्रंथ में नहीं है—न किसी जाति में ही है। जनकादि राजर्षि, नारद आदि देवर्षि, वशिष्टादि ब्रह्मर्षि सबके सब अनुशीलन के परम आदर्श हैं। रामचंद्र, युधिष्ठिर, अर्जुन, लक्ष्मण, देवव्रत भीष्म प्रभृति क्षत्रिय इन से भी बढ़कर संपूर्णता प्राप्त आदर्श हैं। ईसा मसीह और गौतम बुद्ध केवल उदासीन, कोपीनधारी और निर्मोह धर्मवेत्ता थे। किंतु ये लोग वैसे नहीं हैं। ये सर्वगुण संपन्न हैं। इनकी सब वृत्तियों का सर्वांग सुंदर विकास हुआ है। ये सिंहासनासीन होकर भी उदासीन हैं। धनुर्धारी होकर भी धर्मवेत्ता हैं। राजा होकर भी पंडित हैं। शक्तिमान होकर भी प्रेममय हैं।

हिंदुओं का एक आदर्श और है जो सबसे बढ़ाचढ़ा है। उसके सामने सब आदर्श तुच्छ जान पड़ते हैं। यह वही आदर्श है जिससे युधिष्ठिर ने धर्म सीखा, स्वयं अर्जुन जिसका शिष्य हुआ, राम, लक्ष्मण जिसके अंशमात्र थे और जिसके चरित्र के समान महामहिमामय चरित्र मनुष्य भाषा में कभी वर्णित नहीं हुआ। मैं इसी तत्त्व को प्रमाण सहित प्रतिपन्न करने के लिए श्री कृष्ण चरित्र के वर्णन में प्रवृत्त हुआ हूँ।

II : कृष्ण चरित्र जानने के उपाय

अब यहाँ दो बड़ी आपत्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं। जिनका यह दृढ़ विश्वास है कि श्री कृष्णचंद्र भूमंडल पर वास्तव में अवतीर्ण हुए थे उनकी बात मैं छोड़े देता हूँ। सब पाठकों का वैसा विश्वास नहीं होगा। जिनका नहीं है वे पूछ सकते हैं कि कृष्ण चरित्र का आधार क्या है? कृष्ण नाम का कोई मनुष्य पृथ्वी पर कभी था, इसका क्या प्रमाण है? यदि था तो उसका चरित्र यथार्थ में कैसा था और उसके जानने के क्या उपाय हैं?

पहले मैं इन्हीं दोनों शंकाओं का समाधान करूँगा।

श्री कृष्ण का वृत्तांत नीचे लिखे प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है :

(1) महाभारत।

(2) हरिवंश।

(3) पुराण।

पुराण अठारह हैं। सब में कृष्ण का वृत्तांत नहीं है। केवल नीचे लिखे पुराणों में है :

(1) ब्रह्म पुराण।

(2) पद्म पुराण।

(3) विष्णु पुराण।

(4) वायु पुराण।

(5) श्रीमद्भागवत।

(6) ब्रह्मवैवर्त्त पुराण।

(7) स्कंद पुराण।

(8) वामन पुराण।

(9) कूर्म पुराण।

श्री कृष्ण की जीवनी के संबंध में महाभारत और उक्त अन्य ग्रंथों में बहुत फर्क है। जो वृत्तांत महाभारत में है वह हरिवंश तथा पुराणों में नहीं है! जो हरिवंश और पुराणों में है वह महाभारत में नहीं है। इसका एक कारण यह है कि महाभारत पांडवों का इतिहास है। कृष्ण पांडवों के सखा और सहाय थे। उन्होंने पांडवों के सहाय होकर या उनके संग रह कर जो काम किए हैं, बस वही महाभारत में है। और यही होना भी चाहिए। प्रसंगवश और भी दो चार बातें आ गई हैं। उनकी जीवनी का अवशिष्ट अंश महाभारत में न होने के कारण ही हरिवंश की

रचना हुई, यह हरिवंश में लिखा है। भागवत में भी यही बात लिखी है। व्यास ने नारद से महाभारत की इस न्यूनता की बात कही। नारद ने उन्हें कृष्ण चरित्र लिखने की सम्मति दी। इसलिए कृष्ण की जो बातें महाभारत में हैं वह भागवत में, हरिवंश में या और किसी पुराण में नहीं हैं। महाभारत में जो नहीं हैं—छूट गई हैं, वही उनमें हैं।

महाभारत सबसे पुराना है। हरिवंशादि इसके अभाव को पूर्ण करने वाले हैं। जो सबसे पहले बना उसी का सबकी अपेक्षा मौलिक होना संभव है। लोग कहते हैं कि महाभारत, हरिवंश तथा अष्टादश पुराण एक ही व्यक्ति के बनाए हैं। सब ही महर्षि वेदव्यास प्रणीत हैं। यह सत्य है या नहीं इसके विचार का अभी प्रयोजन नहीं। अभी प्रयोजन तो यह देखने का है कि महाभारत में कुछ ऐतिहासिकता है या नहीं। यदि न हो तो हरिवंश या पुराणों में ऐतिहासिक तत्त्व ढूँढ़ना वृथा है।

अभी जिस विचार में प्रवृत्त हूँगा उसमें दोनों ओर दो विपत्तियाँ हैं। एक ओर तो इस देश का यह प्राचीन संस्कार कि संस्कृत भाषा में जो कुछ लिखा है, जिसमें अनुस्वार विसर्ग लगे हैं, वह सब ही अभ्रांत ऋषिप्रणीत है और प्रतिवाद अथवा संदेहरहित सत्य हमारे सामने ला रखता है। वेद विभाग, लाख श्लोकों का महाभारत, हरिवंश, अष्टादश पुराणादि सब एक ही मनुष्य की कृति हैं। यह सब कलियुग के आरंभ में ही बने हैं, जिसे आज पाँच हजार वर्ष होते हैं। वेदव्यास जी ने जैसा बनाया था यह सब ठीक वैसे ही है। यदि कोई इस संस्कार के विरुद्ध कुछ कहे तो उसकी बात कोई नहीं सुनेगा—उलटे उसे लोग महापापी, नास्तिक और देशद्रोही समझने लगेंगे।

यह तो एक ओर की विपत्ति हुई। अब दूसरी ओर की सुनिए। यह और भी भारी है। यह है विलायत वालों का पांडित्य। यूरोप और अमेरिका के बहुत से विद्वानों ने संस्कृत पढ़ी है। वे लोग संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों से ऐतिहासिक तत्त्व निकालने में लगे हैं। पर पराधीन दुर्बल हिंदू भी किसी समय सभ्य थे और उनकी ही सभ्यता सबसे पुरानी है यह बात उन्हें बहुत खटकती है। दो चार के सिवा बाकी सब लोग प्राचीन भारतवर्ष के गौरव को घटाने में यत्नशील हो रहे हैं। ये लोग प्रयत्न करके यही सिद्ध करना चाहते हैं कि हिंदू धर्म के विरोधी बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त प्राचीन भारत के जो-जो ग्रंथ हैं वे सब ही आधुनिक हैं और उनकी बातें मिथ्या हैं या दूसरे देश की चुराई हुई हैं। कोई कहता है, कि रामायण होमर के काव्य की नकल है। कोई कहता है कि भगवत्गीता बाइबल

की छायामात्र है। कोई यही शंख बजाता है कि हिंदुओं का ज्योतिष चीन, यवन या कालडिया देश से आया है। गणितशास्त्र कहीं दूसरी जगह से लाया गया है। अक्षर इन्हें सीमी लोगों से मिले हैं। इन बातों को सिद्ध करने के लिए उनका मूलमंत्र बस यही है कि हिंदुओं के पक्ष में जितने भारतीय ग्रंथ मिलते हैं वे मिथ्या या क्षेपक हैं और जो उनके विपक्ष में मिलते हैं वे सब सत्य हैं। भारत के पांडव जैसे वीर पुरुषों की कथा मिथ्या है और पांडव कवि की कल्पना मात्र हैं। पर पांडव पत्नी द्रौपदी का पाँच पतियों से विवाह होना सत्य है, क्योंकि इससे सिद्ध हो जाता है कि पुराने भारतवासी असभ्य थे और उनमें स्त्रियों का बहुविवाह प्रचलित था। फर्गुसन साहब तो पुराने खंडहरों में स्त्रियों की नग्न मूर्तियाँ देखकर अटकल लगाते हैं कि भारत में पहले स्त्रियाँ कपड़ें नहीं पहनती थीं। इधर मथुरादि स्थानों में अपूर्व कारीगरी देखकर विलायती विद्वानों ने यह निश्चय कर लिया है कि यह सब ग्रीस देश के शिल्पियों के बनाए हुए हैं। वेवर साहब हिंदुओं के ज्योतिष की प्राचीनता जब किसी तरह उड़ा न सके, तब कहते हैं कि हिंदू चांद्र नक्षत्र-मंडल बेबिलन वालों से लाए हैं। पर बेबिलन वाले चांद्र नक्षत्र-मंडल का नाम भी नहीं जानते थे, यह बात वह साफ डकार गए हैं। ह्विटनी साहब कुछ प्रमाण दिए बिना ही वेवर साहब की पीठ ठोंक कर कहते हैं कि हाँ ठीक है, क्योंकि हिंदू ऐसे तीक्ष्णबुद्धि नहीं हैं कि वह अपनी बुद्धि से ऐसे-ऐसे काम करें।

इन महापुरुषों के मतों की आलोचना करने का कुछ प्रयोजन नहीं था, क्योंकि मैं अपने देशवालों के लिए यह पुस्तक लिख रहा हूँ, कुछ हिंदू द्वेषियों के लिए नहीं। परंतु दुःख का विषय यही है कि हमारी शिक्षित समाज में से बहुतेरे उनके ही मतों के मानने वाले हैं। ये लोग स्वयं कुछ सोचते विचारते नहीं। यूरोप वालों ने जो कुछ कह दिया बस उसे ही पत्थर की लकीर समझ बैठते हैं। मैं नहीं जानता कि शिक्षित समाज में से कोई इसे पढ़ेगा। पर मेरी आकांक्षा नहीं दुराकांक्षा यही है कि वह इसे पढ़ें। इसीलिए मैंने यूरोप वालों के विचारों का भी प्रतिवाद किया है। जिनके लिए विलायत की सब चीजें ही भली हैं, जो विलायत के पंडितों से लेकर कुत्तों तक की सेवा करते है, जो अपने देश के ग्रंथों का पढ़ना तो दूर देशी भिखारी को भीख भी नहीं देते हैं, उनके लिए मैं कुछ नहीं कर सकता। हाँ, शिक्षित संप्रदाय में जो सत्यप्रिय और देशभक्त हैं उनके ही लिए लिखता हूँ।

III : महाभारत की ऐतिहासिकता

कह चुका हूँ कि कृष्ण चरित्र जिन ग्रंथों में पाया जाता है महाभारत उनसे पहले

का है। पर क्या महाभारत पर भरोसा कर सकते हैं? महाभारत में क्या कुछ ऐतिहासिकता है? महाभारत को इतिहास कहते हैं, पर इतिहास कहने से क्या हिस्ट्री ही समझी जाती है? इतिहास किसे कहते हैं? आज कल तो कुत्ते-बिल्लियों के किस्से का भी नाम इतिहास रख दिया जाता है। पर वास्तव में इतिहास उसी का नाम है जिसमें पुरावृत्त अर्थात् प्राचीनकाल में जो हुआ है उसका वर्णन हो। इसके सिवा और कुछ इतिहास नहीं हो सकता :

धर्मार्थ काममोक्षाणा मुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

भारतवर्ष में प्राचीन ग्रंथों में केवल महाभारत अथवा रामायण ने ही इतिहास नाम पाया है। जब महाभारत और रामायण के अतिरिक्त और किसी ग्रंथ का नाम इतिहास नहीं है तब विचारना होगा कि इनमें विशेष ऐतिहासिकता है, इसी हेतु इनका नाम इतिहास हुआ है। यह सत्य है कि महाभारत में ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जो साफ असत्य, असंभव और अनैतिहासिक हैं। जो कथाएँ असत्य और अनैतिहासिक जान पड़ें उन्हें हम छोड़ सकते हैं, पर जिन कथाओं में ऐसी कुछ बातें नहीं हैं जो असत्य और अनैतिहासिक समझी जाएँ, उन्हें हम अनैतिहासिक समझकर क्यों छोड़ दें? सब जातियों के पुराने इतिहासों में ऐसी झूठी-सच्ची बातें मिल गई हैं। रोम के इतिहासवेत्ता लीवी आदि, यवन इतिहासज्ञ हैरोडीटस आदि तथा मुसलमानों के इतिहास लेखक फिरिश्ता वगैरह ऐतिहासिक वृत्तांतों में अस्वभाविक और अनैतिहासिक बातें मिला गए हैं। जब उनके ग्रंथ इतिहास माने जाते हैं तब बेचारे महाभारत ने ही क्या अपराध किया है जो वह इतिहास न माना जाए?

यह हम जानते हैं कि आधुनिक यूरोपवासी लीवी, हीरोडोटस प्रभृति इतिहास वेत्ताओं का आदर नहीं करते हैं, पर उनके ग्रंथों को अस्वभाविक समझ कर परित्याग भी नहीं करते। वे कहते हैं कि इन इतिहास लेखकों ने जिस समय का इतिहास लिखा है उस समय वे स्वयं नहीं हुए थे और न उस समय के किसी लेखक से इन्हें इतिहास लिखने में सहायता मिली है, इसलिए इनके ग्रंथों को सच्चा इतिहास समझकर उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है पर आगे चलकर सिद्ध किया जाएगा कि वर्णित घटनाओं के समकालीन होने के विषय में लीवी और हीरोडोटस के ग्रंथों की अपेक्षा महाभारत का दावा कहीं बढ़ा चढ़ा है। अभी कहना यही है कि यूरोप के आधुनिक समालोचक चाहे जो कहें, पर रोम और ग्रीस के प्राचीन निवासी लीवी और हीरोडोटस के ग्रंथों को अनैतिहासिक कभी

नहीं कहते। प्रत्युत कभी ऐसा समय भी आ सकता है जब गिब्बन या फ्रूड असामयिक समझे जाकर छोड़ दिए जाएँ। आजकल की समालोचक मंडली चाहे जो गीत गावे, पर लीवी या हीरोडोटस की सहायता के बिना रोम या ग्रीस का एक भी इतिहास आजतक नहीं बना है।

पाठक स्मरण रखें कि अनैसर्गिकता के आधिक्य से जो दोष होते हैं उनका ही यहाँ विचार हो रहा है। इस विषय में यूरोप वालों का अनुसरण ही यदि विद्या बुद्धि की पराकाष्ठा हो तो मैं भी यहाँ उस गौरव से वंचित नहीं हूँ। यूरोप वालों का कहना है कि भारतवर्ष की प्राचीन अवस्था जानने के लिए देशी ग्रंथों से कुछ सहारा नहीं मिलता है, क्योंकि उनकी बातें विश्वास के योग्य नहीं हैं। पर ग्रीस के लेखक मेगेसथिनिज और केसिअस की बातें बहुत विश्वास के योग्य हैं। इसी से यूरोप वालों का यकीन इनके ही ऊपर है। पर सच्ची बात यह है कि इन लेखकों की छोटी-मोटी पुस्तकों में जितनी अद्‌भुत, असत्य, अस्वाभाविक घटनाएँ भरी हैं उतनी महाभारत के एक लाख श्लोकों में भी नहीं हैं। इतने पर भी यूरोप वालों की पुस्तकें विश्वास योग्य इतिहास हैं और महाभारत नहीं। क्यों, क्या अपराध हुआ है महाभारत से?

अच्छा थोड़ी देर के लिए यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि इन सब विदेशी इतिहासों की अपेक्षा महाभारत में अस्वाभाविक घटनाओं की बहुत अधिकता है। पर उसमें जो स्वाभाविक और संभव बातें हैं उन्हें ग्रहण करने में तो कोई बाधा नहीं है। अन्य देश के प्राचीन इतिहासों की अपेक्षा महाभारत में काल्पनिक घटनाओं का जो कुछ आधिक्य है उसका विशेष कारण भी है। दो कारणों से इतिहास में अनैसर्गिक या मिथ्या घटनाएँ स्थान पाती हैं। पहला तो यह है कि लेखक दंत कथाओं को सत्य मानकर उनके भरोसे ग्रंथ लिखते हैं। दूसरा, ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने पर पिछले लेखक अपनी-अपनी रचनाएँ उसमें मिलाते चले जाते हैं। पहले कारण से सब देशों के प्राचीन इतिहास दूषित हुए हैं—महाभारत भी इस दोष से नहीं बचा होगा। पर दूसरे कारण का प्रभाव अन्य देशों के इतिहासों पर उतना नहीं पड़ा जितना महाभारत पर पड़ा है। इसके तीन कारण हैं : पहला कारण तो ये है कि अन्यान्य देशों में जब ये सब इतिहास बने थे, तब प्रायः उन सब देशों में लिखने की चाल चल पड़ी थी। लिखे हुए ग्रंथों में क्षेपक मिलाना उतना सहज नहीं है। वह तुरंत पकड़ा जा सकता है। पुरानी और नई लिखी पुस्तकें मिलाने से शुद्धा-शुद्ध का पता लग जाता है। भारत में पहले लिखने की चाल नहीं थी। जो नए ग्रंथ बनते थे वे कंठ कर लिए जाते थे। गुरु शिष्यों को सिखाते

थे और वे फिर अपने शिष्यों को बताते थे—बस इसी प्रकार गुरु-शिष्य परंपरा से ग्रंथों का प्रचार होता था। लिखने की चाल चलने पर भी यही दशा रही। इसी से क्षेपक मिलाने में बड़ी सुविधा रहती थी।

दूसरा यह है कि रोम, ग्रीस या और किसी देश में किसी इतिहास का उतना आदर नहीं हुआ जितना कि महाभारत का भारतवर्ष में हुआ। इसलिए भारतवर्ष के लेखकों को महाभारत में अपनी-अपनी रचनाएँ मिलाने का जो लालच था, वह अन्य देश-वालों को नहीं हुआ।

तीसरा, यह कि दूसरे देशों के लेखक यश अथवा और किसी कामना के वशीभूत होकर पुस्तकें लिखते थे। इसलिए अपने-अपने नाम से अपनी-अपनी पुस्तकें प्रकाश करना ही उनका उद्देश्य था। दूसरे की पुस्तक में अपनी रचना मिलाकर अपना नाम लोप करना वे कभी नहीं चाहते थे। पर भारतवर्ष के ब्राह्मण निःस्वार्थ और निष्काम होकर ग्रंथ रचना करते थे। लोकोपकार के अतिरिक्त और कुछ उनका अभीष्ट नहीं था। अनेक ग्रंथ प्रणेताओं के नाम तक नहीं हैं। ऐसे बहुत से अच्छे ग्रंथ हैं जिनके रचयिताओं के नाम आज तक अज्ञात हैं। ऐसे ही निष्काम लेखक लोकोपकार के विचार से अपनी-अपनी रचनाएँ महाभारत जैसे लोकप्रिय ग्रंथ में मिला देते थे।

इन कारणों से ही महाभारत में कल्पित कथाओं की बहुत अधिकता है। पर कल्पित कथाओं की अधिकता के कारण ही इस प्रसिद्ध इतिहास में कुछ भी ऐतिहासिकता नहीं है कहना नितांत असंगत है।

IV : महाभारत की ऐतिहासिकता

यूरोप वालों की संमतियाँ

ऐसे बहुत से लोग हैं जो महाभारत की ऐतिहासिकता उचित या अनुचित रीति से अस्वीकार करते हैं। ऐसा करने वाले यूरोप के विद्वान अथवा उनके शिष्य हैं। उनकी संक्षिप्त संमतियाँ यहाँ लिखता हूँ।

विलायती विद्वानों का यह एक लक्षण है कि वे लोग अपने देश में जैसा देखते हैं या समझते हैं, विदेश में भी वैसा ही है, वे मानते हैं। वे मूर के सिवा और किसी काली जाती को नहीं जानते थे इसलिए यहाँ आकर हिंदुओं को भी मूर कहने लगे। इसी तरह उन्होंने स्वदेश में एपिक काव्य के सिवा पद्य में आख्यान ग्रंथ नहीं देखा, अतएव महाभारत और रामायण को एपिक समझ लिया। जो काव्य है उसमें भला ऐतिहासिकता कहाँ? बस एक ही बात में मामला खत्म।

यूरोप वालों ने तो यह ढंग कुछ-कुछ छोड़ दिया है, पर उनके भारतीय शिष्यों ने अभी नहीं छोड़ा है।

साहब लोग महाभारत को काव्य क्यों कहते हैं, यह उन्होंने ठीक नहीं समझाया। पद्य में होने के कारण ही वे ऐसा कहते हों तो ठीक नहीं, क्योंकि सब प्रकार के संस्कृत ग्रंथ पद्य में ही हैं। विज्ञान, दर्शन, कोष, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र, सब ही पद्य में हैं। यह हो सकता है कि महाभारत का काव्यांश बड़ा सुंदर है। यूरोप वाले जिस प्रकार के सौंदर्य को एपिक काव्य का लक्षण बतलाते हैं वह इसमें बहुत है, इसी से वे इसे एपिक कहते हैं। किंतु विचार कर के देखने से इस प्रकार का सौंदर्य बहुतेरे विलायती मूल के इतिहासों में भी मिलेगा। अंग्रेजों में मेकौले, कारलाइल, फ्रूड, फ्रांसीसियों में लामार्तीन और मिशाला और ग्रीकों में थ्युसोडीडिस आदि के इतिहास ग्रंथों की भी वही दशा है। मानवचरित्र ही काव्य का श्रेष्ठ उपादान है। इतिहासकार भी मनुष्य चरित्र का वर्णन करते हैं। यदि वे अपने काम को भली भाँति संपादन कर सकें तो जरूर ही उनके इतिहास में काव्य का सौंदर्य आ जाएगा। सौंदर्य के कारण उक्त ग्रंथ अनैतिहासिक समझे जाकर छोड़े नहीं गए। फिर महाभारत ही क्यों छोड़ा जाए?

महाभारत में अधिक सौंदर्य होने का विशेष कारण भी है। मूर्खों की बात पर विशेष आंदोलन करना आवश्यक नहीं। पर पंडित यदि मूर्ख की तरह बात करे तो क्या करना चाहिए? विख्यात वेबर साहब विद्वान जरूर थे। परंतु मेरे विचार से उन्होंने जिस घड़ी संस्कृत पढ़ना आरंभ किया था वह भारतवर्ष के लिए शुभ नहीं थी। कल के जर्मनी के जंगलियों की संतानों को भारत का प्राचीन गौरव खटकता था। इसी से वे यही सिद्ध करने में सदा लगे रहते थे कि भारतवर्ष की सभ्यता बिलकुल नई है। ईसा मसीह के जन्म के पहले महाभारत था इसका प्रमाण उनकी समझ में कुछ नहीं है। इतनी भी प्राचीनता स्वीकार करने का एक यह कारण है कि क्रिसोस्टम नाम का एक यूरोपवासी भारतवर्ष आकर मल्लाह के मुँह से महाभारत की कथा सुन गया था। पाणिनि के सूत्र में महाभारत शब्द है, युधिष्ठिर आदि के नाम हैं। किंतु इससे भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। उनके जानते पाणिनि तो 'कल का छोकरा' है। पर एक यूरोपवासी के पवित्र कानों में घुसे हुए एक नाविक के वचनों की अवहेलना करना उनकी शक्ति के बाहर है। अतएव उन्होंने लाचार हो इतना अवश्य स्वीकार कर लिया है कि ईसवी सन् की पहली शताब्दी में महाभारत था।

मेगेस्थिनिज नाम का एक और लेखक है जो ईसवी सन के तीन या चार सौ साल पहले हुआ था। वह भारतवर्ष आकर चंद्रगुप्त की राजधानी में रहा था। उसने अपनी पुस्तक में महाभारत का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए वेबर साहब की राय है कि महाभारत उस समय नहीं था।[3] जर्मनी के विद्वानों ने जानबूझ कर यहाँ बेईमानी की है, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि मेगेस्थिनिज की भारत संबंधी पुस्तक अब नहीं मिलती है। केवल अन्यान्य ग्रंथकारों ने उससे जो-जो अंश अपने-अपने ग्रंथों में उद्धृत किए हैं उन्हें डाक्टर खानवेक ने संग्रह किया है। वही मेगेस्थिनिजकृत भारत वृत्तांत के नाम से प्रचलित है। उसके ग्रंथ का अधिक अंश तो मिलता ही नहीं है। इसलिए उसने महाभारत के बारे में कुछ लिखा था या नहीं, कहा नहीं जा सकता। वेबर साहब का भारतवर्ष से विद्वेष है, इसी से उन्होंने जानबूझ कर ऐसा लिखा है। उनके बनाए भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में भारतवर्ष के गौरव को घटाने की चेष्टा को छोड़कर और कुछ नहीं है। मेगेस्थिनिज ने महाभारत का नाम नहीं लिया इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उस समय वह नहीं था। बहुत से हिंदू जर्मनी हो आए हैं और उन्होंने पुस्तकें भी लिखी हैं, पर किसी में वेबर साहब का नाम नहीं है। इससे क्या यह सिद्ध होगा कि वेबर साहब कभी थे ही नहीं?

जो विद्वान वेबर साहब की कही बातें अस्वीकार करना नहीं चाहते हैं उनकी दो आपत्तियाँ हैं :

(1) महाभारत प्राचीन ग्रंथ है तो सही, परंतु यह ईसवी सन् के चार पाँच सौ साल पहले बना है, उसके पहले नहीं था।
(2) पहले महाभारत में पांडवों की कोई कथा नहीं थी, पांडव और कृष्ण कवि की कल्पना मात्र हैं।

यहां वालों का कथन बिलकुल इसके विपरीत है। ये कहते हैं कि कलि के आरंभ से कुछ ही पहले कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ था। उसी समय में वेदव्यास भी हुए थे। कलि के आते ही पांडवों ने स्वर्गारोहण किया। अतएव कलि के आरंभ में ही, अर्थात् आज से 4992 वर्ष पहले महाभारत बना।

दोनों का ही कहना घोर भ्रम से परिपूर्ण है। दोनों के कथन का खंडन आवश्यक है। इसके लिए कुरुक्षेत्र का युद्ध कब हुआ था पहले इसका निर्णय करना जरूरी है। इस का निर्णय हो जाने पर आप ही प्रगट हो जाएगा कि महाभारत कब बना और पांडवादि कवि की कल्पना मात्र हैं या नहीं। फिर यह भी मालूम हो जाएगा कि महाभारत विश्वास योग्य इतिहास है या नहीं।

V : कुरुक्षेत्र का युद्ध कब हुआ?

पहले अपने देश वालों के मत की ही समालोचना आवश्यक है। अब से 4992 साल पहले कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ यह बात सत्य नहीं है, यहाँ के ग्रंथों से ही यह सिद्ध कर दूँगा। राजतरंगिणीकार लिखते हैं कि कलि के 653 वर्ष बीतने पर गोनर्द काश्मीर का राजा हुआ। वह यह भी लिखते हैं कि गोनर्द युधिष्ठिर का समकालीन था और उसने 35 वर्ष राज्य किया। अब कल्यब्द में से प्रायः सात सौ वर्ष और घटाने से ईसवी सन् के 2400 वर्ष पहले का समय निकलेगा।

किंतु विष्णु पुराण में लिखा है :

सप्तर्षीणाञ्च यौ पूर्व्वौ दृश्येते उदितौ दिवि।
तयोस्तु मध्यनक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि।।
तेन सप्तर्षयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।
तेतु पारीक्षिते काले मघास्वासन् द्विजोत्तम।
तदा प्रवृत्तश्च कलिर्द्वादिशाब्दशतात्मकः।।

4 अं 24 अ 33। 34।

अर्थात् सप्तर्षि मंडल के जो दो तारे आकाश में पूर्व की ओर उदय होते हैं उनसे समानांतर बीच में जो नक्षत्र[4] दिखाई पड़ता है उसी में सप्तर्षि सौ वर्ष रहते हैं। परीक्षित के समय में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे। उस समय कलि को लगे बारह सौ वर्ष हुए थे।

इस हिसाब से कलि के 1200 वर्ष बाद परीक्षित का समय था। और ऊपर के 34 वें श्लोक के अनुसार ईसवी सन् के 1900 वर्ष पहले कुरुक्षेत्र का युद्ध होना चाहिए। परंतु 33 वें श्लोक से यह हिसाब नहीं मिलता। इस 33 वें श्लोक का तात्पर्य अति दुर्गम है। इसे विस्तारपूर्वक समझना पड़ेगा। सप्तर्षि मंडल कई स्थिर तारे हैं। इनका अंग्रेजी नाम ग्रेटबेअर या अरसामेजर है। मघा नक्षत्र भी कई स्थिर तारे हैं। यह सब जानते हैं कि स्थिर ताराओं की गति नहीं होती है। हाँ, विषुव की जरासी गति है। अंग्रेज ज्योतिर्विद उसको प्रिसेशन ऑफ दी इक्वीनोकसेज कहते हैं। यह गति हिंदू मत से प्रतिवर्ष 54 विकला है। प्रत्येक नक्षत्र में $13\frac{1}{3}$ अंश का अंतर है। इस हिसाब से किसी स्थिर तारे को एक नक्षत्र की परिक्रमा करने में एक हजार वर्ष लगते हैं, एक सौ नहीं। इसके सिवा सप्तर्षि मंडल मघा नक्षत्र में कभी रह नहीं सकता, क्योंकि मघा नक्षत्र सिंह राशि में है। राशि चक्र के भीतर बारह राशि हैं। सप्तर्षि मंडल राशि चक्र के बाहर है, जैसे

इंग्लैंड भारतवर्ष में नहीं हो सकता वैसे ही सप्तर्षि मंडल मघा नक्षत्र में नहीं हो सकता है।

पाठक पूछ सकते हैं कि तब पुराणकार ऋषि ने क्या भंग पीकर यह लिखा है? हम यह नहीं कहते, हम सिर्फ यही कहते हैं कि इस प्राचीन उक्ति का मतलब हमारी समझ के बाहर है। पुराणकार ने क्या समझ के ऐसा लिखा यह हम नहीं समझ सकते। पर पाश्चात्य विद्वान् वेन्ट्री साहब ने इसकी गणना करके युधिष्ठिर को ईसवी सन् के केवल 575 वर्ष पहले ला पटका है। अर्थात् उनकी राय में युधिष्ठिर गौतम बुद्ध के कुछ ही पहले हुए हैं। अमेरिका के विद्वान व्हीटनी साहब कहते हैं कि हिन्दुओं के ज्योतिष की गणना इतनी अशुद्ध है कि उससे किसी समय के निर्णय करने की चेष्टा करना वृथा है।

चाहे जैसे हो, कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय का तो निर्णय हो सकता है। अच्छा अब वही करता हूँ। पहले पुराणकार ऋषि के अभिप्राय के अनुसार ही गणना करके देखा जाए। वह कहते हैं कि युधिष्ठिर के समय सप्तर्षि मघा में थे। नंद महापद्म के समय पूर्वाषाढ़ में :

प्रयास्यन्ति यदा चैते पूर्वाषाढ़ां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति।। 4। 28। 39

श्रीमद्भागवत में भी यही बात है :

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढ़ां महर्षयः!
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिवृद्धिं गमिष्यति।। 12। 2। 32

मघा से पूर्वाषाढ़ दशम नक्षत्र है। यथा मघा, पूर्वा फालगुनी, उत्तरा फालगुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़। इसलिए युधिष्ठिर से नंद का 10 × 100=1000 वर्ष का अंतर है।

अच्छा अब दूसरा हिसाब लगाओ। यह सबकी समझ में आवेगा। विष्णु पुराण से जो श्लोक उद्धृत किया है उसके पहले का यह श्लोक है :

यावत् परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनं।
एतहर्ष सहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्।। 4। 24। 32

नन्द का पूरा नाम नन्द महापद्म है। विष्णु पुराण के इसी चौथे अंश के 24वें अध्याय में ही है : "महापद्मः तत्पुत्राश्च एकवर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति।

नवैव तान् नन्दान कोटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावें मौर्य्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चंद्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यत''। इसका अर्थ यह हुआ : महापद्म और उनके पुत्रगण सौ वर्ष तक राज्य करेंगे। कौटिल्य (चाणक्य) नाम का ब्राह्मण नंदवंशियों का नाश करेगा। उनके बाद मौर्य्यगण पृथ्वी का भोग करेंगे। कौटिल्य चंद्रगुप्त को राज्याभिषिक्त करेगा।

इसी से युधिष्ठिर के 1115 वर्ष बाद चंद्रगुप्त हुआ। चंद्रगुप्त बड़ा प्रसिद्ध सम्राट हुआ है। वह मकदूनिया के यवनराज सिकंदर और सिल्युकस का समकालीन था। उसने अपने बाहुबल से यवनों को भारतवर्ष से भगाया और प्रबल प्रतापी सिल्युकस को परास्त कर उसकी कन्या से ब्याह किया था। उस समय चंद्रगुप्त का जैसा प्रताप था वैसा वृथ्वी पर और किसी का नहीं था। कहते हैं कि वह निर्भय होकर सिकंदर के लश्कर में घुस गया था। सिंकदर ने सन् 325 ई. में भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। चंद्रगुप्त ने सन् 315 ई. में राज्य पाया था। इसलिए 315 में 1115 मिलाने से युधिष्ठिर का समय निकलेगा : 315+1115=1430। इस हिसाब से महाभारत का युद्ध ईसवी सन् के 1430 वर्ष पहले हुआ।

और पुराणों में भी यही बात है। पर मत्स्य और वायु पुराण में 1115 की जगह 1150 लिखा है। इससे 1865 वर्ष होते हैं।

कुरुक्षेत्र का युद्ध इसके बहुत पहले न होकर कुछ पीछे ही हुआ है। इसका एक अखंडनीय प्रमाण मिलता है। सब प्रमाणों का खंडन हो सकता है, पर ज्योतिष के प्रमाण का खंडन नहीं हो सकता—''चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ।''

सब जानते हैं कि साल में दो बार दिन और रात समान होते हैं। छः-छः महीने में ऐसा होता है। इसे विषुव कहते हैं। सूर्य इन दोनों दिन आकाश के जिन दो स्थानों में रहता है उनके नाम क्रांतिपात या क्रांतिपात-विंदु हैं। प्रत्येक के ठीक 90 अंश (डिग्री) के बाद अयन बदलता है। यहीं पहुँचकर सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण और उत्तरायण से दक्षिणायन होता है। महाभारत में लिखा है कि भीष्म की इच्छा मृत्यु हुई थी। इन्होंने शरशय्याशायी होकर कहा था कि मैं दक्षिणायन में नहीं मरूँगा, इससे सद्गति नही होगी। बस शरशय्या पर शयन कर उत्तरायण की प्रतीक्षा करने लगे। माघ में उत्तरायण होते ही उन्होंने प्राण त्याग दिए। प्राणत्याग के पहले भीष्म कहते हैं :

माघोऽयं समनुप्राप्ती मासः सौम्यो युधिष्ठिर।

उस समय माघ में ही उत्तरायण हुआ था। बहुत लोग समझते हैं कि अब भी माघ में ही उत्तरायण होता है, क्योंकि माघ के पहले दिन को उत्तरायण दिन और पूस के अंतिम दिन को मकर संक्रांति कहते हैं। पर अब यह नहीं होता। जब अश्विनी नक्षत्र के पहले अंश में क्रांतिपात हुआ था तब अश्विनी प्रथम नक्षत्र माना गया था। उस समय आश्विन में वर्ष का आरंभ होता था और माघ के पहले दिन उत्तरायण भी होता था। इस प्रकार की गणना अब तक होती चली आ रही है। फसली सन् अब भी पहले आश्विन से शुरू होता है, पर अब अश्विनी नक्षत्र में क्रांतिपात नहीं होता। और न पहले माघ को पहले की तरह उत्तरायण ही होता है। अब पूस के 7वीं या 8वीं तारीख (21 दिसंबर) को उत्तरायण होता है। इसका कारण यह है कि क्रांतिपात विंदु की एक गति है। इसी गति में क्रांतिपात होता है। इसलिए अयन के बदलने का स्थान भी प्रति वर्ष पीछे हो जाता है। इसी का नाम Precession of the Equinoxes अर्थात् 'अयनचलन' है।

यह कितना पीछे हो जाता है इसका भी परिमाण है। पहले कहा जा चुका है कि यह परिमाण हिंदूमत से वर्ष में 54 बिकला है। पर इसमें तनिक सी भूल है। ईसवी सन् के 172 वर्ष पहले ग्रीस के ज्योतिषी हिपार्कस ने क्रांतिपात से 174 अंश पर चित्रा नक्षत्र देखा। मस्केलाईन ने 1802 ई. में चित्रा को 201 अंश, 4 कला, 4 विकला पर देखा था। इससे हिसाव लगाकर देखा जाता है कि क्रांतिपात की वार्षिक गति साढ़े पचास बिकला है। फ्रांस का प्रसिद्ध ज्योतिर्विद लेवेरीएर किसी और कारण से 5024 बिकला और स्टाकवेल 50 438 बिकला बताते हैं। यही हिसाव पहले हिसाब से मिलता है। इसलिए इसे ही ग्रहण करना चाहिए।

भीष्म की मृत्यु के समय भी माघ में उत्तरायण हुआ था पर सौर माघ के[5] किस दिन यह लिखा नहीं है। पूस माघ में सदैव 28 या 29 दिन होते हैं। इन दो महीनों में 57 दिनों से अधिक नहीं होते। पर यह हो नहीं सकता कि उस समय माघ के अंतिम दिन में ही उत्तरायण हुआ था। अगर ऐसा होता तो 'माघोऽयं समनुप्राप्तः' यह बात नहीं कही जाती। 28 माघ को उत्तरायण होने पर भी अब से 48 दिन का अंतर पड़ता है। 48 दिनों में सूर्य की गति लगभग 48 अंश हो सकती है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि सूर्य की शीघ्र और मंद दोनों गतियाँ हैं। 7 पूस से 29 माघ तक बंगला पंचांग के अनुसार केवल 44 अंश, 4 कला गति होती है। यह 44 अंश, 4 कला मान लेने से ईसवी सन् से 1263 वर्ष पहले होते हैं। 48 अंश पूरे मानने से 1530 होते हैं। इससे पहले कुरुक्षेत्र का युद्ध कभी नहीं हो सकता। विष्णु पुराण के अनुसार ईसवी सन् के 1430 वर्ष पहले

इसका होना सिद्ध होता है। और यही ठीक भी है।

आशा है इन सब प्रमाणों को देखकर अब कोई नहीं कहेगा कि महाभारत का युद्ध द्वापर के अंत में पाँच हजार वर्ष पहले हुआ था। अगर ऐसा होता तो सौर चैत्र में उत्तरायण होता। चांद्र माघ कभी सौर चैत्र में नहीं हो सकता।

VI : पांडवों की ऐतिहासिकता : यूरोपीय मत

महाभारत के युद्ध के समय के वारे में यूरोप वालों के साथ हमारा कोई ऐसा बड़ा मतभेद नहीं है जिससे कुछ हानि होती हो। कोलब्रुक साहब ने हिसाब लगाया है कि ईसवी सन् के पहले चौदहवीं शताब्दी में यह युद्ध हुआ था। विलसन साहब की भी यही राय है। एलफिन्स्टन साहब ने इसे माना है। विलफोर्ड कहते हैं कि ईसवी सन् के 1370 वर्ष पहले युद्ध हुआ था। बुकानन तेरहवीं शताब्दी बताते हैं और प्रैट साहब वारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में होना लिखते हैं। इसके प्रतिवाद की कुछ जरूरत नहीं। यह मैं पहले कह चुका हूँ कि यूरोप वाले महाभारत को ईसवी सन् की चौथी या पाँचवीं शताब्दी का बना बताते हैं और कहते हैं कि मूल महाभारत में पांडवों का कुछ उल्लेख नहीं था। पांडवों की कथाएँ क्षेपक हैं, यह पीछे से जोड़ी गई हैं।

यदि यह दूसरी बात ठीक हो तो महाभारत कब बना था, इसका निर्णय करने की कुछ जरूरत नहीं रहती। फिर महाभारत चाहे जब बना हो उसमें कृष्ण संबंधी जितनी बातें हैं वे सब ही मिथ्या हैं। क्योंकि महाभारत में श्री कृष्ण की जो बातें हैं वे पांडवों से विशेष संबंध रखती हैं। इसलिए पहले यह देखना उचित है कि इसमें सत्य का कुछ लेश है या नहीं।

पहले लासेन साहब को ही लीजिये, क्योंकि यह जर्मनी के बड़े प्रतिष्ठित विद्वान हैं। यह कहते हैं कि महाभारत चाहे जब बना हो पर इसमें ऐतिहासिकता है। यह महाभारत के युद्ध को कुरु-पाञ्चाल का युद्ध मानते हैं और पांडवों को केवल कवि की कल्पना। वेबर ने भी यही माना है। सर मोनियर विलियम्स, बाबू रमेशचंद्र दत्त आदि इसी मत के अवलंबी हैं। अब इनके मत का सारांश लिखता हूं।

कुरु नाम का एक राजा था। पुराण, इतिहास देखने से मालूम होता है कि कुरु वंश वाले कुरु या कौरव कहलाते हैं। उनके अधिकार में जो देश थे उनके अधिवासी भी इसी नाम से पुकारे जा सकते हैं। कुरु शब्द से कौरवाधिकृत जनपद वासी समझे जाते हैं। पांचाल दूसरे जनपद के वासी हैं। इसी अर्थ में पांचाल

शब्द महाभारत में व्यवहृत हुआ है। ये दोनों जनपद एक दूसरे के निकट थे। उत्तर-पश्चिम में जितने जनपद थे महाभारत के युद्ध के पहले उनमें इन दोनों की ही प्रधानता थी। मालूम होता है किसी समय ये दोनों मिलजुल कर रहते थे। क्योंकि कुरु-पांचाल पद वैदिक ग्रंथों में पाया जाता है। पीछे दोनों में विरोध खड़ा हुआ। इसका परिणाम महाभारत का युद्ध है। इस युद्ध में कौरव पांचाल से पराजित हुए थे।

यहाँ तक तो आपत्ति की कुछ बात नहीं है। बल्कि इससे मेरी पूरी सहानुभूति है। वास्यत में कौरवों के असल विपक्षी पांचाल ही हैं। कौरवों से युद्ध करने वाली सेना का नाम महाभारत में पांचाल अथवा पांचाल और सृञ्जय[6] लिखा है। पांचाल के राजकुमार धृष्टद्युम्न उस सेना के अधिपति थे। पांचाल के राजपुत्र शिखंडी ने ही कौरवों के प्रधान भीष्म का वध किया था। पांचाल के राजा के पुत्र धृष्टद्युम्न ने कौरवाचार्य द्रोण के प्राण लिए थे। यदि यह युद्ध प्रधानतः धृतराष्ट्र पुत्र और पांडु पुत्र में होता तो यह कौरव-पांडवों का युद्ध नहीं कहलाता। क्योंकि पांडव भी तो कुरु ही हैं। यदि कौरव-पांडवों में यह युद्ध होता तो इसका नाम धार्त्तराष्ट्र पांडव का युद्ध पड़ता। भीष्म और कौरवाचार्य द्रोण तथा कृप का धृतराष्ट्र के पुत्रों से जो संवंध था वही पांडवों से भी था। उनका स्नेह भी दोनों पर समान ही था। यदि यह युद्ध धृतराष्ट्र के पुत्रों और पांडवों में होता तो वे लोग दुर्योधन के साथ होकर पांडवों का अनिष्ट कभी नहीं करते, क्योंकि वे लोग धर्मात्मा और न्यायपरायण थे। महाभारत में लिखा है कि कुरु पांचाल का विरोध पांडवों के बालिग होने के पहले से ही चल रहा था। यह भी उसी में लिखा है कि द्रोणाचार्य की अध्यक्षता में पांडव और धृतराष्ट्र के पुत्रादि कौरवों ने मिलकर पांचाल राज्य पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को पराजित कर नीचा दिखाया।

यह मैं स्वीकार करता हूँ कि महाभारत का युद्ध मुख्यकर कुरु और पांचालों में ही हुआ था। पर यूरोप के विद्वान् जिस सिद्धांत पर पहुँचे हैं यह मैं स्वीकार नहीं कर सकता। ये लोग कहते हैं कि महाभारत का युद्ध कुरु और पांचाल में हुआ था। पांडव न कभी हुए और न थे—यह कपोलकल्पित हैं। अपने इस सिद्धांत का ये लोग हेतु भी वताते हैं। उन हेतुओं की समालोचना पीछे करूँगा। अभी यही समझाना चाहता हूँ कि कुरु और पांचालों में युद्ध हुआ था, वस इसी कारण से पांडव नहीं थे यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। पांचाल के राजा पाण्डवों के ससुर थे इसलिए धृतराष्ट्र के लड़कों पर पांचाल राज्य के आक्रमण करने से पांडवों का अपने ससुर की ओर से लड़ना ही संभव है। पांडवों का जीवनवृत्तांत यह

है—कौरवाधिपति विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे—धृतराष्ट्र और पांडु[7]। धृतराष्ट्र बड़ा पर अंधा था। अंधा होने के कारण वह राज्य का अधिकारी न हो सका। पांडु राजा हुआ। पीछे पांडु राज्यच्युत हो बनवासी हुआ। धृतराष्ट्र का राज्य फिर धृतराष्ट्र के हाथ में पहुँचा। इसके बाद पांडु के पुत्रों ने बालिग होकर राज्य लेने की इच्छा प्रकट की। बस धृतराष्ट्र और उसके लड़कों ने पांडवों को निकाल बाहर किया। पांडव वन-वन भटकते हुए पांचाल पहुँचे। वहाँ पांचाल के राजा की कन्या से उनका विवाह हो गया। फिर उन्होंने प्रवल प्रतापी यादवों के नेता श्री कृष्ण तथा अपने ससुर और मामा के लड़के की सहायता से इंद्रप्रस्थ में नया राज्य स्थापित किया। अंत में वह भी धृतराष्ट्रों के हाथ में चला गया।

पांडव पुनः वनवासी हुए। अव के इन्होंने विराट के साथ मित्रता और संबंध किया। पीछे पांचालों ने कौरवों पर आक्रमण किया। पहली शत्रुता के प्रतिशोध के लिए यह आक्रमण था। पांडवों को राज्य दिलाने के लिए भी था या नहीं, ठीक नहीं कहा जा सकता। जो हो, पांचालाधिपति जब युद्ध के लिए तैयार हो गए तब पांडवों का उनकी ओर से कौरवों के साथ लड़ना ही संभव है।

कह चुका हूँ कि यूरोप के विद्वान् पांडवों का अस्तित्व नहीं मानते हैं। वे लोग इसका कारण भी बताते हैं। एक तो यह कि उस समय के किसी ग्रंथ में पांडवों के नाम नहीं मिलते हैं। हिंदू उत्तर में कह सकते हैं कि यह महाभारत भी तो उस समय का ग्रंथ है, अब और क्या चाहिए। उस समय तो इतिहास लिखने की चाल नहीं थी जो किसी ग्रंथों में उनके नाम मिलें। यूरोप वाले कह सकते हैं कि शतपथ ब्राह्मण उनके थोड़े दिनों बाद का ग्रंथ है! उसमें धृतराष्ट्र, परीक्षित और जन्मेजय आदि के नाम हैं, किंतु पांडवों के नाम नहीं हैं। बस, सिद्ध हो गया कि पांडव नहीं थे।

भारत के प्राचीन राजाओं के बारे में ऐसा सिद्धांत नहीं हो सकता है। भारत के किसी ग्रंथ में मकदूनिया के सिकंदर का नाम तक नहीं है। पर उसने भारतवर्ष में आकर जो लीला की थी वह कुरुक्षेत्र के युद्ध के समान ही थी। इससे क्या यह सिद्धांत निकालना होगा कि सिकंदर नाम का कोई आदमी कभी नहीं हुआ और ग्रीस के इतिहासवेत्ताओं ने उसके संबंध में जो कुछ लिखा है वह कवि की कल्पना मात्र है? भारत के किसी ग्रंथ में महमूद गजनवी का नाम नहीं मिलता है तो क्या इससे यह समझना होगा कि महमूद मुसलमानों की कल्पना मात्र है? बंगाल के साहित्य में बख्तियार खिलजी का नाम भी नहीं है। तो क्या इसे भी

कपोलकल्पित समझना होगा? अगर नहीं, तो महाभारत क्यों अविश्वास के योग्य होगा?

वेबर साहब कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में अर्जुन शब्द है, लेकिन वह इंद्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, किसी पांडव के अर्थ में नहीं। इसलिए पांडव-अर्जुन मिथ्या कल्पना है। पर मेरी बुद्धि में यह बात नहीं घुसती। इंद्र के अर्थ में अर्जुन शब्द का व्यवहार हुआ है इसलिए अर्जुन नाम का कोई मनुष्य कभी नहीं हुआ, यह सिद्धांत समझ में नहीं आता है। यह बात हँसी में उड़ा दी जा सकती थी पर वेबर साहब संस्कृत के विद्वान हैं और उन्होंने वेद छपवाये हैं! और हम लोग हिंदुतानी हैं, तिस पर वज्र मूर्ख, भला उनकी बात हँसकर उड़ा देना क्या हमारे लिए धृष्टता का काम नहीं है? खैर, तो भी मैं जरा समझाता हूँ। शतपथ ब्राह्मण में अर्जुन नाम है, और फाल्गुन नाम भी है। अर्जुन जैसे इंद्र और मझले पांडव दोनों का नाम है वैसे ही फाल्गुन भी दोनों का नाम है। इंद्र का नाम फाल्गुन है क्योंकि इंद्र फल्गुनी नक्षत्र के अधिष्ठात्रृ देवता[8] हैं। अर्जुन का नाम भी फाल्गुन है, क्योंकि उन्होंने फल्गुनी नक्षत्र में जन्म लिया था। शायद इंद्राधिष्ठित नक्षत्र में जन्म लेने के कारण ही वह इंद्र पुत्र कहलाते हैं। इंद्र के औरस से उनका जन्म हुआ है, इस बात का कोई शिक्षित पाठक विश्वास नहीं करेगा। फिर अर्जुन शब्द का अर्थ शुक्ल है। न मेघों के देवता इंद्र ही शुक्ल हैं, और न मेघ वर्ण अर्जुन ही शुक्ल वर्ण है। दोनों ही निर्मल, कर्मवीर, शुद्ध और पवित्र हैं, इसलिए दोनों ही अर्जुन हैं। इंद्र का नाम अर्जुन है, यह शतपथ ब्राह्मण में लिखा है : ''अर्जुनो व इंद्रों यदस्य गुह्यम् नाम''। अर्जुन इंद्र का गुह्य नाम है! इससे क्या यह नहीं मालूम होता कि अर्जुन नाम का दूसरा मनुष्य था और उसकी महिमा बढ़ाने के अभिप्राय से इंद्र के संग उसकी समानता करके कहा गया है कि अर्जुन इंद्र का एक गुप्त नाम है? वेबर साहब ने गुह्य का अर्थ mystic कर लोगों को मूर्ख बनाया है।

दिल्लगी की एक और बात सुनिए। अर्जुन एक वृक्ष का भी नाम है। और उसका नाम फाल्गुन भी है। इसका फूल उजला होता है, इसलिए इसका नाम अर्जुन है। यह फाल्गुन में फूलता है, इसलिए इसका नाम फाल्गुन है। अब मैं विनयपूर्वक यह पूछता हूँ कि इंद्र का नाम अर्जुन तथा फाल्गुन है, इसलिए क्या यह समझना चाहिए कि अर्जुन वृक्ष न है और न कभी था? पाठक चाहे

जो समझें पर मैं तो महामहोपाध्याय वेबर साहब की जय जयकार ही करता हूँ।

विलायती विद्वान् कहते हैं कि ललित विस्तर में पांडवों के नाम अवश्य मिलते हैं, पर ये पांडव जंगली चोरों के सिवा और कोई नहीं थे। हम लोगों के विचार में यह बात नहीं आती है कि पांडु के पाँचों पुत्र पांडव कभी संसार में नहीं थे। बंगला साहित्य की एक-आध पुस्तक में जहाँ कहीं फिरंगी शब्द आया है उसका अर्थ होता है, यूरेशियन या यूरोपियन (अधगोरे या गोरे)। Frank शब्द कहीं नहीं मिलता, और न इस अर्थ में फिरंगी शब्द ही व्यवहृत हुआ है। इससे यदि मैं यह सिद्धांत निकालूँ कि Frank जाति कभी नहीं थी, तो मैं भी उसी भ्रम में पड़ जाऊँगा जिसमें यूरोप के विद्वान् और उनके शिष्य पड़ चुके हैं[9]।

लासेन साहब के मत की समालोचना अभी बाकी है। वह कहते हैं कि कौरव-पांडवों का युद्ध ऐतिहासिक है। महाभारत में बस इतनी ही ऐतिहासिकता है। किंतु कौरव-पांडवों पर उनका विश्वास नहीं है। उनका कहना है कि अर्जुनादि सब रूपक मात्र हैं। अर्जुन शब्द का अर्थ श्वेत वर्ण है, इसलिए जो आलोकमय है वही अर्जुन है। अंधकार कृष्ण है, कृष्ण भी वही है। पांडवों की अनुपस्थिति में जिसने राज्य किया वही धृतराष्ट्र है। पाँचों पांडव पांचाल देश की पाँच जातियाँ हैं, और पांचाली के संग उनका व्याह पाँचों जातियों का बस एकीकरण है। जो भद्र अर्थात् मंगल करने वाली है वही सुभद्रा है। अर्जुन की यदुवंशियों के साथ मित्रता ही सुभद्रा हैं, इत्यादि, इत्यादि।

मैं स्वीकार करता हूँ कि हिन्दुओं के वेद, शास्त्र इतिहास, पुराण, काव्य आदि सब में रूपक की अधिकता है। रूपक बहुत हैं। मुझे इस ग्रंथ में बहुतेरे रूपकों की चर्चा चलानी पड़ेगी। किंतु मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि हिंदू शास्त्रों में रूपक ही रूपक हैं—रूपक के सिवा उनमें कुछ नहीं है।

मैं यह भी जानता हूँ कि संस्कृत साहित्य या शास्त्रों में रूपक हो चाहे नहीं पर उन्हें रूपक बनाकर उड़ा देना बहुत आदमी पसंद करते हैं। राम के नाम में रम् धातु और सीता के नाम में सी धातु है, इसलिए रामायण कृषि कार्य का रूपक है। जर्मनी के विद्वान् इसी तरह दो चार धातुओं का सहारा लेकर ऋग्वेद के सब सूत्रों को सूर्य और मेघों का रूपक बताते हैं। मालूम होता है कि चेष्टा करने से संसार में जो कुछ है वह रूपक बनाकर उड़ा दिया जा सकता है। मुझे याद है कि मैंने एक वार दिल्लगी में नवद्वीप के विख्यात राजा कृष्णचंद्र को रूपक

बना गायब कर दिया था। आप लोग कह सकते हैं कि वह अभी उस दिन हुए हैं, उनकी राजधानी, राजपुरी राजवंश सब कुछ विद्यमान है। इतिहास में भी उनका नाम है, वह भला कैसे गायब किए जा सकते हैं? इसका उत्तर यह हो सकता है कि कृष्ण का अर्थ अंधकार–तम है। कृष्ण नगर में अर्थात् अंधकारपूर्ण स्थान में उसकी राजधानी है, उके छः लड़के हैं, अर्थात् तमोगुण से छः शत्रुओं की उत्पत्ति हुई है। एक रोज एक बालक ने पलासी के युद्ध का यह रूपक वनाया था–पलभर (क्षणभर) उद्भासित (निकली हुई) है जो असि (तलवार) वह क्लीवगुणयुक्त (नपुंसक) क्लाइव द्वारा चलाई जाने से सुराजा अर्थात् जो उत्तम राजा (सिराज्जुद्दौला) था वह पराजित हुआ। रूपक की कमी नहीं है। और इस बालक के रूपक में और लासेन साहेब के रूपक में कुछ विशेष अंतर मालूम नहीं होता है। मैं चाहूँ तो लस् धातु से स्वयं लासेन साहेब के नाम को व्युत्पत्ति कर उनकी ऐतिहासिक गवेषणा को खेल सिद्ध कर सकता हूँ।

भारतवर्ष के इतिहास के लेखक टलबौयज ह्वीलर साहब का भी एक सिद्धांत है। बड़े-बड़े बहे जांय गदही कहे कितना पानी। जब वेबर का ही ठिकाना नहीं तब ह्वीलर बेचारे को कौन पूछता है? आप फर्माते हैं कि हाँ (महाभारत में) कुछ ऐतिहासिकता है सही पर वह स्वल्प मात्र है : "The adventures of the Pandavas in the jungle, and their encounters with Asuras and Rakshasas are all palpable fictions, still they are valuable as traces which have been left in the minds of the pople of the primitive wars of the Aryans against the Aborigines".

ह्वीलर साहब न संस्कृत जानते और न उन्होंने कभी महाभारत ही पढ़ा है। उनके अवलंब बाबू अविनाशचंद्र घोष नाम के कोई सज्जन हैं। साहब ने अविनाश बाबू से महाभारत का उल्था करने के लिए अनुरोध किया। अविनाश बाबू मसखरे थे, इसमें संदेह नहीं। उन्होंने काशीदास के महाभारत का कितना उल्था किया मैं कह नहीं सकता लेकिन ह्वीलर साहब ने चंद्रहास और विषया के उपाख्यानों को मूल महाभारत का अंश बताया है। ऐसे लेखकों के मत का प्रतिवाद करना पाठकों का समय वृथा नष्ट करना है। सारांश यह कि महाभारत का जो अंश मौलिक है, उसकी बातों को और उसमें लिखे हुए पांडवादि के नामों को जो कल्पित समझते हैं, उन्होंने इसके लिए कोई उपयुक्त कारण अब तक नहीं बताए हैं। जो कुछ बताए हैं वह किसी काम के नहीं। ऐसे सब आदमियों के मतों का प्रतिवाद करने के लिए इस पुस्तक में स्थान नहीं है। मैं जानता हूँ कि महाभारत में बहुत

क्षेपक हैं, पर पांडवादि के संबंध की सब बातें प्रक्षिप्त नहीं हैं। इन्हें प्रक्षिप्त समझने का कोई कारण भी नहीं है। इनके ऐतिहासिक होने के जो कारण कहे हैं वे यदि यथेष्ठ न हों तो अगले परिच्छेद में और भी कुछ कहूँगा।

VII : पांडवों की ऐतिहासिकता

पाणिनि ने सूत्र बनाया है—महान् व्रीह्यपराङ्कगृष्टीष्वासजावालभारभारतहैलिहिलरौरव प्रवृद्धेषु (6। 2। 38), अर्थात् व्रीहि इत्यादि शब्द पूर्व महत् शब्द युक्त होता है। इन शब्दों में एक शब्द भारत भी है। इससे पाणिनि में महाभारत शब्द का होना सिद्ध हुआ। प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ के सिवा और किसी वस्तु का नाम महाभारत था इसका प्रमाण कुछ नहीं है। वेबर साहब कहते हैं कि यहाँ महाभारत का अर्थ भरत वंश है। यह उनकी केवल धींगाधींगी है। ऐसा प्रयोग कहीं नहीं है।

पाणिनि का सूत्र है—"गवियुधिभ्यां स्थिरः" (8। 3। 95) गवि युधि शब्द के परे स्थिर शब्द के स की जगह ष होता है। जैसे गविष्ठिरः, युधिष्ठिरः। फिर—"बह्वच इञ प्राच्यभरतेषु।" (2। 4। 99)। भरत गोत्र का उदाहरण "युधिष्ठिराः"[10] है। फिर सूत्र है—"स्त्रियामवन्तिकुन्तिकु।" (4। 1। 176)। इसमें 'कुंती' मिली। फिर—"वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।" (4। 3। 98), अर्थात् वासुदेव और अर्जुन शब्दों के परे षष्ठी अर्थ में होता है। पुनश्च "मभ्राणन पान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु।" (6। 3। 75)। इसमें 'नकुल' का भी पता लग गया। "द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम्" (4। 1। 103)। इसमें 'द्रौणायन" शब्द मिल गया। द्रौणायन शब्द से अश्वत्थामा के सिवा और किसी का बोध नहीं होता है। इसी प्रकार पाँचों पांडवों के नाम और कुंती, द्रोण, अश्वत्थामा, आदि के नाम पाणिनी सूत्रों में पाए जाते हैं।

महाभारत ग्रंथ का नाम और उसके नायकों के नाम पाणिनि में मिल गए तब सिद्ध होता है कि उस समय भी महाभारत पांडवों का इतिहास था। अब पाणिनि कब हुए यह देखना है। भारत द्वेषी वेबर साहब ने पाणिनि को आधुनिक सिद्ध करने की चेष्टा की है, पर यहाँ उनकी कुछ चली नहीं। स्वयं गोल्डस्टूकर साहब ने पाणिनि के अभ्युदय का समय निर्णीत किया है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह यहाँ लिखने के लिए स्थान नहीं है, लेकिन बाबू रजनीकांत गुप्त ने उनके ग्रंथ का सारांश बंगला में संग्रह किया है, इसलिए यहाँ उनके लिखे बिना भी काम चल जाएगा। जो बंगला पुस्तक पढ़ने से घृणा करते हैं, वह गोल्डस्टूकर साहब का अंग्रेजी ग्रंथ पढ़ लें। उनके विचार में पाणिनि बहुत प्राचीन हैं। इससे वेबर साहब बहुत दुःखी हुए हैं। उन्होंने गोल्डस्टूकर साहब का प्रतिवाद भी किया

है, और लज्जा परित्याग कर अपनी जयपताका उड़ाई है। पर और कोई कुछ नहीं कहता।

गोल्डस्टूकर साहब ने सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि के सूत्र जिस समय बने उस समय बुद्धदेव का[11] आविर्भाव नहीं हुआ था। इससे पाणिनि अंततः ईसवी सन् के छः सौ वर्ष पहले हुए। केवल यही नहीं, उस समय ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद प्रभृति वेदांश भी प्रणीत नहीं हुए थे। ऋक, यजु, साम संहिता को छोड़ और कुछ नहीं बना था। अश्वलायन, सांख्यायन, प्रभृति का भी अभ्युदय नहीं हुआ था। मोक्षमूलर कहते हैं कि ब्राह्मण के प्रणयन का समय ईसवी सन् के हजार वर्ष पहले आरंभ हुआ है। डाक्टर मार्टीन हौग कहते हैं नहीं, उस समय अंत हुआ है– आरंभ ईसवी सन् के चौदह सौ वर्ष पहले हुआ था। इस हेतु पाणिनि का समय ईसवी सन् के एक हजार या ग्यारह सौ वर्ष से पहले कहा जाए तो अधिक नहीं है।

मोक्षमूलर, वेबर प्रभृति बहुत से आदमी गोल्डस्टूकर साहब के मत के खंडन करने में लगे हैं, पर वह किसी प्रकार खंडित नहीं होता है। अतएव आचार्य का यह मत ग्रहण किया जा सकता है। हाँ यह निश्चय है कि ईसवी सन् के हजारों वर्ष पहले युधिष्ठिरादि के वृत्तांत का महाभारत प्रचलित था। इतना प्रचलित था कि पाणिनि को महाभारत और युधिष्ठिरादि की व्युतपत्ति लिखनी पड़ी। और यह भी संभव है कि उनके बहुत पहले महाभारत का प्रचार था, क्योंकि ''वासुदेवार्जुनाभ्यां बुन्'' इस सूत्र से ''वासुदेवक'' और ''अर्जुनक'' शब्द बनते हैं, जिनका अर्थ वासुदेव का उपासक और अर्जुन का उपासक है। इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि सूत्र के पहले ही कृष्णार्जुन देवता माने जाते थे। महाभारत युद्ध के कुछ ही दिन पीछे मूल महाभारत के बनाए जाने की जो प्रसिद्धि है उसके दूर करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता है।

अब यहाँ यह भी कह देना उचित है कि केवल पाणिनि के सूत्रों में ही नहीं, आश्वलायन और सांख्यायन के गृह्य सूत्रों में भी महाभारत का प्रसंग है। इसलिए महाभारत की प्राचीनता के संबंध में चींचपड़ करने का अधिकार किसी को नहीं है।

VIII : कृष्ण की ऐतिहासिकता

पाणिनि के सूत्र में कृष्ण का नाम हो या न हो, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। ऋग्वेद संहिता में कृष्ण का[12] नाम अनेक बार आया है। प्रथम मंडल के 116वें

सूक्त की 23वीं ऋचा में और 117वें सूक्त की 7वीं ऋचा में एक कृष्ण का नाम है। यह कौन कृष्ण है इसके जानने का कोई उपाय नहीं है। संभव है यह वसुदेवनंदन नहीं हो। ऋग्वेद संहिता के सूक्तों का ऋषि भी एक कृष्ण है। इसकी बात पीछे कहूँगा। अथर्व संहिता में कृष्ण केशी नामक असुर के मारने वाले कृष्ण की कथा है। वह वसुदेवनंदन हैं इसमें संदेह नहीं। केशी वध की कथा पीछे लिखूँगा।

पाणिनि के सूत्र में वासुदेव नाम है, वह सूत्र उद्धृत भी कर दिया है। श्री कृष्ण का वासुदेव नाम महाभारत में प्रायः आया है। कुछ वसुदेव के पुत्र होने से ही कृष्ण का नाम वासुदेव नहीं हुआ। वसुदेव के पुत्र न होने पर भी वासुदेव नाम होता है। इसी महाभारत में ही पुंड्राधिपति का नाम वासुदेव लिखा है। वसुदेव को आप चाहें तो कल्पित कह सकते हैं पर वासुदेव को नहीं।

यूरोप वालों की राय है कि कृष्ण महाभारत में कभी थे ही नहीं, वह उसमें पीछे लाकर बिठाए गए हैं। इसके लिए वे लोग जो कारण बताते हैं, नितांत दुर्बल हैं। उनका कहना है कि कृष्ण को महाभारत से अलग कर देने पर महाभारत की कुछ हानि नहीं होती है, ठीक है, नहीं होती है। गत फ्रांस-प्रशिया के युद्ध से मोल्टके को अलग कर देने से भी कोई हानि नहीं है। ग्रावेलट, वर्थ, मेज, सीडन, पेरिस आदि की विजय ज्यों की त्यों बनी रहेंगी, क्योंकि मोल्टके ने यह सब लड़ाइयाँ हथियार लेकर नहीं जीती हैं। उन्होंने तार और चिट्ठियों से अपना सेनापतित्व निबाहा था। जैसे मोल्टके को अलग करने में कुछ हानि नहीं है उसी तरह महाभारत से कृष्ण को भी अलग कर देने में कोई हानि नहीं है। वैसे कृष्ण को अगल कर देने से कुछ हानि है या नहीं यह इस ग्रंथ के पढ़ने से ही पाठकों को मालूम हो जाएगा।

ह्वीलर साहब से भी इस विषय में कुछ कहे बिना नहीं रहा गया। उनकी राय कैसी होती है, और वह कैसे विद्वान् हैं, यह पहले बताया जा चुका है। उनकी बात का जवाब देना मैं जरूरी नहीं समझता हूँ। पर कुछ लोग उनकी राय भी मानते हैं, इसलिए कुछ कहना पड़ता है। ह्वीलर साहब फरमाते हैं कि द्वारका हस्तिनापुर से सात सौ कोस दूर है। बस इसी से कृष्ण के संग पांडवों का जो घनिष्ठ संबंध महाभारत में लिखा है वह असंभव है। क्यों असंभव है यह समझ में नहीं आया, इसी वास्ते इसका उत्तर भी नहीं दे सकते। जिन्होंने बंगाल के नवाबों और दिल्ली के मुगल, पठान बादशाहों के घनिष्ट संबंधों का हाल सुना है, वह जरूर ही ह्वीलर साहब की बात न मानेंगे।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् बोरनफ कहता है कि बौद्ध शास्त्र में कृष्ण का नाम न मिलने से समझना होगा कि बौद्ध शास्त्र के प्रचार होने के बाद कृष्ण की उपासना आरंभ हुई। पर बौद्ध शास्त्र के 'ललित विस्तार' ग्रंथ में कृष्ण नाम है। बौद्ध शास्त्र में सूत्र-पिटक सबसे पुराना ग्रंथ है, उसमें कृष्ण का नाम है। इस ग्रंथ में कृष्ण को असुर लिखा है। नास्तिक और हिंदु धर्म के विरोधी बौद्धों ने कृष्ण को जो असुर लिखा तो कुछ आश्चर्य नहीं। वेदों में इंद्रादि देवता भी कहीं-कहीं असुर लिखे हैं। धर्म की प्रधान शत्रु जो प्रवृत्ति है उसका नाम बौद्धों ने 'मार' रखा है। इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण का प्रचार किया हुआ अपूर्व निष्काम धर्म, उनका सनातन धर्म का अपूर्व संस्कार तथा स्वयं कृष्ण की उपासना बौद्ध धर्म के प्राचार में प्रधान बाधा थी। इसी से बौद्धों ने कृष्ण को ही 'मार' प्रतिपन्न करने की प्रायः चेष्टा की है।

इन बातों को अब यहीं रहने दीजिए। छान्दोग्योपनिषद् की बात सुनिए, उसमें लिखा है :

अयैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्राय उक्ता, उवाच। अपिपास एव स बभूव। साऽन्त वेलायामेतत्रयं प्रतिपद्येत अक्षितमसि, अच्युतमसि प्राणसंशितमसीति।

अर्थात् आङ्गिरस वंश के घोर (ऋषि) ने देवकी पुत्र को यह बात कह कर कहा (सुनकर वह भी पिपासा शून्य हुए) कि अंतकाल में इन्हीं तीन बातों का अवलंबन करना–तुम आक्षत हो, तुम अच्युत हो, तुम प्राणसंशित हो।

इसी घोर ऋषि के पुत्र कण्व[13] थे। घोरपुत्र कण्व ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 36 वें सूक्त से 43 वें सूक्त तक के ऋषि हैं, और कण्व के पुत्र मेधातिथि इस मंडल के 12 से 23 वें सूक्त के ऋर्षि हैं। कण्व के दूसरे पुत्र प्रष्कण्व इसी मंडल के 44 से 50 वें सूक्त तक के ऋषि हैं। निरूक्तकार यास्क कहते हैं : "यस्य वाक्यं स ऋषि"–ऋषिगण सूक्त के प्रणेता हों या न हों वक्ता अवश्य हैं। इसलिए घोर के पुत्र और पौत्र ऋग्वेद के कई सूक्तों के वक्ता हुए। अगर यही बात हो तो घोर के शिष्य कृष्ण उनके समसामयिक थे, इसमें संदेह नहीं। पहले वेदों के सूक्त बने, पीछे वेद विभाग हुआ, इस सिद्धांत का खंडन किसी तरह नहीं होता। अतः कृष्ण वेद विभाग कर्त्ता वेदव्यास के समकालीन थे। यह केवल उपन्यास की बात नहीं है, इसमें किसी प्रकार की शंका ही नहीं की जा सकती है।

ऋग्वेद संहिता के आठवें मंडल के 85, 86, 87वें सूक्त के और दसवें मंडल के 42, 43, 44वें सूक्त के ऋषि कृष्ण हैं। यह कृष्ण देवकीनंदन कृष्ण हैं या

नहीं यह निर्णय करना दुरूह है। परंतु केवल क्षत्रिय होने के कारण ही वह सूक्तों के ऋषि नहीं हैं यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एकदस्यु, त्रारुण, पुरुमीढ़, अजमीढ़, सिंधुद्वीप, सुदास, मांधाता, सिवि, प्रतर्दन, कक्षीवान, प्रभृति राजर्षि क्षत्रिय होने पर भी ऋग्वेद के सूक्तों के ऋषि हैं। दो एक जगह शूद्र ऋषियों का भी उल्लेख मिलता है। कवप नाम का दसवें मंडल में एक शूद्र ऋषि है। इससे क्षत्रिय होने के कारण कृष्ण के ऋषि होने में कुछ आपत्ति नहीं हो सकती है। हाँ एक बात अवश्य है कि ऋग्वेद संहिता की अनुक्रमणिका में शौनक कृष्ण आङ्गिरस ऋषि के नाम से परिचित हुए हैं।

वेदों का शेष भाग उपनिषद् है। इसी से उपनिषदों का नाम वेदांत है। वेद के जिस अंश को ब्राह्मण कहते हैं वह उपनिषदों से पुराना मालूम होता है। इसलिए छान्द्योग्योपनिषद से कौषीतकी ब्राह्मण और भी प्राचीन जान पड़ता है। उसमें भी आङ्गिरस घोर का नाम है और कृष्ण का भी नाम है। वहाँ कृष्ण देवकी पुत्र नहीं कहे गए हैं, आङ्गिरस कहे गए हैं। कई क्षत्रिय भी आङ्गिरस कहलाते थे। विष्णु पुराण से एक प्राचीन श्लोक उद्धृत कर यह बात पुष्ट करता हूँ :

> एते क्षत्रप्रसूतावै पुनश्चाङ्गिरसः स्मृताः।
> रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः ॥4 अंश, 22।

पर यह रथातर राजा सूर्यवंशीय था। कृष्ण के पूर्व पुरुष ययाति के पुत्र यदु थे। इससे यह चंद्रवंशीय ठहरे। सब इतिहास और पुराणों में यही बात लिखी है।...

''वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन'' यह सूत्र मैंने पाणिनि से लिया है। इससे सिद्ध होता है, कृष्ण इतने प्राचीन समय के हैं कि पाणिनि के समय में उनकी उपासना होती थी। बस, यही बहुत है।

IX : महाभारत में प्रक्षिप्त अंश

अब तक मैंने जो कुछ कहा है उसका सार यही है कि महाभारत में ऐतिहासिकता है तथा उसमें कृष्ण और पांडवों के संबंध की ऐतिहासिक बातें मिलती हैं। अब यह प्रश्न हो सकता है कि महाभारत में कृष्ण और पांडवों के संबंध में जो बातें मिलती हैं वह क्या सब ही ऐतिहासिक हैं?

महाभारत की ऐतिहासिकता या महाभारत में कही हुई कृष्ण और पांडवों संबंधी कथाओं की ऐतिहासिकता के विरुद्ध युरोप वालों ने जो कुछ कहा है, उसका

तात्पर्य यही है कि प्राचीन समय में जो महाभारत था वह अब नहीं है। इसका मतलब अगर यह हो कि उस पुराने महाभारत से इस प्रचलित महाभारत का कुछ भी संबंध नहीं है तो मैं इसे ठीक नहीं मानता और इसी से इसका मैंने इतना खंडन किया है। अगर यह मतलब हो कि प्राचीन महाभारत में बहुत क्षेपक मिल गया है—इतना कि उसमें असल महाभारत डूब गया है, तो इससे मेरा कुछ मतभेद नहीं है।

यह मैं बारंबार कह चुका हूँ कि आजकल जो महाभारत प्रचलित है उसमें क्षेपक कथा इतनी भर गई है कि असली महाभारत का कहीं पता भी नहीं लगता है। परंतु उसमें यदि कुछ ऐतिहासिकता है तो वह असली महाभारत की ही है। अब पहले यही विचार करना है कि वर्तमान महाभारत में असली महाभारत का कितना अंश है। महाभारत में कृष्ण की जो कुछ कथाएँ मिलती हैं उनका ही ऐतिहासिक मूल्य कुछ हो भी सकता है। जो कथाएँ महाभारत में नहीं हैं, और ग्रंथों में हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य उतना अधिक नहीं है, क्योंकि महाभारत सबसे पुराना ग्रंथ है।

प्राचीन संप्रदाय के कुछ लोग पूछ बैठेंगे कि महाभारत में प्रक्षिप्त है इसका क्या प्रमाण है? इस परिच्छेद में मैं इसी के कुछ प्रमाण दूँगा।

आदि पर्व के द्वितीय अध्याय का नाम पर्वसंग्रहाध्याय है। महाभारत में जिन-जिन विषयों का वर्णन है उनका पर्वसंग्रहाध्याय में उल्लेख है। वह आजकल के सूचीपत्र के समान है। इस संग्रहाध्याय में छोटे-से-छोटे विषय का भी नाम है। अब जिस बड़े विषय का नाम इस संग्रहाध्याय में न हो उसे अवश्य ही क्षेपक समझना होगा। इसका एक उदाहरण ले लीजिए। अश्वमेधिक पर्व में अनुगीता और ब्राह्मणगीता के पर्वाध्याय मिलते हैं। यह दोनों छोटे विषय नहीं हैं इनमें छत्तीस अध्याय हैं। पर पर्वसंग्रहाध्याय में इन दोनों का कुछ भी जिक्र नहीं है। इसलिए अनुगीता और ब्राह्मणगीता को क्षेपक समझना होगा।

दूसरा प्रमाण यह है कि अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि महाभारत में एक लाख श्लोक हैं और किस पर्व में कितने श्लोक हैं यह पर्वसंग्रहाध्याय में लिखा है—यथा :

आदि	8884	सौप्तिक	870
सभा	2511	स्त्री	775
वन	11664	शांति	14732

विराट	2050	अनुशासन	8000
उद्योग	6698	आश्वमेधिक	3320
भीष्म	5884	आश्रमवासिक	1506
द्रोण	8909	मौसल	320
कर्ण	4964	महाप्रस्थानिक	320
शल्य	3320	स्वर्गारोहण	209
			84836

इतने से एक लाख श्लोक नहीं होते, कुल 84836 होते हैं। एक लाख पूरा करने के लिए पर्वाध्याय संग्रहकार ने लिखा है :

अष्टादशैवमुक्तानि पर्व्वाण्येतान्यशेषतः।
खिलेषु हरिवंशञ्च भविष्यञ्च प्रकीर्तितम्।।
दशश्लोकसहस्राणि वीश-श्लोकशतानि च।
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा।।

अर्थात् 'इस प्रकार अठारह पर्व विस्तारपूर्वक कहे गए हैं। इसके बाद हरिवंश और भविष्यपर्व कहे गए हैं। महर्षि ने हरिवंश में बारह हजार श्लोक रचे हैं।' पर्वसंग्रहाध्याय में इसके सिवा हरिवंश की और कुछ चर्चा नहीं है। इससे 96836 श्लोक हुए। प्रचलित महाभारत की श्लोक संख्या आजकल इस प्रकार है :

आदि	8479	स्त्री	827
सभा	2709	शांति	13943
वन	17478	अनुशासन	7796
विराट	2376	आश्वमेधिक	2900
उद्योग	7656	आश्रमवासिक	1105
भीष्म	5856	मौसल	292
द्रोण	9649	महाप्रस्थानिक	109
कर्ण	5046	स्वर्गारोहण	312
शल्य	3671	खिल हरिवंश	16374
सौप्तिक	811	जोड़	107390

इससे जान पड़ता है कि पहले महाभारत में एक लाख श्लोक नहीं थे। पर्व संग्रह के बाद हरिवंश सहित सब मिलाकर प्रायः ग्यारह श्लोक बढ़े हैं अर्थात्

तात्पर्य यही है कि प्राचीन समय में जो महाभारत था वह अब नहीं है। इसका मतलब अगर यह हो कि उस पुराने महाभारत से इस प्रचलित महाभारत का कुछ भी संबंध नहीं है तो मैं इसे ठीक नहीं मानता और इसी से इसका मैंने इतना खंडन किया है। अगर यह मतलब हो कि प्राचीन महाभारत में बहुत क्षेपक मिल गया है—इतना कि उसमें असल महाभारत डूब गया है, तो इससे मेरा कुछ मतभेद नहीं है।

यह मैं बारंबार कह चुका हूँ कि आजकल जो महाभारत प्रचलित है उसमें क्षेपक कथा इतनी भर गई है कि असली महाभारत का कहीं पता भी नहीं लगता है। परंतु उसमें यदि कुछ ऐतिहासिकता है तो वह असली महाभारत की ही है। अब पहले यही विचार करना है कि वर्तमान महाभारत में असली महाभारत का कितना अंश है। महाभारत में कृष्ण की जो कुछ कथाएँ मिलती हैं उनका ही ऐतिहासिक मूल्य कुछ हो भी सकता है। जो कथाएँ महाभारत में नहीं हैं, और ग्रंथों में हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य उतना अधिक नहीं है, क्योंकि महाभारत सबसे पुराना ग्रंथ है।

प्राचीन संप्रदाय के कुछ लोग पूछ बैठेंगे कि महाभारत में प्रक्षिप्त है इसका क्या प्रमाण है? इस परिच्छेद में मैं इसी के कुछ प्रमाण दूँगा।

आदि पर्व के द्वितीय अध्याय का नाम पर्वसंग्रहाध्याय है। महाभारत में जिन-जिन विषयों का वर्णन है उनका पर्वसंग्रहाध्याय में उल्लेख है। वह आजकल के सूचीपत्र के समान है। इस संग्रहाध्याय में छोटे-से-छोटे विषय का भी नाम है। अब जिस बड़े विषय का नाम इस संग्रहाध्याय में न हो उसे अवश्य ही क्षेपक समझना होगा। इसका एक उदाहरण ले लीजिए। अश्वमेधिक पर्व में अनुगीता और ब्राह्मणगीता के पर्वाध्याय मिलते हैं। यह दोनों छोटे विषय नहीं हैं इनमें छत्तीस अध्याय हैं। पर पर्वसंग्रहाध्याय में इन दोनों का कुछ भी जिक्र नहीं है। इसलिए अनुगीता और ब्राह्मणगीता को क्षेपक समझना होगा।

दूसरा प्रमाण यह है कि अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि महाभारत में एक लाख श्लोक हैं और किस पर्व में कितने श्लोक हैं यह पर्वसंग्रहाध्याय में लिखा है—यथा :

आदि	8884	सौप्तिक	870
सभा	2511	स्त्री	775
वन	11664	शांति	14732

विराट	2050	अनुशासन	8000
उद्योग	6698	आश्वमेधिक	3320
भीष्म	5884	आश्रमवासिक	1506
द्रोण	8909	मौसल	320
कर्ण	4964	महाप्रस्थानिक	320
शल्य	3320	स्वर्गारोहण	209
			84836

इतने से एक लाख श्लोक नहीं होते, कुल 84836 होते हैं। एक लाख पूरा करने के लिए पर्वाध्याय संग्रहकार ने लिखा है :

अष्टादशेवमुक्तानि पर्व्वाण्येतान्यशेपतः।
खिलेपु हरिवंशञ्च भविष्यञ्च प्रकीर्तितम्।।
दशश्लोकसहस्राणि वीश-श्लोकशतानि च।
खिलेपु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा।।

अर्थात् 'इस प्रकार अठारह पर्व विस्तारपूर्वक कहे गए हैं। इसके बाद हरिवंश और भविष्यपर्व कहे गए हैं। महर्षि ने हरिवंश में वारह हजार श्लोक रचे हैं।' पर्वसंग्रहाध्याय में इसके सिवा हरिवंश की और कुछ चर्चा नहीं है। इससे 96836 श्लोक हुए। प्रचलित महाभारत की श्लोक संख्या आजकल इस प्रकार है :

आदि	8479	स्त्री	827
सभा	2709	शांति	13943
वन	17478	अनुशासन	7796
विराट	2376	आश्वमेधिक	2900
उद्योग	7656	आश्रमवासिक	1105
भीष्म	5856	मौसल	292
द्रोण	9649	महाप्रस्थानिक	109
कर्ण	5046	स्वर्गारोहण	312
शल्य	3671	खिल हरिवंश	16374
सौप्तिक	811	जोड़	107390

इससे जान पड़ता है कि पहले महाभारत में एक लाख श्लोक नहीं थे। पर्व संग्रह के वाद हरिवंश सहित सब मिलाकर प्रायः ग्यारह श्लोक वढ़े हैं अर्थात्

ऊपर से मिलाए गए हैं।

अब तीसरा प्रमाण लीजिए श्लोकों के घटने बढ़ने का प्रमाण अनुक्रमणिकाध्याय से मिल सकता है। उसके 102वें श्लोक में लिखा है कि व्यासदेव ने डेढ़ सौ श्लोक की अनुक्रमणिका बनाई।

ततोऽध्यर्दु शंत भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तानं सपर्वणाम्।

पर वर्तमान महाभारत के अनुक्रमणिकाध्याय में 272 श्लोक मिलते हैं। इस हेतु पर्वसंग्रहाध्याय लिखे जाने के पश्चात् इस अनुक्रमणिका में ही 112 श्लोक बढ़ गए हैं।

अब चौथा प्रमाण सुनिए। पर्वसंग्रहाध्याय में 84836 श्लोक हैं। पर यह अनायास ही समझाया जा सकता है कि पहले महाभारत के बनाने वाले ने यह पर्वसंग्रहाध्याय नहीं बनाया है और न महाभारत बनने के समय ही यह बना है। महाभारत में ही लिखा है कि वैशम्पायन ने जनमेजय को महाभारत सुनाया और उग्रश्रवा ने नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को सुनाया। पर्वाध्याय संग्रहकार ने इस संग्रह को उग्रश्रवा की ही उक्ति बताई है, वैशम्पायन की नहीं। इसलिए यह असली या वैशम्पायन रचित महाभारत का अंश नहीं है। अनुक्रमणिकाध्याय में ही लिखा है कि कोई तो प्रथम तक, कोई आस्तीक पर्वतक, कोई उपरिचद राजा के उपाख्यान तक महाभारत का आरंभ बताता है। इसलिए जब उग्रश्रवा ऋषियों को महाभारत सुनाते थे तब ही पर्वसंग्रहाध्याय की कौन कहे प्रथम 61 अध्याय भी[14] क्षेपक समझे जाते थे। यह पर्वसंग्रहाध्याय पढ़ने से ही मालूम हो जाता है कि क्षेपक की भरमार होती जाती थी। और उसे रोकने के लिए ही किसी ने अनुक्रमणिकाध्याय के बाद पर्वसंग्रहाध्याय जोड़ दिया है। इससे अनुमान होता है कि पर्वसंग्रहाध्याय बनने के पहले भी बहुत सा क्षेपक मिल चुका था।

अब पाँचवां प्रमाण प्रस्तुत है। इस अनुक्रमणिकाध्याय में ही लिखा है कि उपाख्यान भाग को छोड़कर महाभारत के पहले चौबीस हजार श्लोक रचे गए थे और वही वेदव्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को पहले पढ़ाए थे :

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्बिना तावद्मारतं प्रोच्यते बुधैः।।
ततोऽध्यर्द्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः।
अनुक्रमणिकाध्याये वृतान्तानां सपर्वणाम्।।

इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयत् शुकम्।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्योभयः प्रददौ विभुः।।

आदि पर्व 101–103

शुकदेव से वैशम्पायन ने महाभारत पढ़ा था। इसलिए यही चौबीस हजार श्लोकों का महाभारत जनमेजय को सुनाया गया था। और पहले महाभारत में कुल चौबीस हजार श्लोक थे। पीछे धीरे-धीरे क्षेपक के मारे महाभारत का आकार चौगुना वढ़ गया। जिसके मन में आया वही कुछ न कुछ लिखकर उसमें मिलाता चला गया। अनुक्रमणिका में ही लिखा है कि इसके बाद वेदव्यास ने साठ लाख श्लोकों का महाभारत रचा जिसका कुछ अंश देवलोक में कुछ पितृलोक में, और कुछ गंधर्वलोक में पढ़ा जाता है। बाकी केवल एक लाख श्लोक मनुष्य लोक में पढ़े जाते हैं। यह अस्वाभाविक बात पहले अनुक्रमणिकाध्याय में प्रक्षिप्त हुई है। इसमें संदेह नहीं। देवलोक में, पितृलोक में या गंधर्वलोक में महाभारत का पढ़ा जाना और मनुष्य विशेष का चाहे वह वेदव्यास ही क्यों न हों—साठ लाख श्लोक बनाना सहज ही विश्वास करने योग्य बात नहीं है। मैं पहले ही कह आया हूँ कि 272 श्लोकात्मक उपक्रमणिका में 122 श्लोक क्षेपक हैं। यह साठ लाख और एक लाख श्लोकों की बात भी निस्संदेह क्षेपक है।

X : क्षेपक चुनने की रीति

महाभारत का कुछ अंश प्रक्षिप्त है, यह पूर्व परिच्छेद में स्थिर हो चुका है। अब विचारना यह है कि इसके ढूँढ़ निकालने का कुछ उपाय है या नहीं। कौन अंश प्रक्षिप्त है और कौन नहीं है, इसके स्थिर करने का कुछ लक्षण है या नहीं?

मनुष्य जीवन के जितने कार्य हैं सबका ही निर्वाह प्रमाण के ऊपर निर्भर है। लेकिन हाँ, विषय की विभिन्नता के अनुसार प्रमाणों की अल्प या अधिक वलवत्ता आवश्यक होती है। जिन प्रमाणों पर निर्भर रह कर हम साधारण तौर पर अपने जीवन के कार्य निर्वाह करते हैं उनसे गुरुतर प्रमाणों के बिना एक भी मुकद्दमा का अदालत में फैसल नहीं हो सकता है। फिर विचारालय में विचारक गण जिन प्रमाणों के भरोसे अभियोग का निर्णय करते हैं उनसे बड़े प्रमाणों के विना वैज्ञानिक लोग विज्ञान संबंधी सिद्धांतरत नहीं पहुँच सकते हैं। इसीलिए विषय की विभिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रमाण शास्त्र रचे गए हैं। जैसे विचारालयों के लिए प्रमाण संबंधी आईन और विज्ञान के लिए अनुमानतत्व है। इतिहास का तत्त्व निरुपण करने के लिए भी इसी तरह एक प्रमाण-शास्त्र भी है। क्षेपक चुनने

के लिए भी कुछ नियम बनाए जा सकते हैं :

(1) मैं जिस पर्वसंग्रहाध्याय की बात पहले कह चुका हूँ उसमें जिसकी चर्चा नहीं है वह निश्चय ही प्रक्षिप्त है। यही पहला सूत्र हुआ।

(2) अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि, महाभारतकार ने-वह वेदव्यास हों चाहे और कोई–महाभारत रचकर डेढ़ सौ श्लोकों की अनुक्रमणिका में भारत की सब बातों का सार संग्रह किया। इस अनुक्रमणिकाध्याय में 93 श्लोक से 251 श्लोक तक उक्त प्रकार का सार संग्रह है। यद्यपि इसमें 150 के बदले 159 श्लोक हैं अर्थात् 9 श्लोक अधिक हैं, तथापि कुछ चिंता नहीं। कदाचित् यह नौ श्लोक ऊपर से मिलाए गए हैं। अब इन 159 श्लोकों में जिसकी चर्चा न हो उसे अवश्य क्षेपक मानना होगा।

(3) जो परस्पर विरोधी हैं उनमें से एक अवश्य ही प्रक्षिप्त है। अगर कोई घटना दो या अधिक बार लिखी गई है और वह परस्पर विरोधी हैं, अर्थात् एक ही घटना कई तरह से लिखी गई है तो उनमें से एक को क्षेपक समझना होगा। कोई लेखक व्यर्थ पुनरुक्ति नहीं करता और न व्यर्थ की पुनरुक्ति से आत्मविरोध उपस्थित करता है। असावधानी या अयोग्यता के कारण जो पुनरुक्ति या आत्मविरोध हो जाता है वह और बात है। वह सहज ही चुन लिया जा सकता है।

(4) सुकवियों की रचना में प्रायः कुछ न कुछ विशेषता रहती है। महाभारत के कई अंश ऐसे हैं, जिनके असली होने में कभी संदेह हो ही नहीं सकता है, क्योंकि उसके न रहने से महाभारत का महाभारतपन ही नहीं रहता है। इन स्थानों की रचनाप्रणाली ठीक एक ही प्रकार की है। जिन रचनाओं में उक्त रचना का एक लक्षण भी न हो या जिनकी रचना प्रणाली बिलकुल भिन्न प्रकार की हो उन्हें प्रक्षिप्त समझना चाहिए।

(5) इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि महाभारत का बनाने वाला श्रेष्ठ कवि था। श्रेष्ठ कवियों के कहे हुए चरित्र सब अंशों में सुसंगत होते हैं। यदि कहीं उसमें अंतर पड़े तो उसके प्रक्षिप्त होने का संदेह होगा। मान लीजिए किसी हस्तलिखित महाभारत के किसी स्थान में भीष्म की भीरुता और परदारपरायणता लिखी मिले तो उसे क्षेपक समझना होगा।

(6) जो अप्रासंगिक है वह प्रक्षिप्त हो भी सकता है और नहीं भी। लेकिन अप्रासंगिक विषयों में पाँच लक्षणों में से कोई एक हो तो वह प्रक्षिप्त समझा जाएगा।

सिद्ध करने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है।

इन दोनों तहों के सिवा एक तीसरी तह भी है। तीसरी तह अनेक शताब्दियों से बनती चली आ रही है, जिसने जब जो अच्छी रचना की वह महाभारत में जोड़ दी। महाभारत पाँचवां वेद कहलाता हे। इसका अवश्य ही गूढ़ तात्पर्य है। चारों वेदों पर शूद्र और स्त्रियों का अधिकार नहीं है। भारत के असाधारण प्रतिभाशाली प्राचीन ऋषियों ने अच्छी तरह समझा था कि ऊँची जातियों के साथ नीची जातियों और स्त्रियों का समान अधिकार विद्या और ज्ञान पर है। वे जानते थे कि सर्वसाधारण के शिक्षित हुए बिना समाज की उन्नति नहीं हो सकती है। परंतु वे लोग आजकल के हिंदुओं की तरह अपने प्रतिभाशाली पूर्वपुरुषों की अवज्ञा नहीं करते थे। वे लोग पुराने समय को नये से अर्थात् भूत को वर्तमान से अलग करने में बहुत डरते थे। पूर्व पुरुष कह गए हैं कि स्त्री और शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। उन्होंने कहा अच्छी बात है, नहीं पढ़ावेंगे। पर साथ ही यह भी उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें स्त्री और शूद्र सीखने की सब बातें एक ही जगह बिना वेद पढ़े ही सीख लें : सांप मरे, लाठी भी न टूटे। मनोहर सामग्री के संग शिक्षा देने से वह सर्वसाधारण में आदर की वस्तु होगी। यही विचारकर ब्राह्मणों ने सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए महाभारत में बहुत सी बातें मिला दीं। आजकल हम जो महाभारत पढ़ते हैं, वह उन्हीं ब्राह्मणों की अक्षय कीर्ति है।[15] बस इसका फल यह हुआ कि भली-बुरी बहुतेरी बातें इसमें आ मिलीं। शांति पर्व और अनुशासन पर्व का अधिकांश, भीष्म पर्व की श्रीमद्भगवत्गीता का पर्वाध्याय, वन पर्व का मार्कण्डेय समस्या का पर्वाध्याय, उद्योग पर्व के प्रजागर का पर्वाध्याय, मालूम होता है, तीसरी तह बनाने के समय रचे गए हैं। इनके सिवा आदि पर्व के शकुंतलोपाख्यान के पूर्व का अंश, और वन पर्व का तीर्थ यात्रा पर्वाध्याय प्रभृति निकृष्ठ अंश इसी तह के भीतर हैं :

कर्मश्रेयसि मूढ़ानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतं।।

श्रीमद्भागवत् 1 स्कं. 4 अ. 25

ऊपर कही हुई इन तीन तहों के नीचे की, यानी पहली तह ही, सबसे पुरानी है। इसलिए उसी को असली समझकर ग्रहण करना चाहिए। जो बातें दूसरी और तीसरी तहों में मिलें और पहली तह में न मिलें उन्हें कपोलकल्पित अनैतिहासिक समझ कर उन का परित्याग करना उचित है।

XII : अनैसर्गिक या अलौकिक

इतनी दूर आकर जो तत्त्व निकला है, वह स्थूलरूप से यही है कि जिन ग्रंथों में कृष्ण की कथा है उनमें महाभारत ही सबसे पुराना है। पर प्रचलित महाभारत में तीन भाग क्षेपक और एक भाग मौलिक है। उसी एक भाग में कुछ ऐतिहासिकता है। वह कितनी है, अब उसी का पता लगाना चाहिए।

कुछ लोग कह सकते हैं कि इसकी जरूरत नहीं। क्योंकि महाभारत वेद-व्यास का बनाया हुआ है और वेदव्यास महाभारत युग के समय हुए हैं। इसलिए महाभारत समसामयिक आख्यान है। इसका मौलिक अंश अवश्य विश्वास के योग्य है।

आजकल जिस महाभारत को हम पढ़ते हैं उसे ठीक उसी समय का बना नहीं कह सकते। पहला महाभारत वेदव्यास का बनाया हो सकता है, पर वह क्या हमें मिला है? क्षेपक निकाल देने पर जो बचता है, वह क्या व्यासजी की रचना है? जो महाभारत प्रचलित है उसे तो उग्रश्रवा नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को सुना रहे हैं। वह कहते हैं कि मैंने जनमेजय के सर्प यज्ञ में वैशम्पायन से जो महाभारत सुना है, वही तुम्हें सुनाता हूँ। पर दूसरी जगह लिखा है कि उग्रश्रवा ने अपने पिता से वैशम्पायन संहिता पढ़ी थी। महाभारत के 63 वें अध्याय में व्यास की जन्म कथा के बाद वैशम्पायनजी ही कहते हैं :

> वेदानध्यापयामास महाभारतपंञ्चमान्।
> सुमन्तुं जेमिनिं पैल शुकञ्चैव स्वमात्मजम्।।
> प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
> संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्यः प्रकाशिताः।
>
> आदि पर्व 63 अ । 85। 86।

अर्थात् वेदव्यास ने सुमंतु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशम्पायन को वेद और पाँचवाँ वेद महाभारत पढ़ाए। उन्होंने अपनी अलग-अलग भारत संहिताएँ बनाईं।[16]

इसलिए प्रचलित महाभारत वैशम्पायन प्रणीत भारत संहिता है। यह पहले जनमेजय की सभा में सुनाई गई थी। जनमेजय पांडवों के प्रपौत्र थे।

खैर जो हो, वर्तमान महाभारत हमें वैशम्पायन से नहीं मिला है। उग्रश्रवा कहते हैं कि मैंने वैशम्पायन से सुना है। अथवा उनके पिता ने वैशम्पायन से सुना और उन्होंने अपने पुत्र उग्रश्रवा को पढ़ाया। उग्रश्रवा ने जो कुछ कहा, वह हम एक दूसरे मनुष्य से सुनते हैं। वही वर्तमान महाभारत के प्रथम अध्याय का प्रणेता है और कई स्थानों में वक्ता भी बना है। वह कहता है कि नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषि इकट्ठे हुए और वहीं उग्रश्रवा भी आ पहुँचे। वहाँ ऋषियों के

साथ भारत के तथा और विषयों के संबंध में उग्रश्रवा का जो कथोपकथन हुआ, वही मैं कहता हूँ।

इससे यह निश्चय है कि (क) प्रचलित महाभारत व्यासकृत पहली संहिता नहीं है। (ख) इसे लोग वैशम्पायन संहिता समझते हैं, पर इसके वैशम्पायन-संहिता होने में संदेह है। इसके बाद सिद्ध किया गया कि (ग) इसका प्रायः तीन हिस्सा क्षेपक है। इसलिए महाभरत को कृष्ण चरित्र का आधार मानने में बड़ी सावधानी के साथ उससे काम लेना होगा। इस सावधानी के लिए यही आवश्यक है कि जो अलौकिक या अस्वाभाविक जान पड़े उसे परित्याग करना चाहिए।

मैं यह नहीं कहता कि मैं जिसे अस्वाभाविक कहूँ वह अवश्य ही मिथ्या है। मैं जानता हूँ कि ऐसे अनेक स्वाभाविक नियम हैं जो मुझे मालूम नहीं। जंगली लोग जिस तरह घड़ी और तारवर्की को अस्वाभाविक काम समझ सकते हैं उसी तरह मैं भी बहुतेरी बातों को समझ लेता हूँ। अपनी अज्ञता मान लेने पर भी किसी विशेष प्रमाण के बिना मैं किसी अनैसर्गिक घटना पर विश्वास नहीं कर सकता। क्योंकि अपने ज्ञान के बाहर कोई ईश्वरीय नियम प्रमाण बिना नहीं मानना चाहिए। अगर तुम से कोई कहे कि आम के पेड़ में जामुन फलते देखा है, तो तुम्हें उसका विश्वास नहीं करना चाहिए। तुम्हें कहना होगा कि आम के पेड़ में जामुन दिखा दो या समझा दो कि यह कैसे हो सकता है। इस पर वह अगर कहे कि मैंने देखा नहीं, सुना है, तब तो अविश्वास करने का कारण और भी भारी हो जाएगा। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। महाभारत की भी वही दशा है। अलौकिक बातों का प्रयत्क्ष प्रमाण भी नहीं मिलता है।

ऊपर कह आया हूँ कि प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाने पर भी अलौकिक बातों पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। अपने नैनों से देख लेने पर भी सहसा विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों का भ्रम में पड़ना संभव है, पर प्राकृतिक नियमों का लंघन होना कदापि संभव नहीं। जो अलौकिक घटना प्राकृतिक नियम से संगत हो उसे मान लेना चाहिए। जंगलियों को घड़ी और तारवर्की का भेद समझा देने से वह उन्हें अस्वाभाविक नहीं मानेंगे।

और यह भी कह देना उचित है कि यदि श्री कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना जाए (मैं तो मानता हूँ) तो उनकी इच्छा से कोई अनैसर्गिक कार्य नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन जब तक श्री कृष्ण अवतार सिद्ध न किए जा सकें और जब तक यह विश्वास किया जाए कि वह मनुष्य देह धारण कर ईश्वरीय शक्ति से अपना कार्य साधन करते थे, तब तक मैं न तो मान सकता

हूँ और न विश्वास कर सकता हूँ कि उनकी इच्छा से अस्वाभाविक काम हो जाते थे।

केवल यही नहीं। यदि यह मान भी लिया जाए कि कृष्णचंद्र ईश्वरावतार थे और उनकी इच्छा से अस्वाभाविक बातें हो जाती थीं तो भी बखेड़ा मिटता नहीं। खैर, उन्होंने जो-जो काम किए हैं उन्हें मैंने मान लिया, पर जो उनके किए नहीं हैं उन्हें मैं क्यों मानने लगा? शाल्व असुर का अंतरीक्ष में सौभनगर बनाकर युद्ध करना, वाणासुर की सहस्र भुजाएँ, अश्वत्थामा का ब्रह्मअस्त्र छोड़ना और उससे सारे ब्रह्मांड का दग्ध होना, फिर अवश्वत्थामा की आज्ञा से उसका उत्तरा के गर्भस्थ बालक को गर्भ में मारना, आदि का मैं क्यों विश्वास करने लगा?

इसके बाद श्री कृष्ण के किए हुए अनैसर्गिक कामों पर भी विश्वास न करने का कारण है। उन्हें ईश्वर का अवतार मानने पर भी अविश्वास करने का कारण है। वह मनुष्य शरीर धारण करने के यदि कुछ अस्वाभाविक काम करें तो वह दैवी या ईश्वरीय शक्रि से ही करेंगे। यदि दैवी शक्ति से ही काम करेंगे तो फिर मनुष्य शरीर धारण करने की आवश्यकता ही क्यों हुई? जो सर्वकर्ता, सर्वशक्तिमान, इच्छामय है–जिसकी इच्छा से समस्त जीवों की सृष्टि तथा संहार होता है– वह मनुष्य देह धारण किए बिना ही अपनी। दैवी शक्ति के प्रयोग से चाहे जिस असुर और मनुष्य का संहार कर सकता था। जब दैवी शक्ति से ही काम लेना था। तब मनुष्य देह धारण की जरूरत ही क्या थी? यदि इच्छामय इच्छापूर्वक मनुष्य रूप धारण करें तो दैवी या ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग उसका अभिप्रेत उद्देश्य नहीं हो सकता।

फिर शरीर धारण का प्रयोजन क्या है? क्या ऐसा कोई काम है जो ईश्वर मनुष्य शरीर धारण किए बिना नहीं कर सकता है? इसके उत्तर के पहले यह प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर का मनुष्य शरीर धारण करना संभव है? अच्छा, पहले इसी का उत्तर देता हूँ।

XIII : क्या ईश्वर का अवतीर्ण होना संभव है?

कृष्ण चरित्र की आलोचना के पहले इस प्रश्न का उत्तर देना वास्तव में आवश्यक है कि क्या ईश्वर का पृथ्वी पर अवतीर्ण होना संभव है? इस देश के निवासी श्री कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते हैं। पर शिक्षित लोग यह वात विज्ञान के विरुद्ध वताते हैं और हमारे ईसाई भाई इसे महज दिल्लगी समझते हैं। यहाँ एक नहीं दो प्रश्न हो सकते हैं : (क) ईश्वर का पृथ्वी पर अवतीर्ण होना संभव है या नहीं? (ख) यदि है, तो कृष्ण अवतार है या नहीं? मैं इस दूसरे प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं दूँगा। हाँ, पहले प्रश्न के उत्तर देने की इच्छा अवश्य है। यह

सौभाग्य की बात है कि हमारे ईसाई भाइयों का इस मोटी-सी बात में हम से मतभेद होना संभव नहीं है, क्योंकि वह ईश्वर का अवतीर्ण होना संभव मानते हैं। न मानों तो ईसा मसीह हाथ से निकल जाएँगे। हमारा प्रधान विवाद दार्शनिकों और वैज्ञानिकों से है।

बहुतेरे दार्शनिक और वैज्ञानिक यह कहेंगे कि जब ईश्वर के अस्तित्व ही प्रमाण नहीं हैं, तब उसका अवतार कहाँ से आवेगा? जो ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं, उनके साथ मैं विवाद नहीं करूँगा। मैं उनसे घृणा कर ऐसा करता हूँ, यह मत समझिए। बात यह है कि उनसे विवाद करने पर किसी पक्ष का भी कुछ उपकार नहीं होगा। वे लोग हमसे घृणा करते हैं, तो करें, इससे हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

इनके बाद कुछ लोग और हैं, जो ईश्वर को तो मानते हैं, पर कहते हैं कि ईश्वर निर्गुण है—उसका अवतार कैसा? अवतार तो सगुण का होता है। इस आपत्ति का तो मैं सीधा उत्तर दूँगा कि निर्गुण ईश्वर क्या है यह मैं समझ नहीं सकता। इसलिए इसकी मीमांसा करने में मैं असमर्थ हूँ। मैं जानता हूँ कि बहुत से पंडित और भावुक ईश्वर को निर्गुण मानते हैं। मैं न पंडित हूँ और न भावुक ही, पर मैं जानता हूँ कि पंडित और भावुक मेरी तरह निर्गुण ईश्वर का तात्पर्य नहीं समझ सके हैं, क्योंकि मनुष्य की ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं है जिससे वह निर्गुण ईश्वर को समझ सके। ईश्वर निर्गुण हो सकता है, पर हम निर्गुण को समझ नहीं सकते, क्योंकि हममें वह शक्ति नहीं है।[17] हम मुँह से केवल कह सकते हैं कि ईश्वर निर्गुण है और इस पर एक दर्शन शास्त्र भी रच सकते हैं। पर जो कुछ हम कह सकते हैं वह समझते भी हैं, इसका ठिकाना नहीं। 'चौकोन गोला' कहने से हमारी जीभ फट नहीं गई, पर 'चौकोन गोला' के माने क्या है यह समझ में नहीं आया। इसी से हर्बर्ट स्पेनसर ने इतने दिनों के बाद निर्गुण ईश्वर को तजकर सगुण से भी सगुण जो ईश्वर है उसे आकर पकड़ा है। ईश्वर को निर्गुण कहने से सृष्टा, विधाता, पाता, त्राता कोई भी हाथ नहीं आता है। फिर झख मारने से फायदा ही क्या?

जो सगुण ईश्वर मानते हैं वह भी अवतार के संबंध में बहुत सी आपत्तियाँ खड़ी करते हैं। एक तो यही कि ईश्वर सगुण है पर निराकार है। जो निराकार है वह आकार किस तरह धारण करेगा?

अब प्रश्न यह है कि जो इच्छामय और सर्वशक्तिमान् है वह इच्छा करने से निराकार होने पर भी, क्यों नहीं आकार धारण कर सकता है? उसकी सर्व

शक्तिमत्ता की सीमा क्यों बांधी जाती है? क्या उसे सर्वशक्तिमान् नहीं मानना है? जिसने इस जड़ जगत् का आकार बनाया है, वह स्वयं इच्छा करने पर क्यों नहीं आकार धारण कर सकेगा?

जिनको उक्त आपत्तियाँ नहीं हैं, वे यह कह सकते हैं, और कहते भी हैं, कि जो सर्वशक्तिमान् है उसे संसार के शासन के लिए, संसार के हित के लिए, मनुष्य शरीर धारण करने का क्या प्रयोजन है? जो अपनी इच्छा से करोड़ों विश्व बनाता और बिगाड़ता है, उसका रावण, कुंभकरण, कंस और शिशुपाल वध के लिए जन्म ग्रहण करना, बालक होकर माता का स्तनपान करना, अ, आ, इ, ई सीखकर शास्त्राध्ययन करना, मनुष्य जीवन का अपार दुःख भोगकर स्वयं अस्त्र धारण करना, कभी विजित और कभी पराजित होना, और पीछे बड़ी कठिनता से दुरात्माओं का संहार करना बड़ी ही अश्रद्धेय बात है।

जो ऐसा कहते हैं, वह मन में समझते हैं कि हम मनुष्य जन्म के दुःख—गर्भवास, जन्म, स्तनपान, शैशवशिक्षा, जय, पराजय, जरा, मरण जैसे भोगते हैं ईश्वर भी वैसे ही भोगता है। उनकी मोटी बुद्धि में यह नहीं आता कि ईश्वर सुख दुःख से अतीत है—उसे किसी से न दुःख है, न कष्ट है। जगत् का सृजन, पालन, लय उसकी जैसी लीला है वैसी ही यह सब भी हो सकती है। तुम कहते हो कि ईश्वर इच्छा करते ही क्षण भर में जिनका संहार कर सकता है उनके वध के लिए वह इतने समय तक क्यों श्रम उठावेगा जो मनुष्य की आयु के बराबर है? तुम भूलते हो कि जिसके सामने अनंतकाल भी पल भर के समान है उसकी दृष्टि में एक पल और मनुष्य की सारी आयु में कुछ भेद नहीं है।

विष्णु के अवतार के संबंध में असुर वध की जो कथाएँ पुराण में बहुत दिनों से सुनते आते हैं, उन पर बहुतों का विश्वास न होना ठीक ही है, क्योंकि केवल कंस या शिशुपाल को मारने के लिए स्वयं ईश्वर का पृथ्वी पर मनुष्य का रूप धरना असंभव है। जो अनंत शक्तिमान् है उसके आगे कंस और शिशुपाल एक छोटे से कीड़े के समान हैं। हिंदू धर्म के असली तत्त्व को जो वास्तव में नहीं समझ सकते हैं, वही अवतार का उद्देश्य दैत्य या दुरात्मा विशेष का संहार समझते हैं। असली बात तो श्रीभगवद्गीता में बहुत संक्षेप से लिखी गई है :

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंरक्षणार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

यह बहुत संक्षिप्त है! 'धर्म संरक्षण' क्या दो एक दुरात्माओं के वध करने से ही हो जाता है? धर्म क्या है? उसका संरक्षण किन-किन उपायों से हो सकता है?

हमारी सब शारीरिक और मानसिक वृत्तियों का संपूर्ण रूप से विकास, पूर्ति, सामंजस्य और चरितार्थ होना ही धर्म है। यह धर्म अनुशीलन के अधीन है और अनुशीलन कर्म के[18]। इसलिए कर्म ही धर्म का प्रधान उपाय है। इसी कर्म को धर्म पालन कह सकते हैं। मनुष्य अपनी सब वृत्तियों के वशीभूत होकर और कुछ अपनी रक्षा के लिए सहज ही कर्म में प्रवृत्त होता है। परंतु जिस कर्म से सब वृत्तियों का सर्वांगीन विकास, प्राप्ति, सामंजस्य और चरितार्थता होती है, वह कठिन है। जो कठिन है उसकी शिक्षा केवल उपदेश से नहीं होती है—उसके•लिए आदर्श की आवश्यकता है। संपूर्ण धर्म का संपूर्ण आदर्श ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है। किंतु निराकार ईश्वर हमारा आदर्श हो नहीं सकता। क्योंकि पहले तो वह अशरीरी है, शारीरिक वृत्ति शून्य है। हम शरीरी हैं, शारीरिक वृत्तियाँ हमारे धर्म का प्रधान विघ्न हैं। दूसरे वह अनंत है, हम सांत हैं, अति क्षुद्र हैं। इसलिए ईश्वर यदि स्वयं सांत और शरीरी होकर दर्शन दे तो उस आदर्श की आलोचना से सच्चे धर्म की उन्नति हो सकती है। इसी हेतु ईश्वर के अवतार की जरूरत है। मनुष्य कर्म नहीं जानता है— किस तरह कर्म करने से धर्म होता है यह भी वह नहीं जानता है। ईश्वर के अवतार लेने से इस बात की शिक्षा की विशेष संभावना है। ऐसी अवस्था में ईश्वर जीवों पर दया कर शरीर धारण करे तो इसमें असंभावना क्या है।

यह बात मैं अपने मन से नहीं कहता हूँ। भगवद्गीता में श्री भगवान् की उक्ति का तात्पर्य भी यही है :

> तस्मादशक्तः सततं कार्य कर्म समाचर।
> असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्रोति पुरुषः।। 19।।
> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि।। 20।।
> यद्‌यदाचरति श्रेष्ठ स्वत्तदेवेतरो जनः।
> स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते।। 21।।
> न मे पार्थास्थि कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्माणि।। 22।।
> यदिह्यहंन वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
> मम वर्त्मानु वर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। 23।।
> उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
> संगरस्य च कर्त्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। 24।।
> गीता 3 अ।

अर्थात् पुरुष आसक्ति त्याग कर कर्मानुष्ठान करने से मोक्ष पाता है, इसलिए तुम आसक्ति परित्याग कर कर्म का अनुष्ठान करो, जनकादि महात्माओं ने कर्म से ही सिद्धि पाई है। श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करते हैं इतरजन वही करते हैं। वह जिसे मानते हैं, और लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं। इसलिए तुम धर्म रक्षा के निमित्त धर्म का अनुष्ठान करो। देखो त्रिभुवन में मुझे कुछ भी अप्राप्य नहीं है, इस हेतु मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है, तो भी मैं कर्म करता हूँ।[19] यदि मैं आलस त्याग कर कभी कर्म न करूँ तो सब लोग मेरा ही अनुकरण करने लग जाएँगे। इस हेतु मेरे कर्म न करने से सब लोग नष्ट भ्रष्ट हो जाएँगे और मैं ही उनको वर्णशंकर बनाने और उन के नाश का हेतु हो जाऊँगा।

मैंने ईश्वर मानने वाले वैज्ञानिकों की अंतिम और प्रधान आपत्ति की बात अभी नहीं कही है। वे कहते हैं कि ईश्वर अवश्य है। वह सृष्टिकर्त्ता और नियंता भी है, परंतु वह गाड़ी के कोचवान की तरह हाथों में रास लेकर या नाव के मल्लाह की तरह पतवार पकड़ कर संसार को नहीं चलाता है। उसने कुछ अचल नियम बना दिए हैं, बस उन्हीं के भरोसे यह संसार चल रहा है। यह नियम अचल और जगत् के काम चलाने के लिए यथेष्ठ भी हैं। ईश्वर को स्वयं उनमें हस्तक्षेप करने का न स्थान है और न प्रयोजन ही है। इसलिए यह मानने को जी नहीं चाहता है कि ईष्वर मनुष्य देह धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण होगा।

मैं यह बात मानता हूँ कि ईश्वर ने कुछ नियम बना दिए हैं जिनके अनुसार यह संसार चलाता है। मैं यह भी मान लेता हूँ कि ये नियम जगत् की रक्षा और पालन के हेतु यथेष्ठ हैं। पर इससे परमेश्वर को स्वयं काम करने का न स्थान है और न प्रयोजन है, यह कैसे सिद्ध होता है, यह मैं समझ न सका। संसार की कोई वस्तु ऐसी उन्नत अवस्था में नहीं है जिसे वह, जो सर्वशक्तिमान है, इच्छा करने पर भी और उन्नत न कर सके। विज्ञान शास्त्र के सहारे सांसारिक कार्यों की आलोचना कर मैं यही समझ सकता हूँ कि संसार अपूर्ण और अपक्व अवस्था से धीरे-धीरे पूर्ण और परिपक्व अवस्था में आ रहा है। यही संसार की गति है और यही गति जगत् कर्त्ता का अभीष्ट भी मालूम होती है। फिर, जगत् की वर्तमान अवस्था में ऐसी कुछ बात नहीं देखता हूँ जिससे यह समझ लूँ कि जगत् चरमोन्नति को पहुँच गया है। अब भी मंनुष्यों के सुख की और उन्नति की बहुत सी बातें बाकी हैं। जब तक यह बाकी हैं तब तक परमेश्वर को हस्तक्षेप या कार्य करने के लिए स्थान और प्रयोजन क्यों नहीं है? सृष्टि, रक्षा, पालन और संहार के अतिरिक्त संसार का एक और नैसर्गिक कार्य उन्नति है। मनुष्य

की उन्नति का मूल है धर्म की उन्नति। यह भी मैं स्वीकार करता हूँ कि धर्म की उन्नति भी ईश्वरीय नियमों से हो सकती है। पर यह नहीं मान सकता कि केवल नियमों से जितनी उन्नति हो सकती है, उससे अधिक स्वयं ईश्वर के अवतार लेने से किसी समय नहीं हो सकती है। और यह भी भला मैं कैसे कह सकता हूँ कि ऐसी अधिक उन्नति परमेश्वर की अभीष्ट नहीं है?

आपत्ति करने वाले कहते हैं कि नैसर्गिक नियम ईश्वरकृत होने पर भी उनके प्रतिकूल कोई काम होता संसार में दिखाई नहीं देता है। इसमें इन सब असंभव कामों (miracles) को नहीं मान सकता हूँ। इसे युक्तिसंगत मानने का कारण पिछले परिच्छेद में बता आया हूँ। मुझे यह भी कहना पड़ता है कि ऐसी बहुत सी दंतकथाएँ हैं जिनमें ईश्वर के अवतार ने अस्वाभाविक कर्म किए हैं। ईसामसीह के संबंध में ऐसी बहुत सी अस्वाभाविक बातें कही जाती हैं। खैर ईसा की हिमायत ईसाई ही करें, मुझे उससे कुछ मतलब नहीं। विष्णु के अवतार में मच्छ, कच्छ, बराह, नरसिंह आदि ने अस्वाभाविक कर्म ही किए हैं। बुद्धिमान पाठकों से यह कहना वृथा है कि मच्छ, कच्छ, बराह, नरसिंहादि पशुओं का ईश्वर के अवतार से वास्तव में कुछ संबंध नहीं है। यह मैं किसी अन्य पुस्तक में दिखाऊँगा कि विष्णु के दस अवतारों की कथा कल्पित और आधुनिक है। यह कल्पना कहाँ से आई, यह भी दिखाऊँगा। यह सत्य है कि इन सब अवतारों की कथा पुराणों में है, पर पुराणों में बहुत सी मिथ्या बातें मिल गई हैं। अगर सच पूछिए तो श्री कृष्ण को छोड़ और किसी को ईश्वर का अवतार नहीं कहा जा सकता है।

श्री कृष्ण का जितना वृत्तांत मौलिक है उसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं है। महाभारत और पुराण क्षेपक तथा आजकल के निकम्मे ब्राह्मणों की निरर्थक रचनाओं से परिपूर्ण हैं। इसी हेतु श्री कृष्णचंद्र के संबंध में भी असंभव और अस्वाभाविक बातें अनेक ठौर मिलती हैं। पर विचार करने से मालूम हो जाता है कि इन बातों का मूलग्रंथ से कुछ भी संबंध नहीं है। मैं क्रम से उसका विचार करूँगा और जो कुछ कहूँगा उसका प्रमाण भी दूँगा। मैं दिखा दूँगा कि श्री कृष्ण ने प्राकृतिक नियमों का उलंघन कर एक भी असंभव और अस्वाभाविक कार्य नहीं किया है। इसलिए श्री कृष्ण के बारे में यह आपत्ति नहीं चल सकती है।

मैंने जो कहा है, वह मैं अपने मन से कहता हूँ, ऐसा मत समझिए। पुराण बनाने वाले ऋषियों ने भी यही कहा है। पर बात यह है कि परंपरा से जो किंवदन्तियाँ चली आती हैं उनके सत्यासत्यनिर्णय की चाल उस समय नहीं

थी, इससे अनेक अस्वाभाविक घटनाएँ इतिहास और पुराणों में मिल गई हैं। विष्णु पुराण में लिखा है :

मनुष्यधर्मशीलस्य लीला सा जगतःपति।
अस्त्राण्यनेकरूपाणि यदरातिषु मुञ्चति।।
मनसैव जगत्सृस्टिं संहारञ्च करोति यः।
तस्यारिपक्षक्षपणे कोऽयमुद्यमविस्तरः।।
तथापि यो मनुष्याणां धर्मस्तमनुवर्तते।
कुर्वन् बलवता संधि हीनैर्युद्धं करोत्यसौ।।
सामचापप्रदानञ्च तथा भेदं प्रदर्शयन्।
करोति दण्डपातञ्च कच्चिदेव पलायनम्।।
मनुषादेहिनां चेष्टामित्येवमनुवर्त्ततः।
लीला, जगत्पतेस्वस्य कृन्दतः संप्रवर्त्तते।।

5 अंश, 22 अध्याय 14-18।

अर्थात् जगपति होकर भी उसने शत्रुओं पर जो अस्त्र चलाए वह मनुष्य धर्म के कारण उसकी लीला है। नहीं तो जो मन से ही जगत् की सृष्टि और संहार करता है, वह शत्रुओं के विनाश के हेतु बहुत उद्यम क्यों करेगा? वह मनुष्य धर्म का अनुसरण करता है, इसीलिए वह बलवान् के संग संधि, बलहीन के संग युद्ध करता है, साम, दाम और भेद से दंड देता है और कभी भाग जाता है। मनुष्य धर्म का अनुकरण करने वाला वह जगपति अपनी इच्छा से यह लीलाएँ करता था। मैं भी यही बात कहता हूँ। आशा है, अब पाठक यह नहीं मानेंगे कि श्री कृष्णचंद्र ने मनुष्य देह धारण कर दैवी शक्ति से काम लिया था—[20] अब लीजिए तीसरा नियम भी स्थिर हो गया। तीनों नियमों को फिर स्मरण करा देता हूँ :

(क) जो प्रमाण से क्षेपक सिद्ध होगा उसे छोड़ना पड़ेगा।

(ख) जो असंभव और अस्वाभाविक होगा उसे छोड़ना होगा।

(ग) जो न क्षेपक हो और न अस्वाभाविक, पर और तरह से असत्य सिद्ध हो, उसे भी छोड़ना होगा।

XIV : पुराण

महाभारत की ऐतिहासिकता के बारे में जो कहना था वह कह चुका। अब पुराणों के विषय में जो कहना है, वह कहता हूँ।

पुराणों के संबंध में देशी और विदेशी दोनों ही भ्रम में पड़े हैं। देशी कहते हैं कि सब पुराण एक ही मनुष्य के बनाए हैं और विदेशी कहते हैं कि नहीं, प्रत्येक पुराण का बनाने वाला अलग-अलग है। अच्छा, पहले देशी भाइयों के कथन की ही आलोचना करता हूँ।

अष्टादश पुराण एक मनुष्य के बनाए नहीं हैं, इसके कुछ प्रमाण देता हूँ :

(क) एक मनुष्य की लेखशैली एक ही तरह की होती है। एक मनुष्य के हाथ की लिखावट जैसे पाँच तरह की नहीं होती वैसे ही एक मनुष्य की लेखशैली कई तरह की नहीं होती है। इन अठारह पुराणों की लेखशैली अठारह तरह की है। यह सभी एक मनुष्य के बनाए नहीं हैं। जो विष्णु पुराण और भागवत पुराण पढ़कर कहे कि यह दोनों एक ही मनुष्य के बनाए हो सकते हैं, उसके आगे कोई प्रमाण उपस्थित करना झक मारना है।

(ख) एक व्यक्ति एक विषय के अनेक ग्रंथ नहीं लिखता है। जो अनेक ग्रंथ लिखता है वह एक ही विषय का बारंबार वर्णन करने के लिए नहीं लिखता। पर अठारहों पुराणों में एक ही विषय बारंबार विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। यह कृष्ण चरित्र ही इसका उदाहरण हो सकता है। यह ब्रह्म पुराण के पूर्व भाग में, विष्णु पुराण के प्रथम अंश में, वायु पुराण में और फिर श्रीमद्भागवत के दशम और एकादश स्कंध में है। फिर ब्रह्मवैवर्त्त के तृतीय खंड में और पद्म, वामन और कूर्म पुराणों में संक्षेप से है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयों का वर्णन भी पुराणों में बारंबार है। एक व्यक्ति की लिखी हुई पुस्तक में ऐसा होना असंभव है।

(ग) और यदि यह आठारहों पुराण एक ही मनुष्य के लिखे होते तो उनमें गुरुतर विरोध की कुछ संभावना न रहती। पर इन पुराणों में स्थान-स्थान पर ऐसी बातें लिखी हैं जो एक दूसरे से मिलती नहीं। इसी कृष्ण चरित्र को लीजिए—जितने पुराण हैं उनमें यह उतने ही प्रकार से वर्णित है। यह वर्णन एक दूसरे से मिलता नहीं है।

(घ) विष्णु पुराण में लिखा है :

अख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणं संहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः।।

प्रख्यातो व्यासशिष्योभूत सूतो वै लोमहर्षणः।
पुराणसंहितांतस्मै ददौ व्यासो महामुनिः।
सुमतिश्चाग्निवर्च्चाश्च मित्रायुः शांशपायनः।
अकृतब्रणोऽथ सवार्णिः षटशिष्यास्तस्य चाभवन्।
काश्यपः संहिताकर्त्ता सावर्णिः शांशपायनः।
लौमहर्षणिका चान्या त्रिसृणां मूलसंहिता।।

विष्णु पुराण 3 अंश 6 अध्याय 16-19 श्लोक।।

पुराणों का अर्थ जानने वाले वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के द्वारा पुराणसंहिता बनाई थी। लोमहर्षण नामक सूत व्यासजी के विख्यात शिष्य थे। महामुनि व्यास ने उन्हें पुराणसंहिता दे दी। सुमति, अग्निवर्च्चा, मित्रायु, शांशपायन, अकृतव्रण, सावर्णि–ये छः व्यासजी के शिष्य थे। काश्यप, सावर्णि और शांशपायन ने उस लौमहर्षणिका मूलसंहिता से तीन संहिताएँ बनाईं।

फिर भागवत देखिए, उसमें लिखा है :

त्रय्यारुणिः काश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रण।
शिंशपायन हारीतौ षडै पौराणिका इमे।।
अधीयन्त व्यास शिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात्।[20]
एकैकाहमेतेषां शिष्याः सर्वाः समध्यगाम्।।
काश्यपोऽहञ्च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः।
अधोमहि व्यामशिष्याच्चत्वारो मूलसंहिताः।

श्रीमदभागवत, 12 स्कंध 7 अध्याय 4-6 श्लोक।

त्रयारुणि, काश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, शिंशपायन, हारीत, ये छः पौराणिक हैं।

वायु पुराण में कुछ और ही नाम हैं :

आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो हं कृतव्रणः।

अग्नि पुराण क्या कहता है वह भी सुन लीजिए :

प्राप्य व्यासात् पुराणादि सूतो वै लोमहर्षणः।
समुतिश्चाग्निवर्च्चाश्च मित्रायुः शांसपायनः।।
कृतव्रणोऽथ सावर्णिः शिष्यास्तस्य चाभवन्।
शांसपायनादयश्चक्रुः पुराणानान्तु संहिताः।।

इन वचनों से तो यही जाना जाता है कि प्रचलित अष्टादश पुराण वेदव्यास

के बनाए नहीं हैं। उनके चेले-चाटियों ने जो पुराण-संहिता बनाई थी वह भी आजकल नहीं मिलती है। जो आजकल मिलती है वह कब बनी और किसने बनाई इसका कुछ ठिकाना नहीं।

अब यूरोप वालों के भ्रम के बारे में लिखता हूँ। यूरोप के विद्वान यही समझते हैं कि जितने पुराण हैं उनके बनाने वाले भी उतने ही हैं। इसी भ्रम में पड़कर वह वर्तमान पुराणों के बनने का समय निरूपण करते हैं। यदि सच पूछिए तो एक भी पुराण आदि से अंत तक एक मनुष्य का लिखा नहीं है। वर्तमान पुराण संग्रह मात्र है। समय-समय पर जो बातें लिखी गई हैं उनका ही इनमें संग्रह कर लिया गया है। इसे जरा और खुलासा कर समझाता हूँ।

पुराण का अर्थ पहले पुरातन था। पीछे पुरातन घटनाओं का वर्णन हुआ। सदा ही पुरातन घटनाएँ थीं, इसलिए सदा ही पुराण भी थे। वेदों में भी पुराण हैं। शतपथ ब्राह्मण में, गोपथ ब्राह्मण में, आश्वलायन सूत्र में, अथर्व संहिता में, बृहदारण्यक में, छान्दोग्योपनिषद् में, महाभारत में, रामायण में, मानव धर्म शास्त्र में जहाँ देखो वहाँ पुराणों के होने की बात पाई जाती है। किंतु इन सब ग्रंथों में से किसी में भी आजकल के पुराणों के नाम नहीं हैं। पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि अति प्राचीन काल में यहाँ लिखने पढ़ने की चाल रहने पर भी कोई ग्रंथ लिखकर नहीं रखता था। जो कोई कुछ बनाता वह उसे याद कर लेता था। फिर वह दूसरे को सिखाता। इसी तरह एक दूसरे से सीखकर लोग ग्रंथों का प्रचार करते थे। प्राचीन पौराणिक कथाएँ इसी तरह एक मुँह से दूसरे मुँह में पड़कर कहानियाँ बन गई थीं। पीछे किसी समय यही सब कहानियाँ और पुरानी कथाएँ इकट्ठी करके एक-एक पुराण बनाया गया। वैदिक सूत्र भी इसी प्रकार संगृहीत हो ऋक्, यजु, साम नाम से तीन संहिताओं में विभक्त हुए। जिन्होंने वेदों का विभाग किया था उन्हें ही 'व्यास' की उपाधि मिली थी। 'व्यास' नाम नहीं, उपाधि है। उनका नाम कृष्ण है, उनका जन्म द्वीप में हुआ था इस कारण वह कृष्ण द्वैपायन कहलाए।

यहाँ पुराण संग्रह करने वालों के विषय में दो मत हो सकते हैं। एक यह कि जो वेदों का विभाग करने वाले हैं वही पुराणों के भी संग्रह करने वाले नहीं हो सकते, पर जो पुराण के संग्रह कर्त्ता हैं उनकी भी उपाधि 'व्यास' होनी संभव है। वर्तमान अष्टादश पुराण एक मनुष्य के बनाए या एक ही समय विभक्त या संगृहीत हुए हैं, ऐसा मालूम नहीं होता है। ये पृथक्-पृथक् समय में संगृहीत हुए हैं। इसके प्रमाण इन पुराणों में ही भरे पड़े हैं। जिन्होंने कई पौराणिक वृत्तांत

पढ़कर एक संग्रह तैयार किया, वही व्यास नाम के अधिकारी है। शायद इसी से लोग कहते कि अठारहो पुराण व्यास के बनाए हैं। पर व्यास एक नहीं है। कई आदमियों ने व्यास की उपाधि पाई थी। ऐसा सोचने का कारण है। वेदों के विभाग कर्त्ता व्यास, महाभारत के रचयिता व्यास, अष्टादश पुराणों के प्रणेता व्यास, वेदांतसूत्रकार व्यास, यहाँ तक कि पातंजल दर्शन के टीकाकार भी व्यास ही हैं। यह सब व्यास एक हो नहीं सकते। अभी उस दिन काशी में भारत मंडल का अधिवेशन हुआ था। समाचार पत्रों में पढ़ा उसमें दो व्यास उपस्थित थे। एक का नाम हरेकृष्ण व्यास और दूसरे का अंबिकादत्त व्यास था। अनेक मनुष्यों ने व्यास उपाधि धारण की थी, इसमें संदेह नहीं। वेद विभाग कर्त्ता व्यास, महाभारत रचयिता व्यास और अष्टादश पुराणों के संग्रहकर्त्ता अठारह व्यास एक मनुष्य नहीं हैं और यही संभव भी जान पड़ता है।

दूसरा मत यही हो सकता है कि पुराणों के पहले संग्रहकर्त्ता कृष्ण द्वैपायन ही हैं। उन्होंने जिस प्रकार वैदिक सूक्तों को संग्रह किया था उसी प्रकार पुराणों का भी किया। विष्णु, भागवत, अग्नि प्रभृति पुराणों से जो श्लोक उद्धृत किए हैं उनसे यही मालूम होता है। हम यही मत मानने के लिए तैयार हैं। पर इससे भी यही सिद्ध होता है कि वेदव्यास ने एक पुराण संग्रह किया था, अठारह नहीं। अब वह नहीं है। उनके चेले-चाटियों ने उससे तीन वनाए थे, अब वे भी नहीं मिलते हैं। अनेक मनुष्यों के हाथों में पड़कर वह धीरे-धीरे तीन से अठारह हो गए।

इसमें से चाहे जो मत ग्रहण किया जाए, किसी विशेष पुराण के समय का निरूपण करने की चेष्टा से बस यही मालूम हो सकता है कि कब, कौन पुराण संकलित हुआ। पर मुझे इतना होता भी नहीं दिखाई देता है, क्योंकि ग्रंथों के बनने और संग्रह हो जाने के बाद उनमें क्षेपक मिलाया जा सकता है, और जान पड़ता है पुराणों में ऐसा हुआ भी है। इसलिए संग्रह का समय कैसे निरूपण होगा? अच्छा, इसे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। मत्स्य पुराण में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के विषय में ये दो श्लोक लिखे हैं :

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य यत्।
सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यसंयुतम्।।
यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वणर्यते मुहः।
तदष्टादश साहस्रं ब्रह्मवैवर्त्तमुच्यते।।

अर्थात् सावर्णि जिस पुराण में रथंतर कल्प के वृत्तांत के अनुसार कृष्ण माहात्म्य की कथा नारद से कहते हैं और जिसमें बारंबार ब्रह्मवराह चरित कहा गया है, वही अठारह हजार श्लोकों का ब्रह्मवैवर्त्त पुराण है।

आजकल जो ब्रह्मवैवर्त्त पुराण प्रचलित है वह सावर्णि नारद से नहीं कहते हैं। नारायण नामक एक दूसरा ऋषि नारद से कहता है। इसमें न रथंतर कल्प की कथा है और न ब्रह्मवराह चरित की चर्चा ही है। इसमें प्रकृति और गणेश दो खंड हैं, जिनका उल्लेख ऊपर के दोनों श्लोकों में नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन ब्रह्मवैवर्त्त पुराण अब नहीं है। जो ब्रह्मवैवर्त्त के नाम से प्रचलित है वह नया बना है। इसे देखकर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के संकलन का समय निरूपण करना विचित्र बात मालूम होती है।

विलसन साहब ने पुराणों के बनने का समय इस प्रकार ठीक किया है :

ब्रह्म पुराण—ईसवी सन् की तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी
पद्म पुराण—तेरहवीं और सोलहवीं शताब्दी के बीच में[21]
विष्णु पुराण—दसवीं शताब्दी
वायु पुराण—समय निश्चय नहीं हुआ, प्राचीन
भागवत—तेरहवीं शताब्दी
नारद पुराण—सोलहवीं या सतरहवीं शताब्दी
मार्कण्डेय—नवीं या दसवीं
अग्नि—ठीक नहीं, अति नवीन
भविष्य—ठीक नहीं
लिंग पुराण—आठवीं या नवीं शताब्दी के इधर-उधर
वराह—बारहवीं
स्कंद—पाँच पुराणों का संग्रह (भिन्न भिन्न समय)
वामन—तीन चार सौ वर्ष का बना
कूर्मा—प्राचीन नहीं है
मत्स्य—पद्म पुराण के भी बाद
गरुड, ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्मांड } प्राचीन नहीं, और ये पुराण भी नहीं हैं

पाठक, विलसन साहब के मत से (यही मत प्रचलित है) तो एक भी पुराण एक हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। अंग्रेजी पढ़कर जिनकी बुद्धि बिगड़ी

है उनके सिवा ऐसा कोई हिंदू नहीं है जो विलसन साहब के बताए हुए समय को ठीक मानेगा। दो चार शब्दों में इसका अनौचित्य दिखाया जा सकता है। यहाँ वालों का विश्वास है कि कालिदास विक्रमादित्य के समय में हुए थे और विक्रमादित्य ईसवी सन् के 56 वर्ष पहले जीवित थे। पर अब यह बातें कोई नहीं मानता है। डॉ. भाओदाजि ने निश्चय किया है कि कालिदास ईसवी सन् की छठी शताब्दी में हुए। आज कल सारा यूरोप और यूरोप वालों के देशी चेले उनके ही सुर में सुर मिलाते हैं। मैं भी वही करता हूँ। इसलिए कालिदास छठी शताब्दी के ही मनुष्य हुए। विलसन साहब ने तो यही स्थिर किया है कि जितने पुराण हैं सब ही कालिदास के बाद बने हैं। परंतु कालिदास 'मेघदूत' में कहते है :

येनश्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते।
वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्यविष्णोः।।
15 श्लोक।

जो पाठक संस्कृत नहीं जानते हैं उन्हें अंतिम पंक्ति का अर्थ समझना पड़ेगा। मोरपंख से शोभित विष्णु के गोप वेश के साथ इंद्रधनुष से शोभित मेघ की उपमा दी गई है। गोप वेश विष्णु का नहीं, विष्णु के अवतार कृष्ण का था। वही मोरमुकुट धारण करते थे। उन्हीं के मोरपंख से इंद्रधनुष की तुलना की गई है। अब मैं विनयपूर्वक यूरोप के विकट विद्वानों से पूछता हूँ कि अगर छठी शताब्दी के पहले कोई पुराण नहीं था तो 'मेघदूत' में कृष्ण के मोरमुकुट की बात कहाँ से आयी? क्या यह बात वेदों में, महाभारत या रामायण में है? पुराण या उनके अनुवर्ती गीतगोविंद आदि काव्यों के सिवा और कहीं नहीं है। हरिवंश में है सही, पर विलसन साहब की राय से तो वह भी विष्णु पुराण के बाद का है। इससे यह निश्चित है कि कालिदास के पहले अर्थात् कम से कम छठी शताब्दी के पहले हरिवंश या और कोई वैष्णव पुराण प्रचलित था।

और एक बात कह कर यह विषय समाप्त करूँगा। अभी जो ब्रह्मवैवर्त्त पुराण प्रचलित है, वह प्राचीन ब्रह्मवैवर्त्त न होने पर भी, कम से कम एक हजार साल से पहले का जरूर है। क्योंकि गीतगोविंद के कर्त्ता जयदेव गोस्वामी गौड़ाधिपति लक्ष्मणसेन के सभा पंडित थे। और लक्ष्मणसेन बारहवीं शताब्दी के पहले भाग में हुए थे। बाबू राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने यह सिद्ध किया है और अंग्रेजों ने इसे स्वीकार भी कर लिया है। यह मैं आगे चलकर दिखाऊँगा कि यह ब्रह्मवैवर्त्त पुराण उस समय प्रचलित और अत्यंत सम्मानित न होता, तो गीतगोविंद कभी

न लिखा जाता और इस ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के श्री कृष्ण जन्म खंड का पंद्रहवाँ अध्याय उस समय प्रचलित न होता, तो गीतगोविंद का पहला श्लोक 'मेघैर्मेदुरमंबरम्' इत्यादि कभी नहीं बनता। इस हेतु यह भ्रष्ट ब्रह्मवैवर्त्त भी ग्यारहवीं शताब्दी के पहले का है। पहला ब्रह्मवैवर्त्त न जाने और कितने पहले का है। पर विलसन साहब के विचार से यह केवल दो सौ वर्ष का है।

अठारहों पुराण मिलाकर पढ़ने से यह जान पड़ता है कि कई पुराणों के कुछ श्लोक एक ही प्रकार के हैं। कहीं कुछ पाठांतर है और कहीं ज्यों के त्यों हैं। ऐसे कई श्लोक इस पुस्तक में उद्धृत हुए हैं और होंगे। नंद महापद्म का समय स्थिर करने के लिए जो कई श्लोक उद्धृत कर चुका हूँ, वह इस बात का उदाहरण हो सकते हैं। पर उससे भी बड़ा एक और उदाहरण देता हूँ। ब्रह्मपुराण के उत्तर भाग में श्री कृष्ण का चरित विस्तारपूर्वक लिखा गया है और विष्णु पुराण के पाँचवें अंश में भी श्री कृष्ण चरित विस्तार से वर्णित है। दोनों में कुछ भेद नहीं, एक- एक अक्षर का मेल है। इस पाँचवें अंश में अट्ठाईस अध्याय हैं। विष्णु पुराण के इन अट्ठाईस अध्यायों में जो श्लोक हैं वही ब्रह्म पुराण के कृष्ण चरित्र में हैं और ब्रह्म पुराण के कृष्ण चरित में जो श्लोक हैं वह सबके सब विष्णु पुराण के कृष्ण चरित में हैं। इस विषय में इन दोनों पुराणों में कुछ भी भेद या न्यूनाधिक नहीं है। नीचे लिखे तीन कारणों में से किसी एक से ऐसा होना संभव है :

(क) ब्रह्मपुराण की चोरी विष्णु पुराण में है।
(ख) विष्णु पुराण की चोरी ब्रह्म पुराण में है।
(ग) किसी की किसी में चोरी नहीं है। यह दोनों ही व्यासजी की पहली पुराण संहिता के अंश हैं। ब्रह्म और विष्णु दोनों पुराणों ने ही वह अंश रखा है।

पहले दोनों कारण ठीक नहीं मालूम होते, क्योंकि इस प्रकार किसी ग्रंथ से अध्याय के अध्याय चुरा लेना असंभव है और ऐसी चोरी कहीं देखी भी नहीं जाती। जो ऐसी चोरी करेगा वह कुछ हेरफेर भी कर सकता है और उसकी रचना भी ऐसी नहीं है जिसमें कुछ फेरफार न हो सकता हो। और केवल अट्ठाईस अध्यायों का एक ही रूप इन दोनों पुराणों में देखने से चोरी की बात मन में उठ सकती थी, पर और भी कई पुराणों में श्लोकों का यह हेलमेल देखने में आता है। घटनाओं के संबंध में भी पुराणों का आपस में कहीं तो बड़ा भारी मेल है और कहीं उतना ही विरोध भी है। इससे सिद्ध होता है कि पहले एक पुराण संहिता थी जिसके

विषय में पहले मैं कह चुका हूँ। वह पुराण संहिता कृष्ण द्वैपायन व्यास की बनाई न भी हो सकती है। पर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि वह बहुत प्राचीन समय में रची गई थी। क्योंकि आगे चलकर मैं दिखाऊँगा कि पुराणों में लिखी हुई अनेक घटनाओं का अखंडनीय प्रमाण महाभारत में मिलता है, पर उनका पूरा विवरण उसमें नहीं है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि पुराण बनाने वालों ने वह घटनाएँ महाभारत से ली हैं।

यदि हम विलायती ढँग से पुराणों के संग्रह किए जाने का समय निरूपण करें, तो क्या फल निकलेगा, अब वह भी जरा देख लेना चाहिए। विष्णु पुराण के चौथे अंश के चौबीसवें अध्याय में मगध के राजाओं की वंशावली का वर्णन है। विष्णु पुराण में जो वंशावलियाँ हैं वे भविष्यवाणी के ढँग पर लिखी गई हैं। अर्थात् विष्णु पुराण का प्रणेता इस प्रकार भूमिका लिखता है मानों वेदव्यास के पिता पराशर कलिकाल के आरंभ में उसे लिख रहे हैं। उस समय नंद वंश के आधुनिक राजाओं ने जन्म ग्रहण नहीं किया था। किंतु उक्त राजाओं के समय या पश्चात् के क्षेपककारों की यही ईच्छा थी कि नंद वंश के राजाओं के नाम उसमें आ जाएँ। पर भविष्यवाणी का आडंबर किए विना यह काम नहीं हो सकता था और न वह पराशरकृत ही कहला सकता था। इसीलिए संग्रह करने वाले या क्षेपक मिलाने वाले राजाओं के बारे में लिखते हैं कि पहले अमुक राजा होगा, उसके बाद अमुक होगा और फिर अमुक होगा। उन्होंने जिन राजाओं के नाम लिए हैं, उनमें से कितनों के ही नाम इतिहास में मिलते हैं। और उनके राज्य के संबंध में बौद्ध ग्रंथ, यवन ग्रथ, संस्कृत ग्रंथ, शिलालेख आदि बहुत प्रकार के प्रमाण मिल चुके हैं। नंद महापद्म, मौर्य चंद्रगुप्त, बिंदुसार, अशोक, पुष्पमित्र, पुलिमान, शकवंशी राजा, अंध्रवंशी राजा प्रभृति के नामों के बाद लिखा है : "नवनागः पद्मत्वात् कान्तिपूर्य्यां मथुरायामनुगंङ्गाप्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति।"[22] इन्हीं गुप्तवंशी राजाओं का समय फ्लीट साहब ने कृपा कर के ठीक किया है। इस वंश का पहला राजा महाराजगुप्त था। उसके बाद घटोत्कच और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने राज किया। फिर समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा। ये सब राजा ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में हुए थे। पाँचवीं शताब्दी में द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त, स्कंदगुप्त और बौद्धगुप्त हुए। ये सब राजा हुए या नहीं, यह जाने बिना, पुराणकार कभी ऐसा नहीं लिख सकते थे। इसलिए यह गुप्तों के समय के हैं या उनके बाद के। यदि ऐसी बात हो, तो यह पुराण ईसवी सन् की चौथी या पाँचवीं शताब्दी में बने थे। परंतु यह हो सकता है कि इन गुप्त राजाओं के

नाम विष्णु पुराण के चौथे अंश में पीछे मिला दिए गए हों। यह भी हो सकता है कि चौथा अंश एक समय बना और बाकी अंश किसी दूसरे समय। पीछे सब एकत्र किए गए और उसका नाम विष्णु पुराण रख दिया गया। यह कब एकत्र हुआ, इसका कोई ठिकाना नहीं। आजकल भी यूरोप तथा यहाँ ऐसा होता है। समय-समय पर जो लिखा जाता है उसे संग्रह करके एक ग्रंथ बना लिया जाता है और फिर उसका एक नया नाम रख दिया जाता है। जैसे अंग्रेजी में 'परसी रेलिक्स' और बंगला में रसिकमोहन चट्टोपाध्याय संकलित 'फलित ज्योतिष' है[23]। मेरे विचार में सब पुराण ही इस प्रकार के संग्रह हैं। उक्त दोनों पुस्तकें आधुनिक संग्रह हैं, पर जो विषय उनमें संगृहीत हुए हैं वे सब पाचीन हैं। संग्रह आधुनिक होने से विषय आधुनिक नहीं हो गए।

हाँ, ऐसा अकसर हो जाता है कि संग्रहकर्त्ता अपनी बनाई चीजें संग्रह में घुसेड़ देते हैं या पुरानी बातों को नोनमिर्च लगाकर नए सांचे में ढाल देते हैं। विष्णु पुराण इस दोष से बच गया है, परंतु भागवत उसमें बेतरह फँस गया है। लोग कहते हैं कि भागवत बोपदेव का बनाया है। बोपदेव देवगिरि के राजा हेमाद्रि के सभासद थे। यह तेरहवीं शताब्दी में हुए थे। पर बहुत से हिंदू भागवत को बोपदेव का बनाया नहीं मानते हैं। वैष्णवों का कहना है कि भागवत द्वेषी शक्ति ने यह बात उड़ाई है।

भागवत के पुराण होने के बारे में बड़े झगड़े हुए हैं। शाक्त कहते हैं, यह पुराण ही नहीं है, देवी भागवत ही भागवत पुराण है। वह लोग ''भागवत इदं भागवतं'' न कह ''भगवत्या इदं भागवतं'' यह अर्थ करते हैं। कुछ लोग इस प्रकार की शंका करते हैं इसी से श्रीधर स्वामी भागवत के पहले श्लोक की टीका में लिखते हैं : ''भागवतं नामान्य-दित्यपि ना शंकनीयम्।'' इससे यह समझना होगा कि श्रीधर स्वामी के पहले से ही यह झगड़ा है कि भागवत पुराण नहीं है, देवी भागवत ही असली पुराण है। उस समय दोनों पक्ष वालों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में जो पुस्तकें लिखीं हैं, उन्के नामों से परिमार्जित रुचि का परिचय मिलता है। एक पुस्तक का नाम है 'दुर्ज्जनमुखचपेटिका'। इसके उत्तर में जो पुस्तकें बनी हैं उनके नाम 'दुर्ज्जनमुखमहाचपेटिका' और 'दुर्ज्जनमुखपद्मपादुका' हैं। इनके बाद 'भागवत स्वरूप-विषय शंकानिराशत्रयोदशः' आदि कई पुस्तकें बनी हैं। मैंने ये सब पुस्तकें नहीं देखी हैं, पर यूरोप के विद्वानों ने देखी हैं और बोरनफ साहब ने 'चपेटिका,' 'महाचपेटिका,' और 'पादुका' का उलूथा भी किया है। विलसन साहब ने विष्णु पुराण के भाषांतर की भूमिका में इस विवाद का सार-संग्रह करके

दे दिया है। खैर, मुझे इन बातों से कुछ मतलब नहीं। जिन्हें शौक हो वह विलसन साहब की पुस्तक देख लें। मेरे कहने का निचोड़ यही है कि भागवत में भी बहुत सी पुरानी बातें हैं, पर उसमें नई भी बहुत सी मिलाई गई हैं। जो पुरानी हैं, वह भी नोनमिर्च लगाकर चरपरी कर दी गई हैं। भागवत और पुराणों से नया मालूम होता है। अगर ऐसा न होता तो इसके पुराण होने के बारे में इतना झगड़ा क्यों उठता?

जिन पुराणों में कृष्ण चरित्र की चर्चा नहीं है, उनकी आलोचना व्यर्थ है। जिन पुराणों में कृष्ण चरित्र की कुछ भी चर्चा है उनमें से ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त में ही विस्तृत विवरण है। इन चारों में से ब्रह्म पुराण और विष्णु पुराण में तो एक ही बात है। इसलिए मेरी इस पोथी में विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त के सिवा और किसी पुराण की जरूरत नहीं पड़ेगी। इन तीनों पुराणों के विषय में जो कहना था सो कह चुका। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के संबंध में आगे चलकर और भी कुछ कहूँगा। हरिवंश पुराण के बारे में अभी कुछ नहीं कहा है सो अब कहता हूँ।

XV : हरिवंश

हरिवंश में ही लिखा है कि महाभारत कहे जाने के बाद उग्रश्रवा ने शौनकादि ऋषियों की प्रार्थना पर हरिवंश कहा था। इससे यह महाभारत के पीछे का है। पर महाभारत में कितना पीछे बना इसका निरूपण होना आवश्यक है। महाभारत के पर्वसंग्रहाध्याय के केवल अंतिम श्लोक में हरिवंश का उल्लेख है। यह श्लोक नवें परिच्छेद में दे चुका हूँ। महाभारत के अठारहों पर्वों के सब विषयों का संक्षिप्त वर्णन पर्वसंग्रहाध्याय में है, पर हरिवंश के सब विषयों का नहीं है। इन श्लोकों के पढ़ने से जान पड़ता है कि पर्वसंग्रहाध्याय बनने के समय हरिवंश की कोई चर्चा नहीं थी। एक लाख श्लोक मिलाने के लिए किसी ने अंत में यह श्लोक जोड़ दिया है। हरिवंश पर्व, विष्णु पर्व और भविष्य पर्व ये तीन पर्व हरिवंश में इस समय है। परंतु महाभारत के पूर्वोक्त श्लोकों में केवल हरिवंश पर्व और भविष्य पर्व के नाम हैं, विष्णु पर्व का नहीं है। लिखा है कि हरिवंश और भविष्य में बारह सहस्त्र श्लोक हैं। इस समय तीनों पर्वों में सोलह सहस्र से अधिक श्लोक मिलते हैं। इससे निश्चय ही महाभारत में यह श्लोक घुसेड़े जाने के बाद ही हरिवंश में विष्णु पर्व मिलाया गया है।

कालीप्रसन्न सिंह महोदय ने अठारहों पर्व महाभारत के बंगला भाषांतर के साथ हरिवंश का भाषांतर नहीं छापा। इसका कारण उन्होंने इस प्रकार लिखा है :

> बहुत लोग महाभारत के अठारहों पर्वों के सिवा हरिवंश को भी उसका अंश मानते हैं और उसे आश्चर्य या उन्नीसवाँ पर्व कहते हैं। परंतु वास्तव में हरिवंश महाभारत का पर्व नहीं है। मूल महाभारत बनने के बहुत दिनों बाद वह उसमें परिशिष्ट की तरह जोड़ दिया गया है। विचक्षण व्यक्ति हरिवंश का रचना प्रणाली तथा उसके तत्त्व की आलोचना करने से उसका आधुनिक होना अनायास ही समझ सकेंगे। मूल महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में यद्यपि हरिवंश श्रवण का फल लिखा है तथापि इससे हरिवंश का प्राचीन होना सिद्ध नहीं होता। उलटे फल-वर्णन का नया होना सिद्ध होता है। मूल महाभारत के उलूथे के साथ हरिवंश का उलूथा रहने से लोगों का भ्रम और भी दृढ़ हो जाएगा, इसलिए हरिवंश का उलूथा अभी नहीं दिया गया।

विलसन साहब हरिवंश के विषय में लिखते हैं :

> The internal evidence is strongly indicative of a date considerably subsequent to that of the major portion of the Mahabharata.[24]

मेरा भी यही विचार है। और हरिवंश को महाभारत के थोड़े दिन बाद का मान लेने से भी यह संदेह होता है कि, के विष्णु पर्व उसमें बहुत दिनों पीछे जोड़ दिया गया है। इस संदेह के कारण भी हैं। इन्हें दूर कर इन बातों का निश्चय करना टेढ़ी खीर है। सुबंधुकृत वासवदत्ता में हरिवंश के पुष्कर-प्रादुर्भाव का उल्लेख है। यूरप वालों ने स्थिर किया है कि सुबंधु ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी में हुआ था। इसलिए हरिवंश उस समय भी प्रचलित था। पर यह कब बना था इसका ठिकाना नहीं है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह महाभारत और विष्णु पुराण के बाद का और भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त के पहले का है।

किस प्रमाण के भरोसे में यह कहने का साहस करता हूँ, यह बतलाना बड़ा कठिन है। कृष्ण चरित्र के विचार का मूल मंत्र भी इसे ही कहना चाहिए। अगले परिच्छेद में यही समझाने का प्रयत्न करूँगा।

XVI : इतिहास का पूर्वापर क्रम

उपनिषद् में जहाँ सृष्टि का प्रसंग आया है वहाँ लिखा है, जगदीश्वर एक था, बहुत होने की इच्छा से उसने जगत् की सृष्टि की[25]। यह प्रसिद्ध अद्वैतवाद की मोटी बात है। यूरोप के वैज्ञानिक और दार्शनिक लोग बहुत खोज ढूँढ़ के बाद इस अद्वैतवाद के निकट आ रहे हैं। वे लोग कहते हैं, जगत् के आरंभ में सब एक था। पीछे धीरे-धीरे बहुत हो गए। प्रसिद्ध विकासवाद का यही स्थूल सिद्धांत है। एक से बहुत हुए कहने से केवल गिनती में बहुत नहीं बल्कि एकाङ्गित्व और बहुअङ्गित्व समझना होगा। जो अभिन्न था, वह भिन्न अंगों में परिणत हो गया। जो समजातिक था वह इतर जातिक हुआ। जो एकाकार था वह अनेकाकार हो गया। केवल जड़ जगत् के लिए यह नियम नहीं है, यह जीव जगत्, मानस जगत, समाज जगत् सबके लिए है। समाज जगत् के अंतर्गत जो कुछ है उसके लिए भी यही नियम है। साहित्य और विज्ञान समाज जगत् के अंतर्गत हैं, उनके लिए भी यही है। उपन्यास या आख्यान साहित्य के अंतर्गत हैं, उसके लिए भी यही है। यहाँ तक कि बाजारू गप्प के लिए भी यही नियम है। राम अगर श्याम से कहे कि ''मैं कल रात को अंधेरे में सोया था, कुछ खटका हुआ जिससे मैं डर गया था।'' तो श्याम अवश्य ही मोहन से जाकर कहेगा कि ''राम के घर कल रात को भूत का खटका हुआ था।'' इसके बाद यही संभव है कि मोहन सोहन से जाकर कहेगा, ''कल रात को राम ने भूत देखा।'' फिर सोहन राधे से कहेगा, ''राम के घर भूत का बड़ा उपद्रव होता है।'' अंत में तमाम जगह यह बात फैल जाएगी कि भूत के उपद्रव से राम के घर वाले बड़े दुःखी हो गए हैं।

यह तो हुई बाजारू गप्प की बात, अब प्राचीन उपाख्यानों की लीला सुनिए। इनके फैलने का एक विशेष नियम देखने में आता है। पहली अवस्था में तो नामकरण होता है, जैसे विष् धातु से विष्णु। दूसरी अवस्था में रूपक बनता है जैसे विष्णु के तीन पैर। सूर्य की तीन अवस्थाएँ हैं उदय, मध्याह्नस्थिति और अस्त। कोई कहता है कि यही तीन अवस्थाएँ विष्णु के तीन पैर हैं। कोई कहता है कि ईश्वर तीनों लोक में व्याप्त है इसलिए विष्णु के तीन पैर कहे गए हैं। कोई कहता है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् यही विष्णु के तीन पैर हैं, इत्यादि। तीसरी अवस्था में इतिहास बना जैसे बलि-वामन वृत्तांत। चौथी अवस्था में इतिहास का अतिरंजन हुआ, जैसे पुराणादि।

इसका एक और उदाहरण उर्वशी-पुरूरवा कथा है। इसकी पहली अवस्था यजुर्वेद संहिता में है। उसमें दो अरणियाँ ही उर्वशी-पुरूरवा हैं। वैदिक काल में

दियासलाई नहीं थी, और न चकमक पत्थर ही था। अगर ये दोनों चीजें थीं तो भी तो कम से कम यज्ञ की अग्नि के लिए यह काम में नहीं लाई जाती थीं। लकड़ी से लकड़ी रगड़ कर यज्ञ की अग्नि निकाली जाती थी। इसका नाम है 'अग्निचयन'। अग्निचयन के मंत्र हैं। यजुर्वेद संहिता की मध्यन्दिनी शाखा के पाँचवें अध्याय के दूसरे कांड में यह मंत्र है। तीसरे मंत्र से एक अरणी की और पाँचवें मंत्र से दूसरी अरणी की पूजा की जाती है। इन दोनों मंत्रों का उल्था यों है, "हे अरणी! अग्नि को उत्पत्ति के निमित्त हमने तुम्हें स्त्री माना है" (उत्पत्ति के लिए केवल स्त्री ही नहीं पुरुष भी चाहिए। इसलिए ऊपर कही हुई स्त्री-अरणी पर दूसरी अरणी रखकर कहना होगा)।

"हे अरणी! अग्नि उत्पन्न करने के हेतु हमने तुम्हें पुरुष माना है[26]।" चौथे मंत्र में अरणी स्पष्ट आज्य का नाम आयु है।

यह हुई पहली अवस्था। दूसरी अवस्था ऋग्वेद संहिता के[27] दसवें मंडल के 95 वें सूक्त में है। यहाँ उर्वशी और पुरूरवा अरणियाँ नहीं रहीं। ये अब नायक-नायिका हो गईं। पुरूरवा उर्वशी के विरह से शंकित है। यही रूपक अवस्था है। उर्वशी (पहली ऋचा में) कहती है, "हे पुरूरवा, तुम मुझसे प्रतिदिन तीन बार स्मरण करते थे।" इससे यज्ञ की तीनों अग्नियाँ सूचित होती हैं[28]। उर्वशी पुरूरवा को 'इलापुत्र' कहकर संबोधन करती है। इला शब्द का अर्थ पृथ्वी है[29]। पृथ्वी का ही पुत्र अरणि है।

महाभारत में पुरूरवा ऐतिहासिक चंद्रवंशी राजा है। चंद्र का पुत्र बुध, बुध का पुत्र इला, और इला का पुत्र पुरूरवा है। उर्वशी के गर्भ से इसके पुत्र हुआ जिसका नाम आयु है[30]। ऊपर यजुः का जो मंत्र दिया है, उसके देखने से पाठक समझ जाएंगे कि आयु वही अरणिस्पृष्ट आज्य है और कुछ नहीं। महाभारत में आयु का पुत्र प्रसिद्ध नहुष है। और नहुष का ययाति। ययाति के पुत्रों में से दो के नाम यदु और पुरु हैं। यदु यादवों के और पुरु कौरव-पांडवों के आदि पुरुष हैं। यही तीसरी अवस्था है। इसमें अरणि ऐतिहासिक सम्राट है।

चौथी अवस्था विष्णु, पद्म आदि पुराण हैं। पुराणों में तीसरी अवस्था के इतिहास उपन्यास के ढँग पर नोनमिर्च लगाकर लिखे गए हैं। इसके दो नमूने लीजिए। पहला यह है : इंद्र की सभा में उर्वशी नाचती-नाचती महाराज पुरूरवा पर मोहित हो बेताल हो गई। इस पर इंद्र ने क्रुद्ध हो शाप दिया जिससे वह स्वर्ग से गिर पुरूरवा के साथ पचपन वर्ष रही थी।

दूसरा नमूना यह है : पूर्व काल में किसी समय भगवान विष्णु धर्म पुत्र हो गंधमादन पर्वत पर बड़ी तपस्या करते थे। इंद्र उनकी उग्र तपस्या से भयभीत हुए। उन्होंने तपस्या में बिघ्न डालने के लिए बसंत और कामदेव को कुछ अप्सराओं के साथ भेजा। जब अप्सराएँ उनका ध्यान भंग न कर सकीं तब कामदेव ने अप्सराओं के उरू से उर्वशी को उत्पन्न किया। इसने उनका तपोभंग किया। इससे इंद्र बहुत प्रसन्न हुए और उसके रूप पर मोहित हो उसे लेना चाहा। वह भी राजी हो गई। पीछे मित्र और वरुण ने भी यही बात कही जिसे उसने अस्वीकार किया। इस पर उन दोनों ने शाप दिया। बस, उसी शाप के वश वह मनुष्य की पत्नी अर्थात् पुरूरवा की रानी हुई।

इन बातों की आलोचना से साफ मालूम होता है कि यजुर्वेद संहिता के पाँचवें अध्याय के मंत्र सबसे प्राचीन हैं। इसके बाद ऋग्वेद संहिता के दसवें मंडल के 95 सूक्त हैं। फिर महाभारत और फिर पद्मादि पुराण हैं।

हम जिन ग्रंथों के भरोसे कृष्ण चरित्र समझाने की चेष्टा करेंगे उनका पूर्वापर क्रम इसी नियम के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है। दो एक उदाहरण देकर यह समझा देता हूँ।

पहला उदाहरण पूतना बध का वृत्तांत है। इसकी पहली अवस्था किसी ग्रंथ में नहीं, केवल कोश में ही है, जैसे विष् धातु से विष्णु। पीछे पूतना यथार्थ में सूतिका गृह के बच्चे का रोग है। पर पूतना शकुनि का भी नाम है। इसलिए महाभारत में पूतना शकुनि है। विष्णु पुराण में वह एक सीढ़ी और भी आगे बढ़ी, अर्थात् रूपक बनी। पूतना 'बाल घातिनी' अर्थात् बालक मारने वाली हुई वह 'अति भयानक' है। उसका शरीर विशाल है।[31] नंद उसे देखकर भयभीत और चकित हो गए। तो भी वह मानवी थी[32]। हरिवंश में दोनों बातें मिल गईं। पूतना मानवी है सही, पर कंस की धात्री है। वह पक्षी बनकर व्रज आई थी। रूपक यहीं तक रहा। इसके बाद आख्यान या इतिहास है। तीसरी अवस्था पहले यहीं घुसी। पीछे भागवत में उसकी पराकाष्टा हुई। पूतना न रोग है, न पक्षी है और न मानवी ही है। वह भयंकर राक्षसी है। उसका शरीर छः कोस लंबा है, लंबे-लंबे दांत हैं, नाक के छेद पहाड़ की गुफा की तरह, स्तन दोनों छोटी-छोटी पहाड़ियों की तरह, नेत्र अंधकूप के सदृश, पेट जलरहित तालाब की तरह है। एक रोग धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते इतनी बड़ी राक्षसी बन गया। पाठक यह देखकर जरूर आनंदित होंगे, पर साथ ही स्मरण रखेंगे कि यह चौथी अवस्था है।

इससे मालूम होता है कि पहले महाभारत, पीछे विष्णु पुराण का पाँचवाँ अंश, फिर हरिवंश और सबके पीछे भागवत बना है।

अच्छा एक उदाहरण और लीजिए। काल शब्द में ईय प्रत्यय लगाने से 'कालीय' शब्द बनता है। कालीय का नाम महाभारत में नहीं है। विष्णु पुराण में उसका वृत्तांत है। पढ़ने से जाना जा सकता है कि यह काल और काल का भय निवारण करने वाले कृष्ण के पादपद्म का रूपक है। सांप के एक ही फन होता है, पर विष्णु पुराण में "बीच का फन" लिखा है। बीच का कहने से तीन फन मालूम होते हैं। भूत, वर्तमान, भविष्यत् यही कालीय के तीन फन हो सकते हैं। किंतु हरिवंशकार ने रूपक का असल अर्थ न समझा या उसमें नवीन अर्थ लाने की इच्छा से तीन के पांच फन कर दिए। भागवतकार ने इतने से तृप्त न होकर एक दम एक हजार फन बना[33] दिए।

अब तो कह सकता हूँ कि पहले महाभारत, पीछे विष्णु पुराण का पाँचवाँ अंश, फिर हरिवंश और सबके बाद भागवत है।

अब और उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। कृष्ण चरित्र पढ़ते-पढ़ते आप ही अनेक उदाहरण मिल जाएँगे। असल बात यह है कि जिन ग्रंथों में निर्मूल, अस्वाभाविक और अलौकिक बातें जितनी अधिक मिल गई हैं वे उतने ही नए हैं। इसी नियम के अनुसार आलोचना करने के योग्य जितने ग्रंथ हैं उनका क्रम इस प्रकार स्थिर होता है :

(क) महाभारत की पहली तह।
(ख) विष्णु पुराण का पाँचवाँ अंश।
(ग) हरिवंश।
(घ) श्रीमद्भागवत।

इनके सिवा और कोई ग्रंथ काम में लाना उचित नहीं है। महाभारत की दूसरी और तीसरी तहें बेजड़ होने के कारण निकम्मी हैं। पर उन्हें बेजड़ साबित करने के लिए उनकी आलोचना भी कहीं-कहीं की जाएगी। ब्रह्म पुराण का कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि जो विष्णु पुराण में है वही इसमें भी है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण परित्याग के योग्य है, क्योंकि असली ब्रह्मवैवर्त्त नहीं मिलता है। पर तो भी श्री राधा की कथा के लिए एक बार उससे भी काम लेना होगा। और पुराणों में कृष्ण की कथा बहुत संक्षेप से है, इसलिए उनसे कुछ मतलब नहीं। विष्णु पुराण के पाँचवें अंश के सिवा चौथे अंश की भी जरूरत स्यमंतक मणि, सत्यभामा और

जाम्बती की कथाओं के कारण पड़ेगी।

पुराणों के क्षेपक का निर्णय करना बड़ा कठिन है। महाभारत में जो लक्षण मिले हैं, वह हरिवंश तथा पुराणों में पाना कठिन है। परंतु महाभारत के लिए जो नियम बनाए हैं कि जो स्वभाव के विरुद्ध है उसे अनैतिहासिक और अलौकिक समझकर छोड़ना होगा तथा जो स्वाभाविक है उसमें भी यदि मिथ्या होने के लक्षण पाए जाएँ तो उसे भी छोड़ना होगा। बस वही पुराणों के लिए भी होंगे।

संदर्भ

1. 'जय श्री कृष्ण', कह कर मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि में बल्लभकुली अभिवादन करते हैं (भाषांतरकार)।
2. इसका हिंदी उल्था मेरे मित्र श्रीयुत महावीरप्रसाद गहमरी ने किया है और वह कलकत्ते के भारत मित्र प्रेस से सम्बद्ध था (भाषांतरकार)।
3. "Since Megasthenes says nothing of this epic, it is not an improbable hypothesis that its origin is to be placed in the interval between his time and that of Chrysostom, for what ignorant sailors took note of, would hardly have escaped his observations." *History of Sanskrit Literature*, Eng. tr., p. 186.
4. नक्षत्र यहाँ अश्विनी आदि है।
5. यह मैं सिद्ध कर सकता हूँ कि उस समय भी सौर मास ही प्रचलित थे। छः ऋतुओं की बात महाभारत में है। बारह महीने के बिना छः ऋतुएँ हो ही नहीं सकतीं।
6. सृंजय पंचाल देशवासी और उनके भाई-बंद हैं।
7. विदुर वैश्य था।
8. आज कल के ज्योतिषी यह नहीं कहते किंतु शतपथ ब्राह्मण में यह बात है—2 कांड, 1 अध्याय, 2 ब्राह्मण, 11।
9. बौद्ध ग्रंथकारों ने पांडव नाम की पहाड़ी जाति का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है। वह उज्जयिनी और कोशलवासियों की शत्रु थी। (Weber, *History of Indian Literature*, 1878, p. 185) महाभारत के पांडव हस्तिनापुरवासी बताए गए हैं सही लेकिन इस ग्रंथ में एक जगह लिखा है कि वह लोग हिमालय पर्वत पर कुछ दिन रहे और वहीं पाले-पोसे गए थे :

   एवं पाण्डोःसुता पञ्च देवदत्ता महावलाः।
   विवर्द्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ।।
   आदिपर्व 124। 27—29

इस प्रकार पांडु के देवताओं के दिए पाँच महाबली पुत्र पवित्र हिमालय पर्वत के ऊपर सयाने हुए।

प्लीनी और सलिनस नाम के दो ग्रीक ग्रंथकारों ने भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर दिशा के बाह्लीक देश के उत्तरांश में सोगडियरा देश के एक नगर का नाम पांडा लिखा है और सिंधु नदी के मुहाने के पास की जाति विशेष को भी पांडा बताया है। भूगोलविद्

टोलेमी ने वितस्ता नदी के निकट पांडा नाम के मनुष्य विशेष का होना बताया है। कात्यायन के पाणिनि सूत्र के एक वार्त्तिक में पांडु से पांडा शब्द बनाया है। लक्ष्मीधर ने अपनी षड्भाषा चंद्रिका में कैकेय, वाह्लीकादि उत्तर दिशा के कई जनपदों के साथ पांडा देश का भी नाम लिया है और उस देश समूह को पिशाच अर्थात् असभ्य देश विशेष बताया है। "पांडाकेकयवाह्लीक ...एतै पैशाचदेशाःस्यु।"

हरिवंश में दक्षिण दिशा के चोल केरलादि के साथ पांडा प्रदेश का नाम है। (हरिवंश 32 अध्याय 124 श्लोक) इसलिए यह दक्षिणपथ के अंतर्गत पांडा प्रदेश है। श्रीमान् विलसन साहब समझते हैं कि यह जाति पहले सोगडियना देश में रहती थी। वहाँ से धीरे-धीरे भारतवर्ष में चली आई और तमाम जगह फैल गई। पीछे हस्तिनापुर पहुँची और अंत में दक्षिणपथ जाकर उसने पांडा राज्य की स्थापना की। *Asiatic Researches*, vol. XV, pp. 95-96

राजतरंगिणी के मत से काश्मीर राज्य का पहला राजा कुरू वंश का था। इसलिए काश्मीर से पांडवों का हस्तिनापुर आकर उपनिवेश बनाना संभव है। वह लोग मध्य देशवासी होकर किस तरह पांडव कहलाए क्या यही समझाने के लिए पांडु के पुत्र पांडव की बात चलाई गई? उनके जन्म के संबंध की गोलमटोल बातें भी प्रसिद्ध ही हैं। लोगों को उनपर संदेह हुआ था इसका भी पता लगता है। "यदा चिरमृतः पांडुः कथं तस्यति चापर" (आदिपर्व 1। 117)। इधर-उधर लोग बोलने लगे पांडु को मरे बहुत दिन हो गए अब ये उनके लड़के कैसे हो सकते हैं?
अक्षयकुमार दत्त प्रणीत *भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय*, द्वितीय भाग, उपक्रमणिका, पृष्ठ 105। अक्षय बाबू यूरोप वालों के मतावलंबी हैं।

10. यह उदाहरण सिद्धांत कौमुदी का है।
11. महाभारत में बौद्ध शब्द पाया जाता है, किंतु इसका प्रक्षिप्त होना अनायास सिद्ध किया जा सकता है।
12. पाणिनि की अष्टाध्यायी में कृष्ण शब्द ढूँढ़ने पर भी नहीं मिला। पर कृष्ण शब्द पाणिनि के पहले प्रचलित था, इसमें संदेह नहीं, क्योंकि ऋग्वेद संहिता में कृष्ण शब्द बारंबार मिलता है। कृष्ण नाम के वैदिक ऋषि की कथा पीछे कहूँगा। इसके सिवा अष्टम मंडल के 96 वें सूक्त में कृष्ण नामक एक अनार्य्य राजा की कथा मिलती है। यह अनार्य कृष्ण अंशुमति नदी के किनारे रहता था। इसलिए यह निश्चित है कि वासुदेव कृष्ण नहीं है। पाठक इससे समझ सकते हैं कि पाणिनि के किसी सूत्र में कृष्ण शब्द रहने से वासुदेव कृष्ण की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती। हाँ उसमें यदि 'वासुदेव' नाम मिल जाए तो सिद्ध हो सकती है। और वह उसमें है।
13. यह शकुंतला के पालने वाले कण्व नहीं हैं। वह कण्व काश्यप थे। घोर पुत्र कण्व आंगिरस थे।
14. अवश्य ही अनुक्रमणिकाध्याय के 150 श्लोक छोड़ कर।
15. स्त्री-शूद्र-द्विजबंधूनां त्रयी न श्रुति गोचरा।
16. जैमिनि भारत का नाम सुनने में आता है। वेबर साहब ने इसका अश्वमेधपर्व देखा भी है। बाकी और संहिताएँ लुप्त हो गई हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है "सुमंत जैमिनि वैशम्पायन पैल-सूत्र-भारत महाभारत धर्माचार्याः।" इससे तो सुमंत सूत्रकार, जैमिनि भारतकार, वैशम्पायन महाभारतकार और पैल धर्मशास्त्रकार ठहरे।
17. "Our conception of the Deity is then bounded by the conditons which

bound all human knowledge. Therefore we cannot represent the Deity as he is but as he appears to us."

Mansel, *Metaphysics* p. 384.

18. इसकी विशद-व्याख्या 'धर्मतत्व' में देखिए।
19. कृष्ण, अर्थात् शरीरधारी ईश्वर यह कह रहा है।
20. "It is true that in the Epic poems Rama and Krishna appear as incarnations of Vishnu, but they at the same time come before us as human heroes and these two characters (the divine and the human) are so far from being inseparably blended together, that both of these heroes are for the most part exhibited in no other light than the highly gifted men acting according to human motives and taking no advantage of their divine superiority. It is only in certain sections which have been added for the purpose of enforcing their divine character that they take the character of Vishnu. It is impossible to read either of these two peoms with attention, without being reminded of the later interpolation of such sections as ascribe a divine character to the heroes, and of the unskilful manner in which these passages are often introduced and without observing how loosely they are often connected with the rest of the narrative, and how unnecessary they are for its progress."

Lasson, *Indian Antiquities*, quoted by Muir.

"In other places (अर्थात् भगवद्गीता पर्वाध्याय के सिवा) the divine nature of Krishna is less decidedly affirmed; in some it is disputed or denied; and in most of the situations he is exhibited in action, as a prince and warrior, not as a divinity. He exercises no superhuman faculties in defence of himself, or his friends, or in the defeat and desruction of his foes. The Mahabharata, however, is the work of various periods, and requires to be read through carefully and critically, before its weight as an authority can be accurately appreciated."

Wilson, Preface ot the *Vishnu Purana*.

21. इससे तो यह पुराण दो चार सौ वर्ष का हुआ।
22. विष्णु पुराण, 4 अंश, 24 अ, 18 श्लो.।
23. हिन्दी में कविवर लल्लूलाल कृत 'सभा विलास'। (भा. का.)।
24. Horace Hayman Wilson's *Essays Analytical, Critical, Philosophical on subjects connected with Sanskrit Literature*, vol. I, Dr. Reinhold Rost's Edition.
25. सोऽकामयत। बहुः स्यां प्रजाये-येति। तैत्तिरीयोपनिषद्, 2 बल्ली, 6 अनुवाक।
26. सत्यव्रत सामश्रमी के बंगला उलथे से।
27. अंग्रेज लोग कहते हैं कि ऋग्वेद संहिता और सब संहिताओं से पुरानी है। इसका मतलब

यह नहीं है कि ऋग्वेद संहिता के सब सूक्त साम और यजुसंहिता के सब मंत्रों से पुराने हैं। यदि कोई इसका यही मतलब समझता या कहता हो तो उसका यह भ्रम है। इसका असल मतलब यह है कि ऋग् के संहिता में ऐसे कई सूत्र हैं जो वेद मंत्रों से पुराने हैं। नहीं तो ऋग्संहिता में ऐसे भी अनेक सूक्त मिलते हैं जिन्हें अंग्रेज लोग भी स्पष्ट रूप से नवीन मानते हैं। बहुतेरे सूक्त यजुः, साम संहिता में भी हैं और ऋग्वेदसंहिता में भी हैं। एक संहिता दूसरी संहिता से पुरानी नहीं है, हाँ कुछ मंत्र कुछ मंत्रों से अवश्य पुराने हैं। पुराने मंत्र ऋगुसंहिता में अधिक हैं, पर उसमें ऐसे भी बहुत मंत्र हैं जो यजु, साम के मंत्रों से नए हैं। दसवें मडलका 95वां श्लोक इसका उदाहरण है।

28. मोक्षमूलर आदि इस रूपक का अर्थ करते हैं कि उर्वशी ऊपा और पुरूरवा सूर्य हैं। सोलर मिथ को यह लोग किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते हैं। यजु के जो मंत्र उद्धृत कर चुका हूँ उनसे तथा तीन बार संसर्ग की वात से पाठक देखें कि इस रूपक का असली अर्थ ही ऊपर दिया गया है।
29. सर्पमांसात् पशूव्याऽड़ौ गोभुः वाचास्त्विडा इला इत्यमरः।
30. कहीं-कहीं 'आयुः' लिखा है।
31. एक टीकाकार ने टीका में 'राक्षसी' लिखा है। पर मूल विष्णु पुराण में यह नहीं है।
32. वही।
33. मूल भागवत में तो कालिय के सौ फन लिखे हैं। भा. का.।

अध्याय 2
वृंदावन

I : यदुवंश

प्रथम अध्याय में पुरूरवा के पुत्र आयु की बात लिखी जा चुकी है। यजुर्वेद में आयु यज्ञ का घृत मात्र है। परंतु ऋग्वेद संहिता के दसवें मंडल में वह ऐतिहासिक राजा है। दसवें मंडल के उनचासवें सूक्त का ऋषि वैकुंठ के इंद्र हैं। इंद्र कहता है : "मैंने वेश को आयु के वशीभूत कर दिया।"

आयु का पुत्र नहुष और नहुष का ययाति है। नहुष और ययाति इन दोनों के नाम ऋग्वेद संहिता में हैं। इतिहास और पुराणों में लिखा है कि ययाति के पाँच लड़के थे। बड़े का नाम यदु और छोटे का नाम पुरु था। बाकी तीन के नाम तुर्वसु, द्रुह्यु और अणु थे। इनमें से पुरु, यदु, और तुर्वसु के नाम ऋग्वेद संहिता में हैं (मंडल 10, सूक्त 48। 49)। पर उसमें यह नहीं लिखा है कि ये ययाति के पुत्र हैं और आपस में भाई हैं।

लिखा है कि ययाति के चार पुत्रों ने पिता की आज्ञा न मानी इसलिए ययाति ने चारों पुत्रों को शाप देकर सबसे छोटे पुत्र पुरु को राज्य का अधिकारी बनाया। इसी पुरु के वंश में दुष्यंत, भरत, कुरु और अजमीढ़ आदि राजा हुए। दुर्योधन और युधिष्ठिरादि कौरव पुरु वंश के हैं। और कृष्ण आदि यादव यदु के वंश के हैं। पुराणों और इतिहास में साधारण तौर से यही लिखा है कि ययाति के पुत्र यदु से मथुरा के यादवों की उत्पत्ति हुई।...मधु, सत्वत, वृष्णि, अंधक, कुकर और भोज आदि राजा भी कृष्ण के वंश के थे। ये सब मथुरा में मिलजुल कर रहते थे। कृष्ण वृष्णि वंश से थे, कंस और देवकी भोज वंशी थे। कंस और देवकी के दादा एक ही थे।

II : कृष्ण का जन्म

कंस का पिता उग्रसेन यादवों का राजा था। कृष्ण का पिता वसुदेव, देवकी का पति था। व्याह हो जाने पर वसुदेव देवकी को लेकर घर जाता था। कंस प्रेम के मारे बहन का रथ स्वयं हाँकता जाता था। इतने में आकाशवाणी

हुई कि देवकी का आठवाँ पुत्र कंस को मारेगा। बस कंस देवकी का वध करने के लिए तैयार हो गया, क्योंकि उसने सोचा कि न रहे बांस और न बजे बांसुरी। वसुदेव ने समझा बुझाकर उसे शांत किया और प्रतिज्ञा की कि देवकी के जितने पुत्र होंगे सब तुम्हें दे दूँगा। इस पर कंस ने देवकी को मारा तो नहीं पर उसे और उसके पति वसुदेव को कैद कर दिया। देवकी के छः लड़के हुए। कंस ने सब लड़के मार डाले। सातवाँ लड़का गर्भ में ही नष्ट हो गया। पुराणों में लिखा है कि विष्णु की आज्ञानुसार योगनिद्रा ने वह गर्भ खेंचकर वसुदेव की दूसरी स्त्री के गर्भ में डाल दिया। उस दूसरी स्त्री का नाम रोहिणी था। मथुरा के पास ही नंद नामक गोप रहता था। उससे वसुदेव का बड़ा हेल-मेल था। वसुदेव रोहिणी को नंद के घर छोड़ आया था। वहीं रोहिणी ने पुत्र जना। उसका नाम बलराम हुआ।

देवकी के आठवें गर्भ में श्री कृष्ण आविर्भूत हुए। यथा समय रात को कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव उसी समय उन्हें नंद के घर ले गया। नंद की स्त्री यशोदा ने उसी दिन बेटी जनी थी। पुराणों में लिखा है कि वह वैष्णवी-शक्ति योग निद्रा थी। इसने यशोदा को मुग्ध कर रखा और वसुदेव पुत्र को वहाँ छोड़कर कन्या को अपने घर ले आया। वसुदेव ने वही कन्या कंस को दे दी। कंस इसे मार न सका। योगनिद्रा आकाश में जाकर बोली कि तेरा मारने वाला पैदा हो गया है। इसके बाद कंस ने बहन को छोड़ दिया। कृष्ण नंद के घर रहने लगे।

यह सब बातें अस्वाभाविक हैं। जो नियम पहले बना आया हूँ उनके अनुसार इन्हें छोड़ने के लिए मैं लाचार हूँ। पर इसमें ऐतिहासिक तत्त्व भी कुछ है। मथुरा के यदुकुल में देवकी के गर्भ और वसुदेव के औरस से कृष्ण ने जन्म लिया। उनके पिता उन्हें बचपन में नंद के घर पहुँचा आए थे। यह काम कुछ कंस के मारे जाने वाली आकाशवाणी के कारण या उसके प्राणों के भय से उन्हें नहीं करना पड़ा था। भागवत और महाभारत में स्वयं कृष्ण की उक्ति है कि कंस उस समय बड़ा दुराचारी हो गया था। वह औरंगजेब की तरह अपने पिता उग्रसेन को हटाकर आप राज सिंहासन पर बैठ गया था। उसने यादवों पर ऐसा अत्याचार किया कि वह लोग मथुरा छोड़कर दूसरी जगह जा बसे। वसुदेव ने भी अपनी दूसरी स्त्री रोहिणी और पुत्र को नंद के घर रख दिया था। श्री कृष्ण को भी कंस के भय से नंद के घर छिपा रखा था। यह संभव तथा ऐतिहासिक हो सकता है।

III : बचपन

कृष्ण के बचपन की कितनी ही अस्वाभाविक कथाएँ पुराणों में लिखी हैं। एक-एक करके उनका वर्णन करता हूँ।

(क) पूतनावध। पूतना कंस की भेजी हुई राक्षसी थी। वह परम सुंदरी बनकर कृष्ण को मारने के लिए नंद के यहाँ पहुँची। उसके स्तनों में विप लगा था। वह कृष्ण को दूध पिलाने लगी। कृष्ण ने ऐसे जोर से दूध पीया कि पूतना के प्राण निकल गये। मरने के समय पूतना ने अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया। उसका शरीर छः कोस लंबा हो गया था।

महाभारत के शिशुपाल वध पूर्वाध्याय में भी पूतना वध की चर्चा है। शिशुपाल ने पूतना को शकुनी कहा है। शकुनी कहने से गिद्ध, चील तथा मांस खाने वाले पक्षी भी समझे जाते हैं। जवरदस्त लड़के का छोटा-मोटा पक्षी मार डालना कुछ बड़ी बात नहीं है। पूतना का अर्थ जमूरा (जमोघा) भी है। यह जन्मते बालक का रोग है। यह सबको मालूम है कि जोर से दूध पी लेने पर यह रोग फिर नहीं ठहरता। शायद इसी का नाम पूतना वध है।

(ख) शकट भंजन। यशोदा ने कृष्ण को एक शकट के नीचे सुला दिया। वह कृष्ण के लात फटकारने से उलटकर गिर पड़ा। ऋग्वेद संहिता में ऐसी ही एक कथा है। उसमें इंद्र ने ऊषा का शकट भंजन किया था। कृष्ण का शकट गिराना कदाचित् इसी का नया रूप है। कृष्ण की लीलाओं में बहुत से वैदिक उपाख्यान मिल गए हैं, ऐसा सोचने का कारण है।

(ग) यशोदा की गोद में कृष्ण का विश्वंभर मूर्ति धारण करना और उसे अपने मुँह में सारा विश्व दिखाना। यह कथा पहले भागवत में मिलती है। यह भागवत बनाने वाले की मनगढ़ंत बात है।

(घ) त्रृणावर्त्त। त्रृणावर्त्त नाम का असुर कृष्ण को लेकर आकाश में उड़ गया था। इसका जैसा वर्णन है उससे तो यह साफ बवंडर मालूम होता है। भागवत में ही लिखा है कि त्रृणावर्त्त बवंडर बनकर आया था। यह कथा भी पहले पहल भागवत में ही मिलती है। इससे यह भी निसंदेह कल्पित है। बगूले में लड़के का कुछ उड़ जाना अचरज की बात नहीं है।

(ड.) कृष्ण ने एक बार मिट्टी खा ली थी। यशोदा के पूछने पर कृष्ण ने अस्वीकार किया तब उसने उनका मुँह देखना चाहा। कृष्ण ने मुँह बाकर दिखाया तो उसमें समस्त विश्व ब्रह्मांड दिखाई दिया। यह भी भागवतकार की कल्पना मात्र है।

(च) भागवतकार कहते हैं कि जब कृष्ण पाँव-पाँव चलना सीख गए तब गोपियों के घरों में जाकर बहुत ऊधम मचाने लगे। मक्खन चुरा-चुराकर खाने लगे। यह कथा न विष्णु पुराण में है और न महाभारत में।

हरिवंश पुराण में मक्खन चोरी की कथा प्रसंगवश आ गई है। पर भागवत में तो इसकी बड़ी धूमधाम है। जिस बालक को धर्म-अधर्म का ज्ञान नहीं हुआ, वह खाने-पीने की चीजें चुरावे तो कुछ दोष नहीं। यदि कोई यह कहे कि कृष्ण तो ईश्वर के अवतार हैं, उनमें कभी ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता, तो इसके जवाब में कृष्ण के उपासक कह सकते हैं कि ईश्वर कभी चोर नहीं हो सकता। क्योंकि यह सारा जगत् ही उसका है—दूध, दही, मक्खन सब ही उसके बनाए हैं। वह किसकी चोरी करेगा—सब कुछ तो उसी का है। और अगर कोई कहे कि वह तो मनुष्य धर्मावलंबी है—मनुष्य धर्म में चोरी अवश्य पाप है, तो इसका उत्तर यही है कि मनुष्य धर्मावलंबी बालक के लिए पाप नहीं है, क्योंकि बालक को धर्म-अधर्म का ज्ञान नहीं होता।

पर इन बातों से मुझे कुछ मतलब नहीं क्योंकि यह कथा ही निर्मूल है। यदि मौलिक हो तो भागवत बनाने वाले ने यह कथा जिस ढंग से लिखी है, वह बड़ी मनोहर है। भागवत के रचने वाले कहते हैं कि भगवान अपने लिए नहीं बंदरों के लिए मक्खन चुराते थे। बंदरों को खिलाने के लिए दूध, दही, मक्खन नहीं पाते तो मचल जाते और रोते थे। भागवतकार कह सकते थे कि कृष्ण सब जीवों के लिए समदर्शी थे। उन्होंने सोचा कि गोपियों को इतना दूध दही मिले और बंदरों को कुछ भी नहीं। बस इसी से वह गोपियों का मक्खन लेकर बंदरों को दे देते थे। वह सब प्राणियों के ईश्वर थे—उनके आगे गोपियाँ और बंदर दोनों समान नवनीत के अधिकारी हैं। बालक कृष्ण सबके हितैषी थे और सबका दुःख दूर करने के लिए सदा उद्यत रहते थे। बंदर जैसे पशुओं के लिए भी उनकी कैसी ममता थी, यही भागवतकार ने बताया है।

एक दुखिया फल बेचने वाली की भी कथा लिखी है। वह कृष्ण के सामने फल लेकर आई, कृष्ण ने उसे अंजली भर रत्न दे दिए। यह कथाएँ भागवत के सिवा और कहीं नहीं हैं। पर आगे चलकर मैं दिखाऊँगा कि परोपकार ही कृष्ण के जीवन का व्रत था।

(छ) यमलार्जुन। कृष्ण ने एक बार बड़ा ऊधम मचाया तो यशोदा ने ऊखल से उन्हें बांध दिया। कृष्ण ऊखल को लुढ़काते हुए चले। यमलार्जुन नाम के दो वृक्ष थे। इन्हीं वृक्षों की जड़ में ऊखल अटक गया। कृष्ण ने जोर किया तो दोनों

वृक्ष उखड़ गए। यह कथा विष्णु पुराण और महाभारत में है। शिशुपाल के तिरस्कार वाक्यों में इसका उल्लेख है। पर इसका मतलब क्या है? अर्जुन एक प्रकार का वृक्ष है। यमलार्जुन का अर्थ जोड़ा पेड़ है। अर्जुन के पेड़ बहुत बड़े नहीं होते—अकसर छोटे ही देखने में आते हैं। नए पेड़ों का यों उखड़ जाना असंभव नहीं है।

भागवत के रचयिता ने इस पुरानी कथा को अतिरंजित करने में कुछ भी त्रुटि न की। दोनों वृक्ष कुबेर के पुत्र थे, शापवश वृक्ष हो गए। कृष्ण के स्पर्श करने से शाप मुक्त हो स्वधाम चले गए।

(ज) बंधन। गोकुल में जितनी रस्सियाँ थीं सब इकट्ठी करके भी ननंहा सा बालक कृष्ण नहीं बांधा जा सका। निदान दयाकर वह आप ही बंध गया। विष्णु का एक नाम दामोदर भी है। बाहर की इंद्रियों के निग्रह को दम कहते हैं। उद् ऊपर, ऋ गमने, इससे उदर का अर्थ उत्कृष्ट गति होता है। दम से जिसने उच्च स्थान पाया है उसका नाम है दामोदर। वेदों में लिखा है कि विष्णु ने तपस्या करके विष्णुत्व प्राप्त किया है, नहीं तो वह इंद्र से छोटे है। शंकराचार्य ने दामोदर का यही अर्थ माना है। वह कहते हैं "दमादि साधनेन उदरा उत्कृष्टा गतिर्या तथा गम्यत इति दामोदरा।" महाभारत में भी लिखा है "दमाद्दामोदर विदुः।" पर दामन् शब्द का अर्थ रस्सी भी है। जिसका उदर रस्सी से बांधा गया, वह भी दामोदर है। रस्सी में बांधे जाने की बात उठने के पहले भी दामोदर नाम प्रचलित था। इससे क्या यह नहीं मालूम होता कि दामोदर नाम देखकर भागवतकार ने रस्सी वाली बात अपने मन से गढ़ी है?

नंदादि गोप अपना पुराना स्थान छोड़कर वृंदावन गए। पुराणों में लिखा है कि कृष्ण पर अनेक विपत्तियाँ आई थीं इसी से गोप सब वृंदावन चले गए। वृंदावन बड़े सुख का स्थान है, शायद इसी से वह वहाँ गए हों। हरिवंश में तो साफ लिखा है कि भेड़ियों का उपद्रव बहुत बढ़ जाने के कारण उन्होंने गोकुल छोड़ा था।

IV : किशोर लीला

वृंदावन कवियों की सबसे प्यारी भूमि है, जहाँ हरियाली और फूलों की शोभा है, कलकल करती हुई कालिंदी केलि करती है। केकी कोकिलों की कूक से कुंजवन गुंजित हैं। ग्वालबाल मधुर सुर से वंशी बजाते हैं। असंख्य सुमनों की सुगंध से दसो दिशाएँ सुवासित हैं और विविध भूषण विभूषित विशाल नयनी ब्रजबालाएँ विहार करती हैं। ऐसे वृंदावन का स्मरण करते ही हृदय आनंद से पुलकित हो

जाता है। पर अभी काव्यरस आस्वादन करने का समय नहीं है, क्योंकि वड़ा भारी तत्त्व अन्वेषण करना है।

भागवत का रचने वाला कहता है कि वृंदावन आने पर कृष्ण ने एक-एक कर वत्सासुर, बकासुर, और अघासुर, नाम के तीन असुर मारे। पहला वत्सरूपी, दूसरा पक्षि रूपी और तीसरा सर्प रूपी था। ग्वालबालों का अनिष्ट करने पर बलवान बालक का इन जंतुओं को मारना अचरज की बात नहीं है। परंतु विष्णु पुराण, महाभारत या हरिवंश में इनके बारे में एक शब्द भी नहीं हैं। इसलिए इन तीनों असुरों की कथा कल्पित समझ कर छोड़नी चाहिए।

वत्सासुर, बकासुर और अघासुर के इन उपाख्यानों में कुछ भी तत्त्व नहीं है, ऐसा नहीं। ढूँढ़ने से कुछ मिल भी सकता है। वद् धातु से वत्स, वन्क् धातु से वक और अघ् धातु से अघ बनता हे। वद् प्रकाशे, वन्क कौटिल्ये और अघ पापे अर्थ में व्यवहृत होता है। स्पष्ट वक्ता या निंदक वत्स है। कुटिल शत्रु वक और पापी अघ है। कृष्ण ने किशोरावस्था के पहले ही इन तीनों प्रकार के शत्रुओं को परास्त किया था। यर्जुर्वेद की मध्यन्दिनी शाखा के ग्यारहवें अध्याय के 80वें कांड में जहाँ अग्नि चयन के मंत्र हैं वहाँ शत्रु संहार के लिए इस प्रकार प्रार्थना है : "हे अग्नि, हमारे अराति, द्वेषी, निंदक और जिघांसु इन चार प्रकार के शत्रुओं को भस्म कर दो।" इस मंत्र के अधिकांश में अराति अर्थात् धन न देने वाले के मारने की बात है। जान पड़ता है, भागवतकार ने इस रूपक की रचना के समय इस वेदमंत्र का स्मरण अवश्य कर लिया था। अथवा यों कहिए कि इस रूपक का मूल यह मंत्र ही है।

इसके बाद भागवत में लिखा है कि ब्रह्माने कृष्ण की परीक्षा लेने के लिए एक बार माया से सब ग्वालबाल, गाय, बछड़े चुरा लिए। कृष्ण उनकी जगह और ग्वालबाल तथा गाय बछड़े बनाकर मौज करने लगे। इसका मतलब यह कि ब्रह्मा भी कृष्ण की महिमा न समझ सका। इसके बाद एक रोज कृष्ण ने दावानल पान कर लिया। शैवों के शिव विष पान कर नीलकंठ हुए थे। इसलिए वैष्णवों ने श्री कृष्ण को भी अग्नि पान कराकर छोड़ा।

विख्यात् कालियदमन की कथा कहने का भी यही मौका है। महाभारत में कालियदमन की कुछ भी चर्चा नहीं है। हाँ, हरिवंश और विष्णु पुराण में है। भागवत में तो इसका विस्तार बहुत ही हुआ है। यह उपन्यास है और अनैसर्गिक घटनाओं से परिपूर्ण है। केवल उपन्यास ही नहीं, रूपक है। रूपक भी वड़ा मनोहर

है। कथा यों है।

यमुना के एक दह में कालिय नाम का एक विषधर सर्प सपरिवार रहता था। उसके बहुत फन थे। विष्णु पुराण में तीन, हरिवंश में पाँच और भागवत में सहस्र लिखे हैं। उसके अनेक स्त्रियाँ, पुत्र और पौत्र थे। उनके विष से उस दह का जल इतना विषैला हो गया था कि कोई उसके निकट ठहर भी न सकता था। ग्वालबाल और गाय बछड़े वह जल पीकर मर जाते थे। उस विष की ज्वाला से किनारे के पेड़, पत्ते, तृण, लता सब सूख गए थे। पखेरू भी दह के ऊपर से उड़कर जाते तो मर कर गिर पड़ते। श्री कृष्ण ने कालिय को दमन कर वृंदावन के प्राणी मात्र की रक्षा करना विचारा। वह एक दिन दह में कूद पड़े। कालिय उन पर झपटा। वह उसके फनों पर चढ़ बैठे और लगे बंशी बजा-बजाकर नाचने। इससे कालिय अधमरा सा हो गया और रुधिर वमन करने लगा। कालिय की यह दशा देख कर उसकी स्त्रियाँ मनुष्य भाषा में कृष्ण की स्तुति करने लगीं। भागवतकार ने नाग कन्याओं से जो स्तुति कराई है, वह देखने से मालूम होता है कि नाग की स्त्रियाँ दर्शनशास्त्र की अच्छी ज्ञाता थीं। विष्णु पुराण में जो स्तव उन्होंने किया है वह बड़ा मधुर है। उसके पढ़ने से यही जान पड़ता है कि मनुष्य स्त्रियां भले ही विष उगलने वाली कही जाएँ, पर नाग कन्याएँ तो सुधा सिञ्चन करने वाली ही हैं। पीछे कालिय स्वयं स्तुति करने लगा। श्री कृष्ण ने प्रसन्न होकर उसे छोड़ दिया और यमुना त्याग कर समुद्र में वास करने को कहा। वह बाल बच्चों को लेकर वहाँ से निकल भागा। यमुना का जल साफ हो गया।

यह तो हुआ उपन्यास, अब इसके भीतर जो रूपक हैं वह सुनिए। कलकल शब्द करके बहने वाली यह कृष्ण सलिला कालिन्दी ही काली काल-नदी है। इसके भंवर बड़े भयंकर हैं। हम जिसे दुःसमय या विपत्काल कहते हैं वही काल-नदी का भंवर है। इनमें मनुष्य के बड़े-बड़े भयंकर और विषैले शत्रु छिपकर रहते हैं। सर्पों की तरह एकांत स्थान में उनका वास है, सर्पों की तरह उनकी कुटिल गति है, और सर्पों की तरह ही उनका अमोघ विष है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक, और आधिदैविक यही उनके तीन फन हैं। अथवा यों समझिए कि हमारी पाँचों इंद्रियाँ ही पाँच फन हैं, क्योंकि यही सब अनर्थों की जड़ हैं। फिर अपने अमंगल के असंख्य कारणों का विचार करें तो उसके हजारों फन हैं। विपद के गहरे भंवर में इस भुजंग के फेर में पड़ जाने पर जगदीश्वर के पादपद्म के सिवा हमारा उद्धार करने वाला और कोई नहीं है। वह कृपा के वशीभूत हो विषधर को पददलित

करता है और मनोहर मूर्ति धारण कर अभय की वंशी बजाता है। उसकी वंशी सुन कर आशा का संचार होता है और जीव सुख से संसार के कामों में लगता है। कराल नादिनी काल—नदी का जल स्वच्छ हो जाता है। इस कृष्ण सलिला, भीमनादिनी काल-नदी के भंवर में अमंगल रूप भुजंग के मस्तक पर वंशीधर की अभय मूर्ति पुराणकारों की अपूर्व सृष्टि है। ऐसी मूर्ति बनाकर जो पूजेगा उसे मूर्ति पूजक कह कर भला कौन हँस सकता है?

धेनुकासुर (गर्दभ) और प्रलंबासुर के वध के विषय में कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि इन्हें बलराम ने मारा था, कृष्ण ने नहीं। चीर हरण के संबंध में जो कहना है, वह किसी दूसरे परिच्छेद में कहूँगा। अब गोवर्धन पूजा की कथा लिखकर ही यह परिच्छेद पूरा करूँगा।

वृंदावन में गोवर्धन नाम का एक पर्वत था, अब भी है। गोस्वामीजी महाराजों ने अभी जहाँ वृंदावन बसाया है वह एक प्रांत में है और गिरि गोवर्धन दूसरे में। परंतु पुराण में लिखा है कि वह वृंदावन के सीमांत पर है। यह पर्वत अभी जिस भाव से है उससे जान पड़ता है कि वह किसी समय किसी प्राकृतिक विप्लव से उखाड़ा जाकर फिर रखा गया है। मालूम होता है, हजारों वर्षों से यह इसी अवस्था में है। इसी से यह कल्पना की गई कि श्री कृष्ण ने उसे उठाकर एक सप्ताह धारण किया और फिर रख दिया।

उपन्यास की कल्पना इस प्रकार है। वर्षा के अंत में नंदादि गोप प्रतिवर्ष इंद्रयज्ञ करते थे। नियमानुसार उसकी तैयारियाँ हो रही थीं। कृष्ण ने देखकर पूछा कि यह यज्ञ क्यों होता है? इस पर नंद ने कहा, इंद्र वृष्टि करता है, वृष्टि से अन्न होता है, अन्न से हम सब प्राण धारण करते हैं और गाएँ दूध देती हैं। इसलिए इंद्र की पूजा करना हमारा कर्तव्य है। कृष्ण बोले, हमारा आधार कृषि नहीं, गोवंश है। इसलिए गो पूजन अर्थात् गायों को अच्छी-अच्छी चीजें खिलाना ही हमारा कर्तव्य है। और हम इस पहाड़ के आश्रित हैं, इससे इसी की पूजा कीजिए। ब्राह्मणों और भूखों को खिलाइए। बस वही हुआ। बहुतेरे दीन दरिद्र भूखों और ब्राह्मणों ने भोजन किया। गायों ने भी खूब खाया। गोवर्धन ने भी प्रगट हो पूरी मिठाइयों पर खूब हाथ साफ किया। लिखा है कि कृष्ण ने ही गोवर्धन का रूप धारण करके सबकुछ भकोसा था।

इंद्रयज्ञ नहीं हुआ। पाठक जानते ही हैं कि हमारे पुराणोक्त देवता और ब्राह्मण बड़े बिगड़े दिल थे। जरा-जरा सी बात पर बिगड़ जाते थे। इंद्र भी अपने को संभाल न सका। तुरंत जामे से बाहर हो गया। उसने चट मेघों को आज्ञा

दी कि वृंदावन को बहा दो। बस फिर क्या था—मेघ उमड़ घुमड़कर वृंदावन पर चढ़ दौड़े। वृंदावन बह चला। ग्वालबाल और गौ बछड़े त्राहि- त्राहि करने लगे। श्री कृष्ण ने गिरगोवर्धन उठाकर वृंदावन की रक्षा की। सात दिन वृष्टि हुई। कृष्ण सातों दिन एक हाथ से पर्वत को उठाए रहे। वृंदावन की रक्षा हुई। इंद्र हार मानकर कृष्ण के चरणों पर आ गिरा।

महाभारत में गोवर्धन पूजा की थोड़ी सी चर्चा है। शिशुपाल कहता है कि कृष्ण ने वल्मीक-सा गोवर्धन पहाड़ उठा ही लिया तो क्या हो गया? कृष्ण के बहुत मिठाई खा जाने पर भी उसने जरा व्यंग किया है। महाभारत में बस इतना ही है और कुछ नहीं। पर गोवर्धन आज भी विद्यमान है—वह वल्मीक नहीं असली पर्वत है। कृष्ण ने क्या यही पर्वत सात रोज तक एक हाथ में उठा रखा था? जो कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते हैं, वह कह सकते हैं कि ईश्वर के लिए कुछ असाध्य नहीं है, यह मैं मानता हूँ। पर अवतार को पर्वत धारण करने की आवश्यकता क्यों हुई? जिसकी इच्छा के बिना मेघ एक बूंद भी जल नहीं बरसा सकते, वह सात दिन तक पहाड़ उठाकर वृंदावन की रक्षा क्यों करेगा? जिसकी इच्छा मात्र से सारे मेघ उड़ सकते थे, वृष्टि बंद हो सकती थी और आकाश निर्मल हो सकता था, वह पर्वत उठाकर सात रोज तक क्यों खड़ा रहेगा?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह भगवान की लीला है, इच्छामय की इच्छा। हम क्षुद्र बुद्धि भला इसे क्या समझ सकते हैं? ठीक है, गोवर्धन उठाने की बात तो पीछे है, पहले यही निश्चय हो जाए कि वह भगवान हैं। यह कैसे मालूम हो कि वह भगवान हैं? उनके कार्यों से। जिस कार्य का उद्देश्य या युक्ति समझ में न आवे उसे ईश्वर का किया मान लेना क्या उचित है? बिना समझे क्या कोई कुछ निश्चय कर सकता है? कदापि नहीं। फिर गोवर्धन धारण की कथा अस्वाभाविक समझ कर क्यों न छोड़ दी जाए? इसके लिए नियम भी तो बनाए जा चुके हैं। हाँ, इसमें इतना सत्य हो सकता है कि कृष्ण ने ग्वाल बालों का मन इंद्र की पूजा से फेर कर गोवर्धन पूजा की ओर लगा दिया। गिरिगोवर्धन उठाना और रखना आदि अस्वाभाविक बातें पीछे गढ़ी गई हैं।

ऐसे कामों का कुछ गूढ़ तात्पर्य प्रायः देखने में आता है। इसका मतलब मैंने जो कुछ समझा है, वह कहता हूँ। इस जगत् का एक ही ईश्वर है। ईश्वर के सिवा और देवता नहीं। इंद् धातु में, जिसका अर्थ वर्णन अर्थात् बरसता है, रक् प्रत्यय लगाने से इन्द्र शब्द बनता है। इसका अर्थ है वर्षा करने वाला। वर्षा कौन करता है? जो सबका कर्त्ता, धर्ता, विधाता है, वही वृष्टि करता है। वृष्टि

के लिए कोई पृथक् बिधाता है, यह विश्वास नहीं किया जा सकता। हाँ, इंद्रयज्ञ होता था, या साधारण यज्ञों में इंद्र को भाग मिलता था। इस प्रकार की इंद्र पूजा का अर्थ भी है। ईश्वर की प्रकृति अनंत है, उसके गुण अनंत हैं, कार्य अनंत हैं, शक्तियाँ अनंत हैं। फिर अनंत की उपासना किस तरह हो? क्या अनंत का ध्यान होता है? जिससे नहीं होता है, वह ईश्वर को भिन्न-भिन्न शक्तियों की पृथक्-पृथक् उपासना करता है। ऐसी शक्तियों का विकास स्थल जड़ जगत में जाज्वल्यमान है। सब जड़ पदार्थों में ही उसकी शक्ति का परिचय मिलता है। उससे अनंत का ध्यान सहज ही हो जाता है। इसी से प्राचीन आर्य लोग उसकी जगत् उत्पन्न करने वाली शक्ति का स्मरण कर सूर्य रूप में, सबको अच्छादित करने वाली शक्ति का स्मरण कर वरुण रूप में, उसे सब तेजों का आधारभूत समझकर अग्नि रूप में, उसे जगत् प्राण समझ कर वायु रूप में और इसी प्रकार अन्यान्य जड़ पदार्थों में उसकी आराधना करते थे।[1] वे ईश्वर की वर्षा करने वाली शक्ति की उपासना इंद्र रूप में करते थे। कालांतर में लोग उपासना का अर्थ तो भूल गए, पर उसका आकार ज्यों का त्यों बना रहा। ऐसा प्रायः होता है। ब्राह्मणों की त्रिसंध्या की भी यही दशा हुई।

भावद्गीता, महाभारत में केई स्थलों पर श्री कृष्ण धर्म की इस मृत देह को जला रहे हैं और उसके बदले लोगों को ईश्वर की उच्च उपासना में लगाने की चेष्टा कर रहे हैं।

कृष्ण ने बड़े होने पर जो मत प्रचार किया था उसका श्रीगणेश गोवर्धन पूजा से है। परमेश्वर सब प्राणियों में है, मेघों में जैसे हैं वैसे ही पर्वत, गाय बछड़ों में भी है। यदि मेघों की या आकाश की पूजा करने से उसकी पूजा होती है तो पर्वत और गोवत्सों की पूजा से भी उसी की पूजा होगी। वरन् आकाशादि जड़ पदार्थों की पूजा की अपेक्षा दरिद्रों और गोवत्सों को भलीभाँति खिलाना अधिक धर्म संपन्न है। मेरी समझ से गोवर्धन की पूजा का तात्पर्य यही है।

V : व्रजगोपी–विष्णु पुराण

अब मैं वह विषय उठाता हूँ जिसे कृष्ण के विद्रोही कृष्ण के चरित्र में बड़ा भारी कलंक मानते हैं और कृष्ण के आधुनिक भक्त जिसे कृष्ण भक्ति का केंद्र समझते हैं। मेरा तात्पर्य कृष्ण और व्रज की गोपियों के संबंध से है। कृष्ण चरित्र की समालोचना में यह विषय बड़ा गुरुतर है, इसलिए इसे अति विस्तार सहित लिखना पड़ेगा।

महाभारत में व्रजबालाओं की कुछ भी चर्चा नहीं है। सभा पर्व के शिशुपाल वध पर्वाध्याय में शिशुपाल ने कृष्ण की भरपेट निंदा की है। यदि महाभारत लिखे जाने के समय कृष्ण पर गोपियों का यह कलंक होता तो शिशुपाल या शिशुपाल वध की कथा लिखने वाले इस कलंक का उल्लेख किए बिना कभी न रहते। इसलिए यह निश्चय है कि असली महाभारत बनने के समय गोपियों की कथा प्रचलित नहीं थी। यह पीछे गढ़ी गई है। महाभारत के सभा पर्व में केवल एक ठौर गोपी शब्द आया है। द्रौपदी ने वस्त्र खेंचे जाने के समय कृष्ण को 'गोपीजनप्रिय' कहकर संबोधन किया है, यथा

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः।
गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रियः।।

वृंदावन में गोपियाँ रहती थीं। गोप रहेंगे तो गोपियाँ भी रहेंगी। कृष्ण बड़े सुंदर, मनोहर और क्रीड़ाशील बालक थे। इसी से ग्वालबाल और गोपियाँ उन्हें बहुत प्यार करती थीं। हरिवंश में लिखा है कि बालिका, युवती, वृद्धा सबके ही प्रियपात्र श्री कृष्ण थे। यह भी लिखा कि यमलार्ज्जुन पतन आदि उत्पातों के समय गोपियाँ श्री कृष्ण के लिए रोती थीं। इस हेतु 'गोपीजनप्रिय' शब्द से सुंदर बालक पर स्त्रियों के सहज स्नेह के अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम होता है।

पहले अध्याय में जो नियम बनाए गए हैं, उनके अनुसार महाभारत के बाद विष्णु पुराण देखना होगा। पाठक पहले जैसा देख चुके हैं, वैसा ही अब भी देखेंगे कि विष्णु पुराण, हरिवंश और भागवत में उपन्यास की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि हुई है। महाभारत में गोपियों की कथा नहीं है, विष्णु पुराण में पवित्र भाव से है, हरिवंश में विलासिता की कुछ गंध है, भागवत में उसकी अधिकता है, पर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की कुछ मत पूछिए उसमें तो विलासिता की नदी उमड़ चली है।

यह सब बातें विस्तारपूर्वक अच्छी तरह समझाने के लिए विष्णु पुराण में गोपियों के बारे में जो कुछ लिखा है, वह नीचे दिया जाता है। दो एक शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ दो प्रकार से हो सकता है। इसलिए मूल संस्कृत पहले देकर पीछे अर्थ दिया है।

कृष्णास्तु विमलं व्योम शरच्चन्द्रस्य चन्द्रिकाम्!
तथा कुमुदिनी फुल्लामामोदितदिगन्तराम् ॥14॥
वनराजिं तथा कुंजभ्द्रङ्गमालां मनोरमाम्।
विलोक्य सह गोपीभिर्मनश्चके रतिं प्रति ॥15॥

सह रामेण मधुरमतीव वनिताप्रियम्।
जगौ कलपदं शौरिर्नानातंत्रीकृतव्रतम् ॥16॥
रम्यं गीतध्वनिं श्रुत्वा सन्तज्यावसथांस्तदा।
आजाग्मुस्त्वरिता गोप्या यत्रास्ते मधुसूदनः ॥17॥
शनैःशनैर्जगौ गोपी काचित् तस्य लयानुगम्।
दत्तावधाना काचित्तु तमेव मनसा स्मरन् ॥18॥
काचित् कृष्णेति कृष्णेति प्रोक्त्व लज्जामुपागता।
ययौ च काचित् प्रेमान्धा तत्पार्श्व मविलज्जिता ॥19॥
काचिदावसथस्पान्तःस्थिता हष्टा बहिर्गुरून्।
तन्मयत्वेन गोविन्दं दध्या मीलितलोचना ॥20॥
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहादुःखविलोनाशेषपातका ॥21॥
चिन्तयन्ती जगत्सूर्त्तिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥22॥
गोपीपरिवृतो रात्रिं शरच्चन्द्रमनोरमाम्।
मानयामास गोविन्दो रासारम्भरसोत्सुकः ॥23॥
गोप्यश्च वृन्दशः कृष्णचेष्टास्वायत्तमूर्त्तयः।
अन्यदेशं गते कृष्णे चेरुर्वृन्दावनान्तरम् ॥24॥
कृष्णे निरुद्धहृदया इदमूचुः परस्परम्।
कृष्णोऽहमेतल्ललितं व्रजाम्य लोक्यतां गतिः।
अन्या व्रवीति कृष्णस्य समगीतिर्निशम्यताम ॥25॥
दृष्ट कालिय! तिष्ठात्र कृष्णोऽहमिति चापरा।
बाहुमास्फोट्य कृष्णस्य लीलासर्वं स्वमाददे ॥26॥
अन्या व्रबीति भो गापा निःशंकैः स्थीयतामिह।
अलंवृष्टिभयेनात्र धृतो गोवर्धनो मया ॥27॥
धेनुकोयं मया क्षिप्तो विचरन्तु यथेच्छया।
गोपी व्रवीति वै चान्या कृष्णलीलानुकारिणी ॥28॥
एवं नानाप्रकारासु कृष्णचेष्टासु तास्तदा।
गौप्यौ व्याग्राः समञ्चेरूरम्यं वृन्दावनं वनम् ॥29॥
विलोक्यैका भुवं प्राह गीपी गोपवराङ्गना।
पुलकोञ्चितसर्व्वाङ्गी विकाशिनयनोत्पला ॥30॥

ध्वजवज्राङ्कुशाब्जाङ्करेखावन्तालि! पश्यत।
पादन्येतानि कृष्णास्य लीलालङ्कृतगामिनः ॥31॥
कापि तेन समं याता कृतपुण्या मदालसा।
पदानि तस्याश्चैतानि घनान्यल्पतनूनि च ॥32॥
पुष्पावचयमत्रोच्चैश्चक्रे दामोदरो ध्रुवम्।
येनाग्राक्रान्तिमात्राणि पदान्यत्र महात्मनः ॥33॥
अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलंकृता।
अन्यजन्मनि सर्व्वात्मा विष्णु रभ्यर्च्चितो मया ॥34॥
पुष्पबन्धनसम्मानकृतमानामपास्यताम्।
नंदगोफ्सुतो यातो मार्गेणानंन पश्यत ॥35॥
अनुयाने समर्थान्या नितम्बभारमन्थरा।
या गन्तव्ये द्रुतं याति निम्नपादाग्रसंस्थितिः॥36॥
हस्तन्यस्ताग्रहस्तेयं तेन याति तथा सखि।
अनायतपदन्यासा लक्ष्यते पदपद्धितिः ॥37॥
हस्तसंस्पर्श मात्रेण धूर्त्तेनैषा विमानिता।
नैराश्यमन्दगामिन्या निवृत्तं लक्ष्यते पदम् ॥38॥
नूनमुक्ता त्वरामोति पुनरेष्यामि तेन्तिकम्।
तेन कृष्णेन येनैषा त्वरिता पदपद्धतिः ॥39॥
प्रवष्टिो गहनं कृष्णः पदमत्र न लक्ष्यते।
निवर्त्तध्वं शशाङ्कस्य नैतद्दीधितिगोचरे ॥40॥
निवृत्तस्तास्ततो गोप्यो निराशाः कृष्णदर्शने।
यमुनातीरसयागत्य जगुस्तच्चरितं तदा ॥41॥
ततो ददृशुरामान्तं विकाशिमुखपङ्कजम्।
गोप्यस्त्रैलोक्यगोप्तारं कृष्णमल्किष्टचेष्टितम् ॥42॥
काचिदालोक्य गोविन्दमायान्तमतिहर्षिता।
कृष्ण! कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यमुदैरयत् ॥43॥
काचिद्भूभङ्गरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्।
विलोका नेत्रंभृङ्गाभ्यां पपौ तन्मुखपङ्कजम् ॥44॥
काचिदालोक्य गाविन्दं निमीलितविलोचना।
तस्यैव रूपं ध्यायन्ती योगारूढ़ेव चावभौ ॥45॥
ततः कश्चित् प्रियालापैः काश्चितभ्रूभंगवीक्षणैः।

निन्येऽनुनयमन्याश्व करस्पर्शेन माधवः ॥46॥
ताभिः प्रसन्नचित्ताभि र्गोपोभिः सहसादरम्।
रराम रासगोष्ठीभिरुदारचरितोहरिः ॥49॥
रासमण्डलबन्धोपि कृष्णपार्श्वमनुजूझता।
गोपीजनेन नैवाभूदेकस्थानस्थिरात्मना ॥48॥
हस्ते प्रगृह्य चैकैकां गोपिकां रासमण्डलीम्।
चकार ततकरस्पर्शनिमीलितदृशां हरिः ॥49॥
ततः स ववृते रासश्चलद्वलयनिस्वनः।
अनुयातशरत्काव्यगेयगीतिरनुक्रमात् ॥50॥
कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीं कुमुदाकरम्।
जगौ गोपोजनस्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः ॥51॥
परिवर्त्तश्रमेणैका चलद्वयलापिनीम्!
ददौ बाहुलतां स्कन्धे गोपी मधुनिघातिनः ॥52॥
काचित् प्रविलसद्बाहुः परिरभ्य चुचु म्बतम्।
गोपी गीतस्तुतिव्याजनिपुणा मधुसूदनम् ॥53॥
गीपीकपोलसंश्लेषमभिपत्य हरेर्भुजौ।
पलकोग्दमशस्याय खेदाम्बु घनतां गतौ ॥54॥
रासगेयं जगौ कृष्णे यावत् तारतरध्वनिः।
साधु कृष्णेति कृष्णेति तावत् वा दिगुणं जगुः ॥55॥
गते तु गमनं चक्रुर्वलने संमुखं ययुः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां भेजुर्गोपाङ्गना हरमि् ॥56॥
स तया सह गोपीभीरराम मधुसूदनः।
यथाब्दकोटिमनितः क्षणस्तेन विनाभवत् ॥57॥
ता वार्य्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा।
कृष्णं गोपांङ्गना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः ॥58॥
सौऽपि कैशोरकवयो मानयम् मधुसूदनः।
रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः ॥59॥

विष्णु पुराणम्, पंचमांशः 13 आ.

निर्मल आकाश, शरच्चन्द्र की चन्द्रिका, कुमुदनी के फूलों से सब दिशाएँ सुगंधित, भृङ्गों के शव्द से वन मनोरम देखकर कृष्ण ने गोपियों के संग क्रीड़ा करने की इच्छा की। कृष्ण ने वलराम के सहित अनेक वाजों की मदद से स्त्रियों

के प्रिय अति मधुर अस्फुट पद गाए। सुंदर गीत सुन गोपियाँ घरबार छोड़ जहाँ मधुसूदन थे वहाँ उतावली हो आ पहुँचीं। कोई गोपी उसी लय में धीरे-धीरे गाने लगी और कोई कृष्ण को स्मरण कर उनमें लीन हो गई। कोई कृष्ण, कृष्ण कहकर लज्जित हो गई और कोई लज्जा त्याग, प्रेमांध हो कृष्ण की बगल में जा पहुँचीं। कोई गुरुजनों को बाहर देख घर में रह गईं और नेत्र बंद कर गोविंद के ध्यान में तन्मय हो गईं। दूसरी गोपियां कृष्ण का स्मरण कर अत्यानंद से पुण्य रहित हो कृष्ण विरह के महादुःख में अपने सब पापों को धोकर पवित्र हो गईं और पारब्रह्म स्वरूप जगत्कारण का ध्यान कर पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हुईं। गोविंद शरच्चन्द्र की मनोरम रात्रि को गोपियों से परिवेष्टित हो रासारंभ के लिए समुत्सक हुए। कृष्ण के अन्यत्र चले जाने पर गोपियाँ टोली बांधकर कृष्ण लीलाओं का अनुकरण करती हुई वृंदावन में इधर-उधर घूमने लगीं। कृष्ण में हृदय निरुद्ध कर आपस में यों बोलने लगीं : "मैं कृष्ण हूँ, देखो, मैं ललित गति से चलता हूँ।" दूसरी ने कहा : "मैं कृष्ण हूँ, मेरा गाना सुनो।" तीसरी बोली : "दुष्ट कालिय! यहाँ ठहर, में कृष्ण हूँ।" ताल ठोंक कर कृष्ण की लीला का अनुकरण करने लगी। चौथी बोल उठी : "गोपगण, तुम निर्भय हो यहाँ रहो, वृष्टि से व्यर्थ मत डरो, मैंने गोवर्धन धारण कर लिया है।" कृष्ण लीला का अनुकरण करने वाली दूसरी बोल उठी : "इस धेनुका सुर को मैंने मार डाला, तुम जहाँ चाहो विचरण करो।"

इस प्रकार गोपियाँ कृष्ण की लीलाएँ करती हुई व्यग्र भाव से रम्य वृंदावन में विचरने लगीं। एक गोपी भूमि की ओर देखेते ही पुलकित हो और कमल नयन खोलकर कहने लगी : "हे सखी! देखो, यह ध्वज, बज्राकुंशयुक्त पदचिन्ह लीलाविहारी कृष्ण के ही हैं। कोई भाग्यवती मद से अलसानी उनके संग गई है उसी के यह छोटे-छोटे और पासपास पदचिन्ह हैं। उस महात्मा (कृष्ण) के पदचिन्हों के केवल अग्र भाग देखने में आते हैं, इससे निश्चय ही दामोदर ने यहाँ ऊँचे वृक्षों के फूल तोड़े हैं। उन्होंने यहाँ बैठकर किसी गोपी का फूलों से शृंगार किया है। उसने पूर्व जन्म में सर्वात्मा विष्णु की पूजा की होगी। इस सम्मान से उसे गर्व हुआ होगा। इसलिए नंदनंदन उसे छोड़कर इस राह से गए हैं। देखो! पंजे के निशान की गहराई देखने से जान पड़ता है कि नितंब के बोझ से चलने में असमर्थ होकर कोई स्त्री दौड़कर चली है। सखी, यहाँ पैरों के निशान देखकर मालूम होता है कि चलने में असमर्थ उस गोपी का हाथ पकड़ कर वह चले हैं। हाथ पकड़ते ही वह धूर्त उसे छोड़ गया है, क्योंकि इन पद चिन्हों के देखने से

मालूम होता है कि वह निराश हो जल्दी-जल्दी न चल सकी तब पीछे लौटी है। और कृष्ण ने अवश्य ही उससे कहा होगा कि तुरत ही लौटकर मैं तुम्हारे पास आता हूँ। इसी से वह फिर दौड़कर चली है। जान पड़ता है, अब कृष्ण घने वन में घुसे हैं, क्योंकि पैरों के निशान अब दिखाई नहीं देते। यहाँ चंद्रमा की किरणें प्रवेश नहीं करती हैं। चलो लौट चलें।

कृष्ण के दर्शन न होने से निराश होकार गोपियाँ लौट पड़ीं और यमुना किनारे पहुँच कर उनके चरित गाने लगीं। अनंतर गोपियों ने देखा कि विकसित पंकज के समान मुख वाले, त्रैलोक्य की रक्षा करने वाले, कर्म करके न थकने वाले कृष्ण आ गए। कोई कृष्ण को आया देख अत्यंत हर्षित हो कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कहने लगी और कोई कुछ भी न बोल सकी। कोई भौंहे चढ़ा, हरि को देख, उनके मुखपंकज का दोनों नेत्र भृंगों से पान करने लगी। कोई गोविंद को देख आँखे मूंद कर योगियों की तरह उनके रूप का ध्यान करने लगी। अनंतर माधव किसी को प्रिय वचनों से, किसी को भ्रूभंग से देखकर, किसी को हाथों से छूकर अनुनय के साथ सबकी सांत्वना करने लगे। पीछे उदारचरित हरि प्रसन्न चित्त गोपियों के साथ रास मंडल में सादर क्रीड़ा करने लगे। पर गोपियाँ कृष्ण की बगल से हटती नहीं थीं, एक ठौर स्थिर हो गईं, इसलिए इनके साथ रास मंडल पूरा नहीं हुआ। पीछे एक-एक गोपी का हाथ पकड़ने और उनके छूने से आँखे बंद करने पर कृष्ण ने रास मंडली तैयार की। इसके बाद गोपियों की चंचल चूड़ियों के शब्द के और गोपियों के गाए हुए शरद काव्य के अनुगत ही वह रास क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए।

कृष्ण ने शरच्चन्द्र, कौमुदी, और कुमुद के बारे में गाया। गोपियों ने बारंबार कृष्ण ही नाम के गीत गाए। एक गोपी ने नाचते-नाचते थक कर चंचलवलयध्वनिविशिष्टबाहुलता मधुसूद्रन के कंधे पर रख दी। कपटता में निपुण एक गोपी ने कृष्ण के गीत की स्तृति करने के छल से बाहु से आलिंगन कर मधूसूदन का चुंबन कर लिया। कृष्ण की दोनों भुजाएँ किसी गोपी के कपोलों से छू जाने पर पुलकोद्गमस्वरूप अन्नादि उत्पादन करने के लिए खेदाम्ब मेघ बन गईं। कृष्ण ने ऊँचे सुर में जब तक रास गीत गाए तब तक गोपियाँ भी साधु कृष्ण, साधु कृष्ण कहकर चिल्लाती रहीं। कृष्ण के जाने पर उनके साथ जाने लगीं और लौट आने पर उनके सामने आने लगीं। इसी प्रकार प्रतिलोम अनुलोम गति से गोपांगनाएँ हरि का भजन करने लगीं। मधुसूदन ने गोपियों के साथ उसी स्थान में क्रीड़ा की। गोपियों को कृष्ण के बिना एक-एक क्षण करोड़

वर्षों के समान मालूम होने लगा। क्रीड़ा में अनुराग रखने-वाली गोपियों ने पति, पिता, भ्राता के मना करने पर भी रात को कृष्ण के साथ क्रीड़ा की। शत्रु संहारी अमेयात्मा मधुसूदन ने भी अपने को किशोर वयस्क समझकर रात को उनके साथ क्रीड़ा की।

इस भाषांतर के संबंध में एक बात कहनी है। वह यह कि 'रम्' धातु से सिद्ध शब्दों में मैंने रम् धातु का अर्थ क्रीड़ा किया है। 'रति प्रिया' का अर्थ मैंने 'क्रीड़ा में अनुराग रखने वाली' समझा है। आरंभ से 'रम्' धातु क्रीड़ा के अर्थ में व्यवहृत हैं उसका जो दूसरा अर्थ है, वह क्रीड़ा अर्थ से ही पीछे निकला है। 'रीति' और 'रतिप्रिय' इसी अर्थ में कृष्ण की लीला में बराबर व्यवहृत हुआ है, इसके अनेक उदाहरण हैं। हरिवंश के सड़सठवें (किसी-किसी पुस्तक में अड़सठवें) अध्याय में इसी तरह का प्रयोग है[3]। वहाँ क्रीड़ाशील ग्वालबालों को 'रतिप्रिय' गोपाल लिखा है। और यही अर्थ यहाँ संगत है, क्योंकि 'रास' एक क्रीड़ा विशेष है। आज भी भारतवर्ष के किसी-किसी स्थान में ऐसी क्रीड़ा या नृत्य प्रचलित हैं। रास का क्या अर्थ है, यह श्रीधर स्वामी ने बताया है। वह कहते हैं :

> अन्योन्यव्यतिषक्तहस्तनां स्त्रीपुंसां गायतां मण्डलीरूपेण भ्रमतां
> नृत्यविनोदः रासोनाम।

अर्थात् स्त्री पुरुष परस्पर हाथ पकड़कर गाते और मंडली बनाकर घूमते हुए जो नृत्य करते हैं, उसका नाम रास है। लड़के लड़कियों को इस तरह नाचते हमने देखा है। और सुना है कि स्याने होने पर भी कहीं-कहीं लोग ऐसा नाच नाचते हैं। इसमें श्रृंगार रस की गंध भी नहीं है।

'रास' एक खेल है और 'रति' का शब्दार्थ खेल है। इसलिए रास वर्णन में 'रति' शब्द आ जाए तो उल्थे में उसका प्रतिशब्द 'क्रीड़ा' ही व्यवहृत करना चाहिए।

इस रासलीला का वृत्तांत कुछ दुर्बोध है। इसका गूढ़ तात्पर्य मैं दूसरी पुस्तक में लिख चुका हूँ। पर यहाँ इसका भेद न बताना अनुचित है, इसलिए यह विषय मैं दोबारा लिख रहा हूं।

मैंने 'धर्मतत्त्व' में लिखा है कि मनुष्यत्व ही मनुष्य का धर्म है। इस मनुष्यतत्व या धर्म का उपादान हमारी सारी वृत्तियों का अनुशीलन, प्रस्फुटन और चरितार्थता है। मैंने इन वृत्तियों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है, जैसे शारीरिक, ज्ञानार्जनी, कार्य-कारिणी और चित्तरंजिनी। जिन वृत्तियों से सौंदर्यादि की पर्यालोचना कर हम निर्मल और अतुलनीय आनंद का अनुभव करते हैं, उनका नाम मैनें चित्तरंजिनी

वृत्ति रखा है। इनका भलीभाँति अनुशीलन करने से सच्चितानंदमय जगत् और जगन्मय सच्चितानंद के संपूर्ण स्वरूप का अनुभव हो सकता है। चित्तरंजिनी वृत्तियों का अनुशीलन न होने से धन की हानि होती है। जो आदर्श मनुष्य हैं, उनकी किसी वृत्ति का अनुशीलहीन या विकासहीन होना संभव नहीं है। यह रासलीला कृष्ण और गोपियों की उसी चित्तरंजिनी वृत्ति के अनुशीलन का उदाहरण है।

कृष्ण के लिए यह उपभोग मात्र है, पर गोपियों के लिए ईश्वर की उपासना है। एक ओर अनंत सुंदर के सौंदर्य का विकास और दूसरी ओर अनंत सुंदरी की उपासना। चित्तरंजिनी वृत्ति का परम् अनुशीलन उन वृत्तियों को ईश्वर मुखी करना अर्थात् ईश्वर की ओर लगाना ही है। प्राचीन समय में स्त्रियों के लिए ज्ञानमार्ग निषिद्ध था, क्योंकि वेदादि पढ़ने का उन्हें अधिकार नहीं था। उनके लिए कर्म मार्ग कष्टसाध्य था, पर भक्ति मार्ग में उन्हें विशेष अधिकार था। भक्ति का अर्थ है, 'परानुरिक्तरीश्वरे'। अनुराग बहुतेरे कारणों से उत्पन्न हो सकता है। परंतु सौंदर्य के कारण जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह सबसे बलवान है। इसलिए अनंत सुंदर के सौंदर्य का विकास और उसकी आराधना ही स्त्रियों के लिए जीवन सार्थक करने का मुख्य उपाय है। इस तत्त्व का रूपक ही रासलीला है। जड़ प्रकृति का समस्त सौंदर्य उसमें वर्तमान है। शरत्काल का पूर्णचंद्र, शरत्काल की श्यामसलिला यमुना, प्रफुल्ल, कुसुमों से सुवासित और कुञ्जविहङ्गमकूजित वृंदावन स्थली और फिर अनंत सुंदर का शरीर धारण कर विकसित होना, उस पर विश्व का विमोहन करने वाले कृष्ण के गीत! इस प्रकार चित्तरंजन होने से गोपियों की भक्ति उमड़ आई, और उनका कृष्ण पर ऐसा अनुराग हुआ कि वह अपने को ही कृष्ण समझने लगीं और जो बातें कृष्ण को कहनी चाहिएं वे कहने लगीं। केवल जगदीश्वर के सौंदर्य के अनुरागी होने से जीवात्मा और परमात्मा में जो अभेद ज्ञान होता है, जो ज्ञान योगियों के योग का और ज्ञानियों के ज्ञान का चरमोद्देश्य है, वही ज्ञान प्राप्त कर गोपियाँ ईश्वर में लीन हो गईं।

यह मैं स्वीकार करता हूँ कि आजकल हम लोग युवक युवतियों का मिलकर नाचना गाना बुरा समझते हैं। पर यूरोप वाले नहीं समझते हैं। जान पड़ता है, विष्णु पुराण जिस समय बना था, उस समय भी यही अवस्था थी। पुराण बनाने वाले भी इसे बुरा समझते थे। इसी से उन्होंने लिख रखा है कि :

ता वार्य्य माणाः पतिभि पितृभिः भ्रातृभिस्तथा।

और इसीलिए अध्याय के अंत में कृष्ण के दोष छुड़ाने के लिए लिखा है :

तद्भर्त्तृषु तथा तासु सर्वभूतेषु चेश्वरः।
आत्मस्वरूपरूपोऽसौ, व्याप्य वायुरिरवस्थितः।।
यथा समस्तभूतेषु नभोऽग्निः पृथिवीजलम्।
वायुश्चात्मा तथैवासौ व्याप्य सर्वमवस्थितः।।

वह (कृष्ण) उनके (गोपियों के) पतियों और उनमें तथा सर्व भूतों में व्याप्त है, ईश्वर भी आत्मास्वरूप रूप में वायु की तरह सर्वत्र व्याप्त है। जैसे सब भूतों में आकाश, अग्नि, पृथिवी, जल और वायु हैं वैसे ही वह भी हैं।

इस तरह उनके दोष धोने की कुछ जरूरत न थी। युवक युवतियों के मिलकर नाचनें में धर्म की दृष्टि से कुछ दोष नहीं है। केवल हमारी समाज में सामाजिक दोष है। जान पड़ता है, कृष्ण के समय में यह सामाजिक दोष भी नहीं था।

VI : ब्रजगोपी : हरिवंश

पिछले परिच्छेद में जो श्लोक उद्धृत कर आया हूँ वह विष्णु पुराण के पाँचवें अंश के तेरहवें अध्याय के हैं। इस अध्याय को छोड़ कर कहीं ब्रजगोपियों की कथा विष्णु पुराण में नहीं है। हाँ, कृष्ण के मथुरा जाते समय उनकी केवल खेदोक्तियाँ हैं।

इसी प्रकार गोपियों की कथा हरिवंश में भी विष्णु पर्व के 77वें अध्याय के सिवा और कहीं नहीं है[4]। जो कुछ है वह नीचे दिये देता हूँ। पर इसके पहले यह कह देना उचित है कि हरिवंश में 'रास' शब्द का व्यवहार कहीं नहीं हुआ है। उसके बदले 'हल्लीष' शब्द आया है। इस अध्याय का नाम 'हल्लीष क्रीड़नम्' है। तथा, ''इति श्रीमहाभारतेखिलेषु हरिवंशे विष्णुपर्वणि हल्लीषक्रीड़ने सप्तसप्ततमोध्यायः।'' हेमचंद्र के अभिधान में 'हल्लीष' का अर्थ लिखा है :

मण्डलेन नु यन्नृत्यं स्वीणां हाल्लीषम्तुक तत्।

वाचस्पात्यमें तारानाथ लिखते हैं :

स्त्रीणां मण्डलोकाकार नृत्ये।

इसलिए 'हल्लीष' और 'रास' का एक ही अर्थ नृत्यविशेष है।

अच्छा अब हरिवंश की भी चाशनी देख लीजिए :

कृष्णास्तु यौवनं दृष्टा निशि चंद्रमसौ नवं।
शारदीञ्च निशां रम्यां मनश्चके रतिम्मति।।
स करीषाङ्गरागासु ब्रजरथ्यासु वीर्य्यवान्।
वृषाणां जातदर्पाणां युद्धानि समयोजयत्।।

गोपालांश्च बलोदग्रान् योधयामास वीर्य्यवान्।
वने स वीरो गाश्चैव जग्राह ग्राहवद्विभुः।।
युवतीर्गो पकन्याश्च रात्रौ सङ्काल्य कालवित्।
कैशोरकं मानयन् वै सह ताभिर्मुमोदह।।
तास्तस्य वदनं कान्तं कान्ता गोपस्त्रियो निशि।
पिवन्ति नयनाक्षेपैर्गाङ्गतं शशिनं यथा।।
हरितालार्द्रपीतेन सकौशेयेन वासना।
वसानो भद्रवसनं कृष्णः कान्ततरोऽभवत्।।
स बद्धांङ्गदनिर्यूहश्चित्रया वनमालया ।
शोभमानो हि गोविन्दः शोभायामास तं व्रजं।।
नाम दामोदरेत्यवं गोपकन्यास्तदाब्रु वन्।
विचित्रं चरितं घोषे दृष्टा तत्तस्य भासतः।।
तास्तं पयोधरोत्तानैरुरोभिः समपीड़ियन्।
भ्रामिताक्षैश्चवदनैर्निरैक्षन्त वराङ्गनाः।।
ता वार्य्य माणाः पितृभिर्भ्रातृभिर्मातृभिस्तथा।
कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ मृगयन्ते रतिप्रियाः।।
तास्तु पंक्तिकृताः सर्व्वा रमयन्ति मनोरमं।
गायन्तः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः।।
कृष्णलीलानुकारिण्यः कृष्णप्रणिहितेक्षणाः।
कृष्णस्य गतिगामिन्यस्तरुण्यस्ता वराङ्गनाः।।
बनेषु तालहस्ताग्रैः कुट्टयन्तस्तथा पराः।
चेरुर्व्वै चरितं तस्य कृष्णस्य व्रजयोषितः।।
तास्तस्य नृत्यं गीतञ्च विलासस्मितवीक्षितम्।
मुदिताश्चानुकुर्व्वन्त्यः क्रीड़न्त्यो व्रजयोषितः।।
भावनिस्यन्दमधुरं गायन्त्यस्ता वराङ्गनाः।
व्रजं गता सुखं चेरुर्दामोदरपरायणाः।।
करीषपांशुदिग्धाङ्गास्ता कृष्णमनुवव्रिरे।
रमयन्त्यो तथा नागं सम्प्रेमत्तं करेणवः।।
तमन्या भावविकचैर्नचैः प्रदसिताननाः।
पिबन्त्यतृप्ता वनिताः कृष्णं कृष्णभृगेक्षयाः।।
मुखमास्याज्वसङ्काशं तृषिता गोपकन्यकाः।
रत्यंतरगता रात्रौ पिबन्ति रतिलालशाः।।

हाहेति कुर्व्वतस्तस्य प्रहष्टास्ता वराङ्गनाः।
जगृहुर्निमृतां वाणीं सम्प्रादामोदरेरितां।।
तासां ग्रथितसीमन्ता रतिश्रान्त्याकुलीकृताः।
चारु विस्त्रंसिरे केशाः कुचाग्रे गोपयोषिताम्।।
एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलङ्कृतः।
शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी।।
हरिवंश 77 अध्यायः।

रात को चंद्रमा का नव यौवन और रम्य शारदीय निशा देखकर कृष्ण को क्रीड़ा करने की अभिलाषा हुई। वीर्यवान् कृष्ण कभी सूखे गोबर से भरे व्रज के राजपथ पर मस्त वैलों को और कभी वलवान् ग्वालबालों को लड़ाते और कभी घड़ियाल की तरह वन में गायों को पकड़ लेते थे। कालज्ञ कृष्ण ने अपनी किशोरावस्था के सम्मानार्थ युवती गोपिकाओं के साथ रात के समय स्थिर कर आनंद किया। गोपियों ने भी नयनाक्षेप से पृथ्वी पर उतरे हुए चंद्रमा की तरह सुंदर कृष्ण के मुख का पान किया। सुंदर वसन पहनने वाले कृष्ण पीतांबर पहनकर और भी सुंदर लगे। बाज पहनकर तथा विचित्र वनमाला से शोभित हो कर गोविंद व्रज को सुशोभित करने लगे। सुवक्ता कृष्ण के विचित्र चरित्र को देखकर ग्वाल टोले में गोपिकाएँ उन्हें दामोदर कहने लगीं। उन्नत उरोजों से स्पर्श कर वह विराङ्गनाएँ चंचल नयनों से उन्हें देखने लगीं। क्रीड़ा में अनुराग रखने वाली गोपाङ्गनाएँ पिता, भ्राता और माता के निषेध करने पर भी रात को कृष्ण के पास चली गईं। उन सबने मनोहर क्रीड़ाएँ कीं और दो-दो मिलकर कृष्ण चरित्र के गीत गाए। तरुण विराङ्गनाओं ने कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण किया, कृष्ण को एक-टक देखा, और वह सब कृष्ण के पीछे-पीछे चलीं। कई गोपियाँ ताली बजाकर कृष्ण क्री लीलाएँ करने लगीं। व्रजबालाएँ कृष्ण के नृत्य, गीत, मंदहास का अनुकरण कर सानंद क्रीड़ा करने लगीं। कृष्ण परायण विराङ्गनाएँ भावपूर्ण मधुर गीत गाती व्रज जाकर सुख से विचरण करने लगीं। मस्त हाथी को जिस प्रकार हथनियाँ खिलाती हैं, उसी प्रकार सूखे गोबर से भरी हुई गोपियाँ कृष्ण के पीछे-पीछे जाने लगीं। अन्य हँसमुख मृग-लोचनी स्त्रियाँ भावपूर्ण लोचनों से कृष्ण को अतृप्त हो पान करने (देखने) लगीं। क्रीड़ा की लालसा से तृषित गोपियाँ रात को अनन्य क्रीड़ासक्त हो कृष्ण का कमलसदृश मुख देखने लगीं। कृष्ण के हा हा कहकर गान करने पर, विराङ्गना प्रसन्न हो कृष्ण के मुख से निकले वाक्य आनंदित हो दुहराने लगीं। उन गोपियों की कसी हुई चोटियाँ क्रीड़ा की थकावट से ढ़ीली हो गईं और

बाल बिखर कर कुचों के अग्र भाग पर लटकने लगे। गोपियों से घिरे हुए श्री कृष्ण इस प्रकार शरद की चांदनी में सुखपूर्वक गोपियों के साथ आनंद करने लगे।

विष्णु पुराण की रासलीला के प्रसंग में 'रम्' धातु से बने हुए शब्दों-का उलथा जैसे क्रीड़ा के अर्थ में मैंने किया है, वैसे ही यहाँ भी क्रीड़ार्थवाची प्रति शब्द दिए हैं। यह मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि और किसी तरह के प्रति शब्द यहाँ व्यवहृत नहीं हो सकते। यथा–

तास्तु पंक्तिकृता सर्वा रमयन्ति मनोरमम्

'रमयन्ति' शब्द का अर्थ क्रीड़ा ही यहाँ हो सकता है, रति नहीं हो सकता। जिन लोगों ने दूसरा अर्थ किया है, उन्होंने पूर्व प्रचलित कुसंस्कार को लिया है, जोकि हल्लीष क्रीड़ा विष्णु पुराण के रास की नकल है। नकल यहाँ तक की गई कि उसका एक श्लोक हरिवंश में ज्यों का त्यों जा पहुँचा। हाँ, कसम खाने के लिए कुछ हेरफेर जरूर कर दिया गया है। विष्णु पुराण में है :

ता वार्य्यमाना पतिभिः पितृभिः भ्रातृभिस्तथा।
कृष्णं गोपांगना रात्रौ मृगयन्ते रतिप्रियाः।।

और हरिवंश में है :

ता वार्य्यमाणाः पितृभिः भ्रातृभिः मातृभिस्तथा।
कृष्णं गोपांगना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः।।

हाँ, यह अवश्य है कि विष्णु पुराण की अपेक्षा हरिवंश का वर्णन संक्षिप्त है। पर और विषयों में ऐसा नहीं हुआ है। साधारण रीति से तो यही देखने में आता है कि विष्णु पुराण में जिस विषय का वर्णन संक्षेप से है, हरिवंश में वह विस्तारपूर्वक है और उसमें बहुत-सी मनगढंत बातें जोड़ी गई हैं। हरिवंश में रासलीला का संक्षिप्त वर्णन होने का कारण है। दोनों ग्रंथ मिलाकर देखने से मालूम हो जाता है कि कविता, गंभीरता, विहत्ता और उदारता में हरिवंशकार विष्णु पुराणकार से बहुत न्यून है।

वह विष्णु पुराण के रास वर्णन का गूढ़ तात्पर्य और गोपियों का भक्ति योग से कृष्ण में लीन होना न समझ सका। इसी से विष्णु पुराणकार ने जहाँ लिखा है :

काचित् प्रविलसद्बाहुः परिरभ्य चुचुम्ब तं।

वहाँ हरिवंशकारजी लिखते हैं :

तास्तं पयोधरोत्तानै रुरोभिः समपीडयन्।

इत्यादि।

अंतर बस इतना ही है कि विष्णु पुराण की चपल बालिकाएँ आनंद और हरिवंश की गोपियाँ विलासिता का भाव प्रगट करती हैं। हरिवंशकार की विलासप्रियता कई ठौर अधिक देखी जाती है।

विष्णु पुराण की रासलीला के बारे में जो जो बातें कही जा चुकी हैं, हरिवंश की हल्लीष क्रीड़ा के संबंध में भी वही समझना चाहिए।

ऊपर के श्लोकों को छोड़ हरिवंश में गोपियों के बारे में और कुछ नहीं है।

VII : व्रजगोपी–भागवत : वस्त्रहरण

श्रीमद्भागवत में गोपियों के साथ श्री कृष्ण का संबंध केवल रास और नृत्य तक ही समाप्त नहीं है। भागवतकार ने गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं को बहुत बढ़ा दिया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने आजकल की रुचि के विरुद्ध कर दिया है। ऊपर से वह भले ही आजकल की रुचि के विरुद्ध हो, पर उसके भीतर अति पवित्र भक्तितत्व छिपा हुआ है। हरिवंशकार की तरह भागवतकार विलासप्रियता के दोष से दूषित नहीं है। उसका तात्पर्य बड़ा गूढ़ और बड़ा ही विशुद्ध है।

दशम स्कंध के इक्कीसवें अध्याय में पहले-पहल गोपियों के पूर्व राग का वर्णन है। गोपियाँ श्री कृष्ण की वंशी ध्वनि सुन मोहित हो गई और आपस में कृष्णानुराग वर्णन करने लगीं। इस पूर्वानुराग वर्णन में कवि ने अपना असाधारण कवित्व प्रकाश किया है। पीछे उसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने एक उपन्यास रचा है, वही 'चीर हरण' नाम से प्रसिद्ध है। चीर हरण की चर्चा महाभारत, विष्णु पुराण, या हरिववंश में बिलकुल नहीं है। अतः इसे भागवत बनाने वाले की ही कल्पना समझना चाहिए। आजकल की रुचि के विरुद्ध होने पर भी मैं इस कथा को छोड़ नहीं सकता। क्योंकि भागवत की रासलीला पर कुछ कहना है और इससे चीर हरण का विशेष संबंध है।

कृष्ण के अनुराग में भरी हुई गोपियों ने कृष्ण को पति रूप से पाने के लिए कात्यायनी व्रत किया। यह व्रत एक महीने तक किया जाता है। गोपियाँ टोली बांधकर रोज सवेरे यमुना नहाती थीं। औरतों की एक बुरी बान है। वह नहाने के समय कपड़े किनारे पर रख जल में नंगी उतर जाती हैं। भारतवर्ष के प्रदेशों में आज भी यह चाल है। गोपियाँ भी साड़ियाँ तीर पर रख कर जल में उतर जाती थीं। जिस दिन व्रत समाप्त होना था उस दिन भी उन्होंने वही किया। उस दिन उन्हें कर्मफल (दोनों अर्थ में) देने के लिए श्री कृष्ण वहाँ पहुँच गए। वह घाट पर रखे हुए कपड़े उठाकर किनारे के कदंब पर जा चढ़े।

गोपियाँ बड़ी मुश्किल में जा पड़ीं। न बाहर निकल सकती थीं और न जल में रह सकती थीं। इधर लाज, और उधर ठंड। सवरे की ठंडी हवा उन्हें और सताने लगी। वह गले तक पानी में डूब कर जाड़े से काँपती हुई कृष्ण से कपड़े माँगने लगीं। कृष्ण यों सहज ही क्यों देने लगे। वह तो 'कर्मफल' देने आए थे। पीछे जो कुछ हुआ, वह मैं स्त्री और बालकों के समझने योग्य भाषा में किसी तरह नहीं लिख सकता। हाँ, मूल संस्कृत दिए देता हूँ।

गोपियाँ कृष्ण से कहने लगीं :

माऽनय भोः कृथास्त्वान्तु नंदगोपसुतं प्रियम्।
जानोमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपि तः।।
श्याम सुंदर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मक्ष नोचेद्राक्षे व्रुवामहे।।
श्रीमभगवानुवाच।।
भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तञ्च करिष्यथ!
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छत शुचिस्मिताः।
नोचेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति।।
ततो जलाशयात् सर्व्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां... आच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः।।
भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कंधे निधाय वासांसि प्रीतः मोवाच सस्मितम्।।
यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदुं देवहेलनम्।
वद्धाञ्जलिं मूर्द्धन्यपनुत्तयेहसः कृत्वा नमो'वसनं प्रगृह्यताम्।।
इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला मत्वा विवस्त्रल्पवनं ब्रतच्युतिम्।
तत्पूर्त्तिकामास्तदशेषकर्म्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृगूयतः।
तास्तथावनता दृष्टा भगवान् देवकीसुतः।।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणास्तेन तोषितः।।

श्रीमद्भागवतम्, 10 म स्कंध, 22 अध्याय।।

भक्ति का यही छिपा हुआ तत्त्व है। भक्ति से ईवर को पाने का प्रधान साधन उसके चरणों में सब कुछ अर्पण करना है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं :

यत् करोषि यद्श्नासि यज्ज होषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।

गोपियों ने कृष्ण को सब कुछ अर्पण कर दिया। स्त्रियां सब छोड़ सकती हैं, पर लज्जा नहीं छोड़ सकतीं। धन, धर्म, कर्म, सौभाग्य सब कुछ जा सकता है, पर उनकी लज्जा नहीं। लज्जा ही स्त्रियों का सबसे श्रेष्ट रत्न है। जिसने लज्जा छोड़ दी, समझ लीजिए उसने सब कुछ छोड़ दिया। गोपियों ने कृष्ण के लिए लज्जा तक छोड़ दी। यह कामातुर स्त्रियों का लज्जा त्याग नहीं है। यह लज्जावतियों का है। तात्पर्य यह कि गोपियों ने ईश्वर को सर्वस्व अर्पण कर दिया। कृष्ण ने भी उसे भक्ति का उपहार समझकर ग्रहण किया। उन्होंने कहा : "जिनकी बुद्धि मुझमें आरोपित हुई है उनकी कामना कामार्थ में कल्पित नहीं होती है। भूनने और सिझाने पर जौ का वीजत्व नष्ट हो जाता है।" भूना और सीझा जौ नहीं जम सकता है, अर्थात् जो कृष्ण की कामना करती हैं, वह काम के वश नहीं हैं। उन्होंन और भी कहा : "तुमने जिस लिए व्रत किया, वह मैं रात को पूरा करूँगा।"

गोपियों ने कृष्ण को पति रूप में पाने के लिए ही व्रत किया था। इस हेतु कृष्ण ने उनकी कामना पूरी करने के लिए उनका पति होना स्वीकार किया। अब बीच में नीति का वड़ा भारी झगड़ा आ खड़ा हुआ है। गोपियाँ पराई स्त्री हैं, उनका पति होना पर-स्त्री ग्रहण करना है। भला कृष्ण पर यह दोपारोपण क्यों? मेरे पास इसका बड़ा सहज उत्तर है। मैं अनेक प्रमाणों से समझा चुका हूँ कि यह सब पुराणकारों की मनगढंत कथाएँ हैं, इनमें कुछ भी सत्यता नहीं है। परंतु पुराणकारों के पास इसका सहज उत्तर नहीं है। उन्होंने परीक्षित के पूछने पर शुकदेवजी से इसका उत्तर दिलाया है। यथास्थान इसकी वात कहूँगां। पर यहाँ मुझे भी कहना पड़ेगा कि हिंदू धर्म के भक्तिवाद के अनुसार कृष्ण को इन गोपियों का पति अवश्य होना चाहिए। स्वयं कृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं :

ये यथ मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं उसी भाव से उस पर कृपा करता हूँ। अर्थातृ जो मुझ से विषयभोग चाहता है, उसे विषय भोग देता हूँ। जो मोक्ष चाहता है, उसे मोक्ष देता हूँ।" विष्णु पुराण में लिखा है कि देवताओं की माता दिति कृष्ण (विष्णु) से कहती हैं कि मैंने तुम्हारी कामना पुत्र भाव से की थी, इसीलिए मैंने तुम्हें पुत्र रूप में पाया है। इस भागवत में ही है कि वसुदेव देवकी ने ईश्वर की पुत्र भाव से कामना की थी, इससे उन्होंने उन्हें पुत्र रूप से पाया। गोपियां ने भी पति भाव से उन्हें चाहा और उसके लिए जैसी चाहिए वैसी साधना की, वस कृष्ण उन्हें पति रूप में मिल गए।

यदि यही बात है तो इसमें अधर्म क्या हुआ? ईश्वर की प्राप्ति में अधर्म कैसा? पुण्य का आदिभूत, पुण्यमय जगदीश्वर क्या पाप करने से मिलता है? पाप पुण्य क्या है? जिससे जगदीश्वर की प्राप्ति हो वही पुण्य है, वही धर्म है। इसके विपरीत जो कुछ है वह पाप है, वह अधर्म है।

पुराणकार ने यह तत्त्व भली भाँति समझाने के लिए इसमें पाप की गंध तक नहीं आने दी है। वह 29वें अध्याय में कहते हैं, जिन्होंने कृष्ण को पति भाव से न चाहकर उपपति भाव से चाहा था, उन्होंने इस शरीर से कृष्ण को नहीं पाया। जिन्हें घर वालों ने रोक कर रखा, उन्होंने कृष्ण में मन लगा कर प्राण छोड़ दिए :

त्वमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबंधनाः।।
10-29-10

जिन्हें कृष्ण को छोड़ दूसरे पति का स्मरण तक था उन्होंने कृष्ण को अवश्य ही उपपति समझा। दूसरे पति के स्मरण मात्र से वह कृष्ण में अनन्य ध्यान न कर सकीं। इससे वह सब सिद्ध या ईश्वर प्राप्ति की अधिकारिणी नहीं हुईं। जार के पीछे दौड़ना पाप है। इसलिए जार बुद्धि पाप है। जब तक जारबुद्धि रहेगी तब तक वह कृष्ण को ईश्वर नहीं समझ सकतीं। क्योंकि ईश्वर को कोई जार नहीं समझता और तब तक कृष्ण के पाने की उनकी इच्छा केवल कामेच्छा ही है। ऐसी गोपियाँ कृष्ण में सदा रत रहने पर भी इसी देह से कृष्ण को पाने के योग्य नहीं हैं।

इसलिए पति भाव से परमेश्वर को पाने की कामना करने में गोपियों को कुछ भी पाप नहीं है। गोपियों को नहीं, पर कृष्ण को तो है? इसका उत्तर विष्णु पुराण में जो कुछ है वही भागवत में भी है। ईश्वर को पाप पुण्य से मतलब? वह तो हमारी तरह शरीरी नहीं है। शरीरी हुए बिना इंद्रियपरता या इंद्रियजनित दोष नहीं होते हैं। सब प्राणियों में वह है, गोपियों में भी वह है, गोपियों के पतियों में भी है। इसलिए परदार स्पर्श का दोष उसे लग नहीं सकता।

इस बात पर एक आपत्ति है। ईश्वर यहाँ शरीरी और इंद्रिय विशिष्ट है। ईश्वर ने अपनी इच्छा से मानव शरीर धारण किया है, तो मनुष्य धर्मावलंबी होकर कार्य करने के लिए ही उसने शरीर धारण किया है। मानव धर्मी के लिए गोपियाँ परस्त्री हैं, और उनके साथ अभिगमन पाप है। कृष्ण ही गीता में कहते हैं कि लोगों की शिक्षा के लिए ही मैं कर्म करता रहता हूँ। लोक-शिक्षक परदाररत हो,

तो वह पापाचारी और पाप का शिक्षक है। इसलिए पुराणकारों ने जिस ढंग से दोष धोना चाहा, वह ठीक नहीं हुआ। इस प्रकार दोष धोने की जरूरत भी नहीं है। स्वयं भागवतकार ने कृष्ण को रास मंडल में जितेंद्रिय कहा है :

एवं शशाङ्कांशु विराजिता निशा
स सत्यकामोनुरतावलागणः
विशेष आत्मान्यवरुद्ध सौरतः
सर्व्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रया।।

श्रीमद्भागवत 10 स्क. 33 अ. 26।

गूढ़ता और भक्तितत्व की पारदर्शिता में विष्णु पुराणकार से भागवतकार बहुत बढ़े-चढ़े हैं। स्त्रियाँ संसार में पति को ही सबसे प्रिय समझती हैं। जो स्त्री परमेश्वर की परम भक्त है, वह पति भाव से ही परमेश्वर को चाहती है। अंग्रेजी पढ़कर हम चाहे जो कहें, पर बात यह बड़ी सुंदर है। इससे मानव हृदय की अभिज्ञता का तथा भगवत भक्ति की सौंदर्य ग्राहिता का कितना परिचय मिलता है! खैर, जिसने पति भाव से देखा उसी ने उसे पाया। जिसकी जार बुद्धि हुई, उसने नहीं पाया। भक्ति की अनन्यता समझाने का यह भी क्या सुंदर उदाहरण है। पर पुराणकारों ने और एक बात में गड़बड़ मचाई है। पतित्व में इंद्रिय संबंध है। इससे यह इंद्रिय संबंध भागवत के रास वर्णन में प्रवेश कर गया है। भागवत का रास विष्णु पुराण और हरिवंश के रास की तरह केवल नृत्य गीत नहीं है। कैलास शिखर पर जो तपस्वी भोलानाथ के क्रोधानल से भस्म हुआ था वह वृंदावन में किशोर रासविहारी की शरण में पुनर्जीवित होने के लिए प्रधूमित है।

यहाँ अनङ्ग ने प्रवेश किया है। पुराणकार का अभिप्राय बुरा नहीं है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्

स्मरण करके ही उन्होंने मुक्त जीवों का ईश्वर प्राप्ति जनित जो आनंद है, उसे अच्छी तरह प्रगट करने का प्रयत्न किया है। पर लोग उसे नहीं समझे। उनके लगाए हुए भगवत्-भक्ति-पंकज का मूल अतल जल में डूब गया है और केवल विकसित काम-कुसुम-दाम ऊपर उतराता रह गया। जो ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, नीचे गोते नहीं लगाते हैं उन्होंने केवल विषय भोग से पूर्ण वैष्णव धर्म प्रस्तुत किया। भागवत में भक्ति का जो गूढ़ तत्त्व है, वह जयदेव गोस्वामी के हाथों में जाकर मदन धर्मोत्सव बन गया। तब से हमारी जन्मभूमि मदन धर्मोत्सव के वोझ से दबी चली आ रही है। इस हेतु कृष्ण चरित्र की नूतन व्याख्या की

आवश्यकता हुई। संसार में कृष्ण चरित्र विशुद्धता और सर्वगुणसंपन्नता में अतुलनीय है। मेरे जैसे अयोग्य और अधम जन के कहने पर भी लोग वह पवित्र चरित्र सुनेंगे, यह सोचकर ही मैंने यह नवीन कृष्ण चरित्र रचने का साहस किया है।

VIII : व्रजगोपी–भागवत : ब्राह्मण कन्याएं

वस्त्र हरण का गूढ़ तात्पर्य जो कुछ मैंने समझा है, उसके बारे में एक वात कहनी बाकी है।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।

इस वाक्य के अनुसार अगदीश्वर को जो सर्वस्व अर्पण कर सकता है, वही ईश्वर के पाने का अधिकारी है। वस्त्र हरण के समय व्रज की गोपियों ने भी कृष्ण को सब कुछ अर्पण कर देने की क्षमता दिखाई थी, इसी से वे श्री कृष्ण को पाने की अधिकारिणी हुई। भागवतकार ने और एक कथा रचकर इस भक्तितत्व को और भी परिष्कृत कर दिया है। वह इस तरह है :

एक वार गौ चराने के समय वन में ग्वालबालों को भूख लगी। उन्होंने कृष्ण से खाने के लिए कुछ माँगा। पास ही कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। कृष्ण ने उन्हें ब्राह्मणों के पास भेजा और कहा कि मेरा नाम लेकर उनसे खाने को माँगना। ग्वालवालों ने वहाँ जाकर माँगा, पर ब्राह्मणों ने कुछ नहीं दिया। उन्होंने आकर कृष्ण से सव वातें कहीं। कृष्ण ने उन्हें फिर ब्राह्मण की कन्याओं के पास जाने के लिए कहा। उन्होंने वही किया। ब्राह्मणियों ने कृष्ण का नाम सुनते ही उन्हें भरपेट खाने के लिए दिया और कृष्ण पास ही हैं, सुनकर उनके दर्शनों के लिए सब दौड़ पड़ीं। वह सब कृष्ण को ईश्वर समझती थीं। कृष्ण ने उन्हें घर लौट जाने को कहा। ब्राह्मणियों ने कहा : "हम आपकी भक्त हैं, हम अपने पिता, माता, भ्राता, पुत्रादि छोड़कर आए हैं–वह अव हमें घर में घुसने नहीं देंगे। हम आपके चरणों में गिरते हैं, आप अव और कुछ उपाय वतावें।" कृष्ण ने उन्हें ग्रहण नहीं किया। वह वोले : "अंगों का मिलन ही अनुराग का केवल कारण नहीं है। तुम पहले अपना चित्त मुझमें लगाओ। फिर तुम जल्द ही मुझे पाओगी। मेरा श्रवण, दर्शन, ध्यान, कीर्त्तन करने से तुम मुझे पाओगी। पास रहने से नहीं। इसलिए तुम घर चली जाओ।" वह सब चली गईं।

इन ब्राह्मणियों ने कृष्ण को पाने के योग्य कौन-सा काम किया था? वह सब केवल माता, पिता, कुटुंब छोड़कर आई थीं। कुलटाएँ ही अपने जारों के लिए

ऐसा करती हैं। भगवान को उन्होंने सर्वस्व अर्पण नहीं किया। वह सिद्ध होने की अधिकारिणी नहीं हुईं। इसलिए कृष्ण ने सिद्ध होने की पहली सीढ़ी श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिका उपदेश देकर उन्हें विदा किया। पवित्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाली साधना के अभाव से ईश्वर प्राप्ति की अधिकारिणी नहीं हुईं और साधना के प्रभाव से गोपियाँ हो गईं। प्रथम अनुराग वर्णन के समय भागवत के प्रणेता ने गोपियों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन विस्तार सहित समझाया है।

अब मैं भागवत के विख्यात रास पंचाध्याय के पास आ पहुँचा हूँ। पर वस्त्र हरण की आलोचना में रासलीला का तत्त्व मैंने इतना बढ़ाकर लिखा कि अब उसके संबंध में कुछ थोड़ा सा कह देने से ही काम चल जाएगा।

IX : व्रजगोपी–भागवत : रासलीला

भागवत के दसवें स्कंध के 29, 30, 31, 32, 33 ये पाँच अध्याय ही रास पंचाध्याय हैं। पहले, अर्थात् उनतीसवें अध्याय में, श्री कृष्ण ने सरद पूर्णिमा की रात को मधुर वंशी बजाई। पाठकों को स्मरण होगा कि विष्णु पुराण में लिखा है कि उन्होंने कलपद अर्थात् अस्फुट पद गाए। भागवतकार ने वह 'कल' शब्द रखा है, जैसे 'जगौ कलम्'। टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस 'कल' शब्द से कृष्ण मंत्र का बीज 'कली' शब्द सिद्ध किया है। उन्होंने उसे कामगीत कहा है। टीकाकारों की महिमा अनंत है। स्वयं पुराणकार ने इस गीत को 'अनङ्ग वर्द्धनम्' कहा है।

वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ कृष्ण के दर्शनों के लिए दोड़ीं। पुराणकार ने गोपियों के उतावलेपन और बावलेपन का जो वर्णन किया है, वह देखकर कालिदास कृत पुर स्त्रियों की शीघ्रता और विभ्रम स्मरण होता है। किसने किसका अनुकरण किया यह मैं नहीं कहना चाहता।

गोपियों के आ जाने पर कृष्ण ने ऐसे ढंग से यह कहा मानों वह कुछ जानते ही नहीं हैं : ''कुशल तो है? तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य मैं करूँ? व्रज में कुशल तो है न? तुम सब यहाँ क्यों आईं?'' यह कह कर फिर कहने लगे :''यह रात बड़ी भयंकर है, बड़े-बड़े भयानक पशु यहाँ रहते हैं, स्त्रियों के रहने योग्य यह स्थान नहीं है। तुम सब घर लौट जाओ। तुम्हारी माता, तुम्हारे पिता, पुत्र, भ्राता, पति तुम्हें न देखकर ढूँढ़ रहे होंगे। तुम अपने वंधु-बांधवों को भयभीत करने का कारण मत हो। पूर्ण चंद्र से प्रकाशमित वन तुमने देख लिया तो? अब तुम जल्द जाकर पति की सेवा करो। बालक और बछड़े रो रहे हैं, उन्हें दूध पिलाओ। अथवा स्नेहवश तुम यहाँ आई होंगी। सब प्राणी ही मुझपर इस तरह स्नेह करते

हैं। पर हे कल्याणियों, पति की निष्कपट सेवा और बंधु तथा संतानों का पालन पोषण ही स्त्रियों का प्रधान धर्म है। जो स्त्रियाँ पवित्र हो दोनों लोकों की मंगल कामना करती हैं, वे अपने पति का परित्याग नहीं कर सकतीं, चाहे वह दुष्ट, अभागा, मूर्ख, रोगी और पराधीन क्यों न हो। कुल स्त्रियों के लिए जार कर्म बड़ा भयंकर है। इससे अपयश और निंदा होती है तथा नरक मिलता है। श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तन से तुम्हारे चित्त में मेरा भाव उदय हो सकता है, पर निकट रहने से नहीं होगा। इसलिए तुम सब घर जाओ।"

पुराणकार कृष्ण से यह कहलाकर दिखलाना चाहते हैं कि पतिव्रत्य धर्म की महिमा से अनभिज्ञ हो अथवा उसकी अवज्ञा कर कृष्ण और गोपियों के इंद्रिय संबंध का वर्णन हमने नहीं किया है। इनका अभिप्राय मैं पहले ही समझा चुका हूँ। कृष्ण ने ब्राह्मणियों को भी इसी प्रकार समझाया था। वे सुनकर फिर गईं। पर गोपियाँ न फिरीं। रोने लगीं। बोलीं : "ऐसी बात मत कहो, हमने तुम्हारे चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दिया है। आदि पुरुष जिस तरह सुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाले) को नहीं छोड़ते हैं, उसी तरह तुम भी हमें मत छोड़ो, हम चाहे ग्रहण के अयोग्य ही क्यों न हों। तमु धर्मज्ञ हो, पति, पुत्र, बंधु आदि की सेवा स्त्रियों का जो धर्म तुम बताते हो, वह तुम में ही हो जाए। क्योंकि तुम ईश्वर हो। तुम देहधारियों के प्रिय बंधु और आत्मा हो। हे आत्मा! जो चतुर हैं वह तुम में ही रति (आत्मरति) करते हैं, क्योंकि तुम नित्यप्रिय हो, दुखदाई पति पुत्रों से क्या होगा?" इत्यादि।

इन वाक्यों से पुराणकार ने समझाया है कि गोपियों ने ईश्वर समझकर श्री कृष्ण की उपासना की थी और ईश्वर के लिए ही पति, पुत्रों का त्याग किया था। इसके बाद और भी बहुत सी बातें हैं, जिनसे पुराणकार यह समझाते हैं कि कृष्ण के अनंत सौंदर्य पर मुग्ध होकर ही गोपियाँ उनके पीछे दौड़ी थीं। पीछे वह कथन करते हैं कि श्री कृष्ण स्वयं आत्माराम हैं अर्थात् अपने से भिन्न किसी में उनकी रति, विरति कुछ नहीं है। तो भी उन्होंने गोपियों के बचनों से संतुष्ट हो उनके साथ क्रीड़ा की। और उनके साथ गाते हुए यमुना तट पर परिभ्रमण किया।

कुछ लोग कहते हैं कि भागवत में कही हुई रासलीला से इंद्रियों का कुछ भी संबंध नहीं है। यदि वास्तव में ऐसा हो तो मैंने इस लीला का जैसा अर्थ किया है, वह किसी तरह ठीक न होता पर यह लीला वैसी नहीं है। इसके प्रमाण के लिए वहीं से एक श्लोक लिखे देता हूँ :

बाहुग्रसारपरिरभ्य - करालकोरू
नीवीस्तनालभननर्म्म नखाग्र-पातैः

खुल्यावलोकहसितैर्व्रजसुंदरीणा
मुतम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चुकार।।

अन्यान्य स्थानों से भी इस प्रकार के दो चार प्रमाण दूँगा। इन सबका अनुवाद देना उचित न होगा।

इसके बाद गोपियों ने कृष्ण को पाकर बड़ा मान किया। उनका मान तोड़ने के लिए कृष्ण अंतर्धान हो गए। यह हुई उनतीसवें अध्याय की कथा।

तीसवें अध्याय में गोपियों ने कृष्ण को ढूँढ़ा, इसका वर्णन है। यह स्थूल रूप से विष्णु पुराण का अनुकरण है। हाँ, भागवतकार ने काव्य को जरा और सरस कर दिया है। इसलिए इस अध्याय के बारे में और कुछ कहना आवश्यक नहीं।

एकतीसवें अध्याय में गोपियाँ कृष्ण संवंधी गीत गा-गाकर उन्हें पुकारती हैं। इसमें भक्ति और शृंगार दोनों रस हैं। इसमें समझाने की विशेष कुछ बात नहीं है। बत्तीसवें अध्याय में कृष्ण पुनः प्रकट होते हैं। इंद्रियों का संवंध प्रमाणित करने के लिए एक श्लोक और यहाँ उद्धृत करता हूँ :

काचिदञ्चलिना गृह्यात् तन्वीताम्वू लचर्व्रितम्।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोर्न्यधात्।।

इस अध्याय के अंत में कृष्ण और गोपियों से कुछ आध्यात्मिक वार्तालाप हुआ। उसे यहाँ लिखने की कुछ जरूरत नहीं मालूम होती। पीछे तेंतीसवें अध्याय में रास क्रीड़ा और विहार वर्णन है। विष्णु पुराण की रास क्रीड़ा की तरह यहाँ की रास क्रीड़ा भी केवल नृत्य गीत है। परंतु है क्या कि गोपियों ने यहाँ कृष्ण को पति भाव से पाया है, इसलिए किंचिंतमात्र इंद्रिय संवंध भी है। यया :

कस्याश्चिन्नाद्य विक्षप्त कुण्डलत्विष मण्डितम्।
गण्डं गण्डे संदध त्याः प्रादात्ताम्वू लचर्वित्तम्।।13
नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नपुरमेखला।
पार्श्वस्याच्युतहस्ता ब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्।।14"

× × ×

तदङ्गसङ्ग प्रमुदा कुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाज्जः प्रतिव्योढ़ मलंव्रजस्त्रियो विस्त्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह।।18

इसमें ऐसी वातों के सिवा और कुछ नहीं है। स्वयं पुराणकार ने कृष्ण को जितेन्द्रिय लिखा है। यह मैं पहले कह चुका हूँ और इसका प्रमाण भी दे चुका हूँ।

X : श्री राधा

भागवत के इन रासपञ्चाध्यायों में 'राधा' का नाम कहीं नहीं मिलता है। पर वैष्णव आचार्यों की अस्थिमज्जा के भीतर राधा का नाम घुसा हुआ है। उन लोगों ने टीका टिप्पणियों में राधा का नाम वारंवार घुसेड़ा है, पर मूल में कहीं नहीं है। गोपियों के अधिक अनुराग से उत्पन्न ईर्षा के प्रमाण में कवि ने लिखा है कि गोपियों ने पदचिन्ह देख अनुमान किया था कि कृष्ण किसी गोपी को लेकर विजन वन में चले गए हैं। पर वह भी गोपियों का ईर्षाजनित भ्रममात्र है। कृष्ण अन्तर्धान हुए, वस इतना ही लिखा है। किसके साथ हुए, इसकी कोई चर्चा नहीं है और न राधा का नाम ही है।

रासपञ्चाध्याय में ही क्यों सारी भागवत में कहीं राधा का नाम नहीं है। भागवत में ही क्या, विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण या महाभारत में भी राधा का नाम नहीं है। पर तो भी आजकल कृष्ण की उपासना का प्रधान केन्द्र अव राधा है। राधा के विना कृष्ण का नाम ही आधा हो जाता है। राधा के विना न कृष्ण की मूर्ति है और न मंदिर है। वैष्णवों की वहुतेरी पुस्तकों में तो राधाजी कृष्ण से बहुत ऊँची चढ़ गई हैं।

महाभारत, हरिवंश, विष्णु पुराण या भागवत में 'राधा' नहीं है, फिर यह आई कहाँ से? राधा का नाम पहले-पहल ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में मिलता है। विलसन साहब इसे सब पुराणों से छोटा समझते हैं। इसकी रचना प्रणाली आजकल के पंडितों की सी है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आदि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण लुप्त हो गया है। इसका प्रमाण भी दे चुका हूँ। जो अभी मिलता है, उसमें एक नया देवतत्व संस्थापित हुआ है। पहले से यही प्रसिद्ध है कि कृष्ण विष्णु के अवतार हैं। पर ब्रह्मवैवर्त्त वाले कहते हैं कि कृष्ण विष्णु के अवतार नहीं हैं। कृष्ण ने ही विष्णु की सृष्टि की है। विष्णु रहते हैं वैकुंठ में और कृष्ण रहते हैं गोलोक के रास मंडल में। वैकुंठ गोलोक से बहुत नीचे है, कृष्ण ने केवल विष्णु को ही नहीं, ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मी, दुर्गा आदि समस्त देव-देवियों तथा जीवों को वनाया है। इनका वास गोलोक धाम में है। वहाँ गो, गोप और गोपियाँ रहती हैं। वह देव-देवियों से बढ़कर हैं। इस गोलोक धाम की अधिष्ठात्री कृष्ण की प्यारी देवी ही राधा है। राधा के आगे रास मंडल है। उसी में इन्होंने राधा को उत्पन्न किया है। इन्होंने रास के रा और धा धातु के धा से राधा नाम सिद्ध किया है[5]। यह गोलोक धाम पूर्व कवियों के वर्णित वृंदावन की हू-ब-हू नकल है। आजकल की रास मंडली में जैसे राधा की सौत चंद्रावली नाम की सखी है वैसे ही गोलोक धाम में भी

विरजा सखी है। मानभंग लीला में रास वाले जैसे कृष्ण को चंद्रावली की कुंज में ले जाते हैं, वैसे ही गोलोक धाम में भी श्री कृष्ण विरजा की कुंज में जाते हैं। इससे रास मंडली की राधिका को जिस तरह ईर्षा तथा कोप होता है, उसी तरह ब्रह्मवैवर्त्त की राधा को भी होता है। इससे मामला बड़ा बेढ़ब हो जाता है। कृष्ण को विरजा के मंदिर में पकड़ने के लिए राधा जी रथ पर विरजा के मंदिर में पहुँचती हैं। विरजा के द्वारपाल हैं श्रीदामा या श्रीदाम। श्रीदामा राधिका को रोकते हैं। उधर राधिका के भय से विरजा गलकर जल हो जाती है और नदी हो बह चलती है। श्री कृष्ण इससे बड़े दुखी होते हैं। वह विरजा को जिलाकर फिर ज्यों की त्यों बना लेते हैं। विरजा गोलोकनाथ के साथ अविरत आनंदानुभव करने लगती है। क्रम से उसके सात पुत्र होते हैं। पर उनसे आनंद में विघ्न पड़ता है। इससे माता उन्हें शाप देती है और वह सात समुद्र हो जाते हैं। इधर कृष्ण और विरजा का वृत्तांत सुनकर राधा कृष्ण को डांट डपट बताती है और शाप देती हैं कि पृथ्वी पर जाकर वास करो। इस पर कृष्ण का किङ्कर श्रीदामा क्रुद्ध हो राधिका को उलटी सीधी सुनाता है। राधा उसे भी शाप देती हैं कि जा असुर हो जा। दामा भला क्यों चुप रहने लगा। वह भी कहता है, जा तू भी मनुष्य कुल में जन्म ले, रायान की स्त्री बन और तुझे कलंक लगे।

अंत में दोनों कृष्ण के निकट आकर रोते हैं। कृष्ण श्रीदामा को वर देते हैं कि तू असुरों का राजा होगा, युद्ध में तुझे कोई न हरा सकेगा। शंकर का शूल छूकर तेरी मुक्ति होगी। राधा को भी आश्वासन दे कर कहते हैं : "चलो, मैं भी चलता हूँ।" बस पृथ्वी का भार उतारने के लिए वह पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गए।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की बातें नवीन और आधुनिक होने पर भी उसका रंग बंगाल के वैष्णव धर्म पर खूब जम गया। जयदेव आदि बंगाली वैष्णव कवियों का, बंगाल के जातीय संगीत का और बंगाल की रास मंडली महोत्सवादि का मूल ब्रह्मवैवर्त्त ही है। बंगाली वैष्णवों ने ब्रह्मवैवर्त्त की एक मूल कथा नहीं ली। इसी से उनमें उसका उतना प्रचार भी नहीं है। वह यह कि राधिका को लोग रायान की पत्नी जानते हैं, परंतु ब्रह्मवैवर्त्त में लिखा है कि राधिका विधि के विधानानुसार कृष्ण की विवाहिता पत्नी हैं। विवाह का वृत्तांत विस्तार सहित लिखता हूँ। लिखने के पहले गीतगोविंद के प्रथम श्लोक का स्मरण कराता हूँ।

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः।
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।।

इत्यं नंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्य कुंजद्रुमं।
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।।

अर्थात् हे राधे! आकाश में मेघ छाए हैं, तमाम द्रुमों से सारी वनभूमि श्याम हो गई है, इसलिए तू ही इन्हें घर पहुँचा दे, नंद के यह कहने पर राधा और माधव रास्ते पर के कुंजद्रुम की ओर चलते हुए, इन दोनों की यमुनाकूल की गुप्त केलियों की जय हो।

इसका क्या अर्थ है? टीकाकार या भाषांतरकार कोई भी अच्छी तरह से इसका अर्थ समझा नहीं सकता। एक भाषांतरकार कहता है, "गीतगोविंद का पहला श्लोक कुछ अस्पष्ट है, कवि ने नायक-नायिका की कौन-सी अवस्था स्मरण कर यह लिखा है, ठीक नहीं कहा जा सकता। टीकाकार की राय से यह राधिका की सखी की उक्ति है। इससे भाव एक तरह से मधुर हो जाता है—सही, पर शब्दार्थ असंगत रहता है।" वास्तव में यह सखी की उक्ति नहीं है। जयदेव गोस्वामी ने ब्रह्मवैवर्त्त की कथा के आधार पर ही यह श्लोक बनाया है। अब मैं ब्रह्मवैवर्त्त की कथा यहाँ लिखता हूँ। एक बात कह छोड़ता हूँ कि श्रीदामा के शाप के अनुसार राधिका को श्री कृष्ण के कई वर्ष पहले पृथ्वी पर आना पड़ा था। इस हेतु वह कृष्ण से बहुत बड़ी थीं। जब वह युवती थी तब कृष्ण बालक थे।

एकदा कृष्णसहितो नंदे वृन्दावनं ययौ।
तत्रोपवन भाण्डीरे चारयामास गोकुलम्।।1
सरः सुस्वादु तोयञ्च पययामास तत् पयौ।
उवास वटमूले च बालं कृतवा स्ववक्षसि।।2
एतस्मिन्नन्तरे कृष्णो माया बालकविग्रहः।
वकार मायया कस्मान्मेघाच्छनं नभो मुने।।3
मेघावृतं नभो दृष्टा श्यामलं काननान्तरं।
झंझावातं मेघशब्दं वज्रशब्दञ्च दारुणम्।।4
वृष्टिधारामतिस्थू लां कम्पमानांश्च पादपान्।
दृष्टैवं पतितस्कन्धान् नन्दो भयमवापह।।5
कथं यास्यामि गोवत्सं विहाय स्वाश्रर्म प्रति।
गृहं यदि न यास्यामि भविता बालकस्य किम्।।6
एवं नन्दे प्रवदति रुरोद श्रीहरिस्तदा।
मायाभिया भयेभ्यश्च पितः कण्ठं दधार सः।।9

एतस्मिन्नन्तरे राधा जगाम कृष्णन्निधिम्।।

ब्रह्मवैवर्त्त, श्री कृष्णजन्मखण्डे 15 अ.।

अर्थात् एक बार नंद कृष्ण को लेकर वृंदावन गए। वहाँ के भांडीर वन में गायों को चराते थे। उन्होंने सरोवर का सुंदर जल गायों को पिलाया और आप भी पिया। वह बालक को गोद में लेकर वट वृक्ष के नीचे बैठ गए। हे मुने, इसके बाद बालक रूपधारी कृष्ण ने अकस्मात् अपनी माया से आकाश मेघाच्छन्न कर दिया। मेघों से आकाश का घिरना, वन का अंधकार, आंधी, बादलों की कड़क और गरज, मूसलधार वृष्टि और वृक्षों का काँप कर झुकना देखकर नंद डर गए। गो-बछड़ों को छोड़कर कैसे घर जाऊँ, यदि न जाऊँ तो इस बालक की क्या दशा होगी, यह जब नंद सोच रहे थे तब श्री हरि रोने लगे। माया से भयभीत हो पिता के गले में लिपट गए। उसी समय राधिका कृष्ण के निकट आ पहुँची।

नंद राधा का अपूर्व लावण्य देखकर विस्मित हो गए। वह राधिका से बोले : "मैंने गर्ग से सुना है कि तू लक्ष्मी से भी अधिक हरि को प्यारी है। और यह परम निगुर्ण अच्युत महा विष्णु है। मैं तो मनुष्य हूँ, विष्णु की माया से मोहित हूँ। हे भद्रे, तू अपने प्राणनाथ को ग्रहण कर, तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ जा। अपना मनोरथ पूर्ण करके मेरा पुत्र मुझे लौटा दे।"

नंद ने यह कह कृष्णकर को राधा के हाथ में सौंप दिया। राधा भी कृष्ण को गोद में ले चल दी। कुछ दूर जाकर राधा ने रास मंडल का स्मरण किया। स्मरण करते ही सुंदर विहार भूमि बन गई। कृष्ण ने वहाँ पहुँच कर किशोर मूर्ति धारण की। वह राधा से बोले : "यदि गोलोक की बात याद हो तो जो कह चुका हूँ वह पूरा करूँगा।" जब दोनों प्रेमालाप कर रहे थे तब ब्रह्मा आ उपस्थित हुए। उन्होंने राधा की बड़ी स्तुति की। पीछे उन्होंने यथा विहित वेद विधि के अनुसार राधा का विवाह कृष्ण के साथ कर दिया। पीछे वह चल दिए। रायान के साथ राधा का विवाह शास्त्रानुसार हुआ या नहीं, अगर हुआ था तो इसके पहले हुआ या पीछे, इसका व्यौरा ब्रह्मवैवर्त्त में कुछ नहीं मिला। राधा कृष्ण के व्याह के बाद विहार वर्णन है। यह कहना व्यर्थ है कि ब्रह्मवैवर्त्त की रासलीला भी वस तथैव च है।

जो हो, पाठक देखेंगे कि ब्रह्मवैवर्त्तकार ने बिलकुल नए वैष्णव धर्म की सृष्टि की है। इस वैष्णव धर्म की गंध भी विष्णु, भागवत, या और किसी पुराण में नहीं है। इस नए वैष्णव धर्म का केंद्रस्वरूप राधा ही है। जयदेव कवि ने इस नूतन वैष्णव धर्म का अवलंबन करके ही गीतगोविंद की रचना की थी। बंगाल

के विद्यापति,[6] चंडीदास आदि वैष्णव कवियों ने जयदेव का अनुकरण कर कृष्ण के गीत बनाए हैं। श्री चैतन्य देव ने भी इसी नूतन धर्म का अवलंबन कर मधुर रस पूर्ण नवीन भक्तिवाद का प्रचार किया है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मवैवर्त्तकार ने सब कवियों से, सब ऋषियों से, सब पुराणों से और सब शास्त्रों से बढ़कर अधिकार बंगालियों के जीवन पर जमाया है।

अच्छा अब यह देखना है कि यह नूतन धर्म कहाँ से आया और इसका तात्पर्य क्या है? भारतवर्ष में जितने दर्शन शास्त्र बने हैं, उनमें साधारण रीति से छः की ही प्रधानता है। इन छः शास्त्रों में वेदांत और सांख्य इन दो की प्रधानता अधिक है। बहुतों का विश्वास है कि व्यास प्रणीत ब्रह्म सूत्र से वेदांत दर्शन बना है। पर वास्तव में वेदांत दर्शन का मूल ब्रह्मसूत्र नहीं, उपनिषद् हैं। उपनिषदों का भी नाम वेदांत है। उपनिषदों में कहे हुए ब्रह्मतत्व का निचोड़ बस यही है कि ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं है। यह जगत्, और जीव ईश्वर के ही अंश हैं। वह एक था, सृष्टि की इच्छा से बहुत हो गया। वह परमात्मा है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। ईश्वर की माया से वह जीव हो गया है। माया से मुक्त होते ही वह फिर ईश्वर में लीन हो जाएगा। वह अद्वैतवाद से परिपूर्ण है।

पहले के वैष्णव धर्म की दीवार इसी वेदांत के ईश्वरवाद के ऊपर खड़ी हुई थी। विष्णु और विष्णु के अवतार कृष्ण वेदांत के ईश्वर हैं। विष्णु पुराण, भागवत तथा ऐसे ही और-और ग्रंथों में जो विष्णु स्रोत्र या कृष्ण स्रोत्र हैं वह पूर्ण रूप से या अपूर्ण रूप से अद्वैतवादात्मक हैं। इसका प्रधान उदाहरण शांति पर्व का भीष्म कृत कृष्ण स्रोत्र है।

परंतु अद्वैतवाद और द्वैतवाद भी बहुत तरह के हो सकते हैं। आधुनिक समय में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, और बल्लभाचार्य, इन चारों ने अद्वैतवाद की भिन्न-भिन्न व्याख्या करके अद्वैतवाद, विशिष्ट द्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद और विशुद्ध द्वैतवाद, यह चार प्रकार के मत प्रचार किए हैं। पर प्राचीन समय में इतने मत नहीं थे। ईश्वर और ईश्वर स्थित जगत् के संबंध में उस समय के दो मत मिलते हैं। पहला तो यह है कि ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ईश्वर ही जगत्, उसके सिवा और कोई पदार्थ जगत् में नहीं है। दूसरा यह है कि जगत् ईश्वर या ईश्वर जगत् नहीं है, पर ईश्वर में जगत् है—"सूत्रे मणिगणाइव" ईश्वर भी जगत् के सब पदार्थों में है। किंतु उनसे भिन्न है। प्राचीन वैष्णव धर्म इसी दूसरे मत पर निर्भर है।

दूसरा प्रधान दर्शन शास्त्र सांख्य है। कपिल का सांख्य ईश्वर नहीं मानता

है। परंतु पीछे के सांख्य ईश्वर मानते हैं। सांख्य की मोटी बात यही है कि जड़ जगत् या जड़ जगन्मयी शक्ति परमात्मा से बिलकुल पृथक् है। परमात्मा या पुरुष सब तरह से अकेला है। वह कुछ नहीं करता है और न जगत् से उसका कुछ संबंध है। जड़ जगत् और जड़ जगन्मयी शक्ति का नाम सांख्यकारों ने 'प्रकृति' रखा है। यह प्रकृति ही सबका सृजन करती है, सबका संचारण तथा संचालन करती है और सबका संहार करती है। इसी प्रकृति पुरुष तत्त्व से प्रकृति प्रधान तांत्रिक धर्मा की उत्पत्ति हुई है। इस तांत्रिक धर्म में प्रकृति पुरुष को एकता अथवा उनका अति घनिष्ठ संबंध दिखाया गया है। इसमें प्रकृति की प्रधानता होने से ही यह धर्म लोकप्रिय हुआ था। जो वैष्णवों के अद्वैतवाद से असंतुष्ट थे, वह तांत्रिक धर्म में आ गए। ब्रह्मवैवर्त्त के रचयिता ने वैष्णव धर्म को पुनरुज्ज्वल करने के लिए वैष्णव धर्म में तांत्रिक धर्म का सारांश मिलाकर यह नया वैष्णव धर्म चलाया अथवा उसका पुनः संस्कार किया। उनकी राधा वही है, जो सांख्यकार की मूल प्रकृति है। ब्रह्मवैवर्त्त के ब्रह्म खंड में यद्यपि लिखा है कि कृष्ण ने मूल प्रकृति को बनाकर राधा को बनाया तथापि श्री कृष्ण जन्म खंड में स्वयं कृष्ण राधिका को बार-बार मूल प्रकृति कहकर संबोधन करते हैं :

ममर्द्धांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी
श्री कृष्णजन्मखंड 15 अ. 67 श्लो.।

परमात्मा के संग प्रकृति का और कृष्ण के साथ राधा का क्या संबंध है, यह पुराणकार ने बताया है। श्री कृष्ण कहते हैं :

यथा त्वञ्च तथाहञ्च भेदौ हि ना वयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरेच धावल्यं यथाग्नो दाहिकासती।।57
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततं।
विना मृदा घटं कर्तुं विना स्वर्णेन कुण्डलम्।।58
कुलालः स्वर्णकारश्च नहि शक्तः कदाचन।
तथा त्वया विना सृष्टि नच कर्त्तुमह क्षमः।।59
सृष्टेराधार भूतात्वं बीजरूपोहमच्युतः।।60
कृष्णं वदन्ति मां लोकास्त्वयैव रहितं यदा।
श्री कृष्णञ्चु तदा तेहि त्वयैव सहितं परम्।।62
त्वञ्च श्रीस्त्वञ्च सम्पत्तिस्त्वमाधारस्वरूपिणी।
सर्व्वशक्ति स्वरूपासि सर्व्वेषाञ्च ममापिच।।63

त्वंस्त्री पुमानहं राधेनेति वेदेषु निर्णयः।
त्वंच सर्व्वरूपासि सर्व्वरूपोहमक्षरे।।64
यदा तेजः स्वरूपोह तेजो रूपासि त्वं तदा।
न शरीरी यदाहञ्च तदा त्वमशरीरिणी।।65
सर्व्वबीजस्वरूपोह यथा योगेन सुन्दरी।
त्वंच शक्तिस्वरूपासि सर्व्वस्त्रीरूपधारिणी।।66

ब्रह्मवै. श्रीजन्मखंड 15 अध्याय

अर्थात् जहाँ तू, वहाँ मैं, निश्चय ही हम दोनों में कुछ भेद नहीं है। दूध में जैसे धवलता, अग्नि में जैसे दाहकता, पृथ्वी में जैसे गंध है, वैसे ही मैं सदा तुझ में हूँ। कुम्हार मिट्टी बिना घड़ा बना नहीं सकता, सुनार सोना बिना कुंडल नहीं बना सकता, वैसे ही मैं भी तेरे बिना सृष्टि नहीं कर सकता हूँ। तू सृष्टि की आधार है, मैं अच्युत बीज रूपी हूँ। मैं जब तेरे बिना रहता हूँ, तब लोग मुझे कृष्ण कहते हैं और तेरे साथ होने से श्री कृष्ण कहते हैं। तू श्री, तू संपत्ति, तू आधारस्वरूपिणी है, तू मेरी तथा सबकी सर्वशक्ति है। हे राधे! मैं पुरुष और तू स्त्री है, यह वेद भी निर्णय नहीं कर सके। हे अक्षरे! तू सर्वस्वरूप, मैं सर्वरूप। मै तेजःस्वरूप हूँ, तो तू तेजोरूप है। मैं शरीरी नहीं तो तू भी नहीं। हे सुंदरी! मैं योग से सर्व बीजस्वरूप होता हूँ, तो तू शक्ति स्वरूपा सर्वस्त्री रूप धारिणी हो जाती है।

और सुनिए :

यथाहञ्च तथा त्वञ्च यथा धावल्यदुग्धयोः।
भेदः कदापि न भवेन्निश्चितञ्च तथा वयो':।।56

* * * * * *

त्वत्कलांशांश कलया विश्वेषु सर्व्वयोषितः।
या योषित साच भवती यः पुमान सोहमेवच।।68
अहञ्च कलया वह्निस्त्वं स्वाहादाहिकाप्रिया।
त्वया सह समर्थोहं नालं दग्धुं च त्वां विना।।69
अहं दीप्तिमतां सूर्य्यः कलया त्वं प्रभात्मिका।
संगतश्च त्वयामासे त्वां विनाहं दीप्तिमान्।।70
अहंच कलया चंद्रस्त्वं च शोभा च रोहिणी।
मनोहस्त्वया सार्द्धे त्वां विना च न सुन्दरि।।71
अहमिन्द्रश्च कलया स्वर्ग लक्ष्मीश्च त्वंसति।
त्वया सार्द्धे देवराजो हतश्रीश्च त्वया विना।।72

अहं धर्म्मंच कलया त्वंच मूर्तिश्च धर्मिणी।
नाहंशक्तो धर्मकृत्ये त्वांच धर्मक्रियां विना।।73
अहं यज्ञश्च कलया त्वं च स्वांशेन दक्षिणा।
त्वया सार्द्धञ्च फलदीप्य समर्थस्त्वया विना।।74
कलया पितृलोकोहं स्वांशेन त्वं स्वधा सति।
त्वयालं कव्यदाने च सदा नालं त्वया विना।।75
त्वं च सम्पत् स्वरूपाहमीश्वरश्च त्वया सह।
लक्ष्मीयुक्तस्त्वया लक्ष्मयानिः श्रीकश्चापि त्वां विना।।76
अहं पुमांस्त्वं प्रकृतिर्न सृष्टाहं त्वया विना।
यथा नालं कुलालश्च घटंकुर्तुं मृदा विना।।77
अहं शेषश्च कलया स्वांशेनत्वं वसुन्धरा।
त्वांशस्य रत्नाधराञ्च विभर्म्मि मुर्ध्दि सुन्दरि।।78
त्वं च शान्तिश्च कान्तिश्च मूर्तिमूर्ति मती सति।
तुष्टिः पुष्टिः क्षमा लज्जा क्षुतृष्णा च परादया।।79
निद्र शुद्धा च तन्द्रा च मूर्छा च सन्ततिः क्रियाः।
मुक्तिरूपा भक्तिरूपा देहिनां दुःखरूपिणी।।80
ममाधारा सदा त्वं च तवात्माहं परस्परम्।
यथा त्वं च तथा हंच समौ प्रकृतिपुरुषौ।
नहिसृष्टिर्भवे देविद्वयोरकतरं विना।।81

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण कृष्णजन्म खंडे 67 अ.[7]

अर्थात् जैसे दूध और उजलापन, वैसे ही जहाँ मैं वहाँ तू। हम दोनों में कभी भेद नहीं होगा, यह निश्चय है। इस विश्व की सब स्त्रियाँ तेरे कलांश की अंश कला हैं, जो स्त्रियाँ हैं वह तू है और जो पुरुष हैं वह मैं हूँ। कला से मैं अग्नि और तू प्रिया दाहिका स्वाहा, तेरे साथ रहने से मैं दग्ध कर सकता हूँ, तेरे न रहने से नहीं कर सकता। मैं दीप्तिमानों में सूर्य और तू कलांश से प्रभा है। तेरे संग रहने से दीप्तिमान होता हूँ और तेरे न होने से नहीं। कला से मैं चंद्र, तू शोभा और रोहिणी है। तेरे संग मैं मनोहर हूँ। हे सुंदरी तेरे न होने से नहीं। हे सति, मैं कला से इंद्र, तू स्वर्ग लक्ष्मी है। तेरे होने से मैं देवराज, नहीं तो हतश्री हो जाता हूँ। मैं कला से धर्म, तू धर्मिणी मूर्ति है। तू धर्म क्रिया की मूर्ति है। तेरे विना मैं धर्म कार्य में असमर्थ हूँ। कला से मैं यज्ञ, तू अपने अंश से दक्षिणा, तेरे रहने से मैं फल देता हूँ, तेरे न रहने से नहीं देता। कला से मैं

पितृलोक हूँ। हे सति, तू अपने अंश से स्वधा तेरे बिना पिंडदान वृथा है। तू संवत् स्वरूपा है, तेरे रहने से मैं प्रभू हूँ। तू लक्ष्मी, तेरे रहने से मैं लक्ष्मीयुक्त हूँ, तेरे बिना निःश्रीक। मैं पुरुष तू प्रकृति, तेरे बिना मैं सृष्टिकर्त्ता नहीं। कुम्हार मिट्टी के बिना जैसे घट नहीं बना सकता वैसे ही तेरे बिना मैं सृष्टि नहीं कर सकता। मैं कला से शेष हूँ तू अपने अंश से वसुंधरा है। हे सुंदरी! शस्यग्त्राधार स्वरूप तू है, तुझे मैं मस्तक पर धारण करता हूँ। हे सति, तू शांति, कांति, मूर्ति, मूर्तिमती, तुष्टि, पुष्टि, क्षमा, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, परा, दया, शुद्धा, निद्रा, तंद्रा, मूर्छा, संतति, क्रिया, मुक्तिरूपा, भक्ति रूपा और देह धारियों की दुःख रूपिणी है। तू सदा मेरा आधार, मैं तेरी आत्मा, जहाँ तू, वहीं मैं, हम दोनों समान प्रकृति पुरुष हैं। हे देवि! दोनों में से एक के बिना सृष्टि नहीं होती।

इस प्रकार और भी बहुत सी बातें उद्धृत की जा सकती हैं। यह सांख्य का ठीक प्रकृतिवाद नहीं है। सांख्य की प्रकृति तंत्र शास्त्र में शक्ति बन गई है। प्रकृतिवाद और शक्तिवाद में बस इतना ही भेद है कि प्रकृति पुरुष से बिलकुल भिन्न है। सांख्यकार ने प्रकृति पुरुष का संवंध स्फटिकपात्र में उड़हुल के फूल की छाया के समान वताया है। स्फटिकपात्र और उड़हुल का फूल परस्पर विलकुल भिन्न हैं। पर पुष्प की छाया स्फटिक पर पड़ती है। बस इतनी ही घनिष्ठता है। परंतु शक्ति के साथ आत्मा का संवंध नहीं है कि आत्मा ही शक्ति का आधार है। जिस प्रकार आधार से आधेय भिन्न नहीं रह सकता, उसी प्रकार आत्मा और शक्ति पृथक् नहीं रह सकतीं। यह शक्तिवाद केवल तंत्र में ही है, ऐसा नहीं। वैष्णव पौराणिकों ने भी सांख्य की प्रकृति को वैष्णवी शक्ति में परिणत किया है। प्रमाण में विष्णु पुराण देखिए :

नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णु स्तथैवेयं द्विजोत्तभ।।15।।
अर्थो विष्णुरियं वाणी नीतिरेशा नयो हरिः।
वोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्म्मोऽमौ सत्क्रियात्वियम्।।16।।
स्रष्टा विष्णुरियं सृष्टिः श्रीर्भू मिर्भूधरो हरिः।
संतोषो भगवान् लक्ष्मीस्तुष्टिर्मैत्रेय! शाश्वती।।17।।
इच्छा श्रोर्भगवान् कामो यज्ञोऽसौ दक्षिणा तु सा।
अ ग्राहुतिरमौ देवी पुरोडाशो जनार्दनः।।18।।
पत्नीशाला मुने! लक्ष्मीः प्राग्वंशो मधुसूदनः।
क्षितिर्लक्ष्मीर्हरियूं प इध्या श्रीर्भगवान् कुशः।।19।।

सामस्वरूपो भगवान् उद्गीतिः कमलालया।
स्वाहा लक्ष्मीर्जगन्नाथो वासुदेवो हुताशनः।।20।।
शङ्करो भगवान् शौरिर्भूतिर्गोरी द्विजोत्तम्!।
मैत्रेय! केशवः मूर्य्यस्तत्प्रभा कमलालया।।21।।
विष्णुः पितृगणः पद्मा स्वधा शाश्वततुष्टिदा।
द्यौः श्रीः सर्व्वात्मको विष्णु रवकाशोऽतिविस्तरः।।22।।
शशाङ्कः श्रीधरः कान्तिः श्रीस्तस्यैर्वानपायिनी।
धृतिर्लक्ष्मीर्ज्जगच्चेष्टा वायुः सर्व्वचगो हरिः।।23।।
जलधिद्विज! गोविन्दस्तद्वेला श्रीर्महामते।
लक्ष्मीस्वरूपमिन्द्राणी देवेन्द्रो मधुसूदनः।।24।।
यमश्चक्रधरः साक्षाद् धमोर्णा कमलालयः।
ऋद्धि श्रीः श्रीधरो देवः स्वयमेव धनेश्वरः।।25।।
गौरी लक्ष्मीर्महाभागा केशवो वरु स्वयम्।
श्रीर्देवसेना विप्रेन्द्र! देवसेनापतिर्हरिः।।26।।
अपसृम्भा गदापाणिः शक्तिर्लक्ष्मीर्द्विजोत्तम।
काष्ठा लक्ष्मीर्निमेषोऽसौ मुहूर्तऽसौ कला तु सा।।27।।
ज्योत्स्ना लक्ष्मीः प्रदीपोऽसौ सर्व्वः सर्वेश्वरो हरिः।
लताभूता जगन्माता श्रीर्विष्णु द्रु मसंस्थितः।।28।।
विभावरी श्रीर्दिवसो देवश्चक्रगदाधरः।
वरप्रदो वरो विष्णुर्वधुः पद्मवनालया।।29।।
नदस्वरूपो भगवान् श्रीर्नदीरूपसंस्थितिः।
ध्वजश्च पुण्डरीकाक्षः पताका कमलालया।।30।।
तृष्णाः लक्ष्मीर्ज्जगत्स्वामी लोभो नारायणः परः।
रतिरागौ च धर्मज्ञ! लक्ष्मीर्गोविन्द एव च।।31।।
किञ्चातिवहुनोक्तेन संक्षेपेदणेमुच्यते।
देवतिर्य्यमनुष्यादौ पुंनाम्नि भगवान् हरिः।
स्त्रीनाम्नि लक्ष्मीर्मैत्रेय! नानयोर्विद्यते परम्।।32।।"

श्रीविष्णु पुराणे प्रथमेऽशे अष्टमोऽध्यायः।

अर्थात् विष्णु की श्री वह जगन्माता अक्षय और नित्य हैं। हे द्विजोत्तम! विष्णु सर्वगत हैं, यह भी वैसी ही हैं। यह वाक्य हैं, विष्णु अर्थ है, यह नीति हैं, हरि नय है, यह बुद्धि हैं, विष्णु बोध, यह धर्म, वह सत् क्रिया हैं, विष्णु स्रष्टा,

वह सृष्टि, श्री भूमि, हरि भूधर है, भगवान् संतोष हैं। हे मैत्रेय! लक्ष्मी सदैव तुष्टि है। श्री इच्छा, भगवान् काम है; भगवान् यज्ञ, श्री दक्षिणा है। जनार्दन पुरोडाश, देवी आद्याहुति हैं। हे मुने! लक्ष्मी पत्नीशाला, मधुसूदन प्राग्वंश हैं। हरि यूप, लक्ष्मी चिति है, भगवान कुश, श्री इध्या, भगवान साम, कमला उद्वेति, लक्ष्मी स्वाहा, जगत पति वासुदेव अग्नि, भगवान् श्री कृष्ण शंकर हैं, हे द्विजोत्तम! लक्ष्मी गौरी है। हे मैत्रेय! केशव सूर्य, लक्ष्मी उसकी प्रभा है। विष्णु पित्रगण, पद्या नित्य तुष्ठिदा स्वाधा, श्री स्वर्ग, सर्वात्मक विष्णु अतिस्तृत आकाश स्वरूप है। श्रीधर चंद्र, श्री उसकी अक्षय कांति, लक्ष्मी जगचेष्टा धृति, विष्णु सर्वत्र जाने वाली वायु। हे द्विज! गोविंद जलधि, हे महामते! श्रीवेला (समुद्रतट), लक्ष्मी इंद्राणी, मधुसूदन इंद्र हैं। चक्रधर विष्णु साक्षात् यम, लक्ष्मी धुमोर्णा है, श्री ऋषि, श्रीधर स्वयं धनेश्वर है। केशव स्वयं वरुण, महाभागा लक्ष्मी गौरी, हे विप्रेन्द्र! श्री देवसेना, हरि देवसेनापति हैं। गदाधर पुरूषकार, हे द्विजोत्तम! लक्ष्मी शक्ति है। लक्ष्मी काष्टा है, हरि निमेष है, यह मुहूर्त और वह कला है। लक्ष्मी आलोक और सर्वेश्वर हरि प्रदीप है। जगन्माता श्री लता और विष्णु द्रुम है। श्री रात्रि और चक्रधर दिवस हैं। विष्णु वरप्रद वर, लक्ष्मी वधू है। भगवान् नद, श्री नदी, पुंडरीकाक्ष विष्णु ध्वज और कमला पताका है। लक्ष्मी तृष्णा, जगत्स्वामी नारायण परम लोभ है, हे धर्मज्ञ! लक्ष्मी रति, गोविंद राग है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, संक्षेप से कहता हूँ कि देव तिर्यक मनुष्यादि में हरि पुरुष और लक्ष्मी स्त्री है। हे मैत्रेय! इन दोनों के सिवा और कुछ भी नहीं है।

वेदांत में जो मायावाद है, सांख्य में वही प्रकृतिवाद है। प्रकृति से शक्तिवाद हुआ। इन कई श्लोकों में शक्तिवाद और अद्वैतवाद मिल गए हैं। मालूम होता है, इन्हें ही स्मरण कर ब्रह्मवैवर्त्तकार ने कृष्ण से राधा को कहलाया है कि तेरे विना मैं कृष्ण और तेरे रहने से श्री कृष्ण कलाता हूँ। विष्णु पुराण की श्री लेकर वह श्री कृष्ण हुए हैं। विष्णु पुराण में श्री के संवंध में जो कहा गया है, ब्रह्मवैवर्त्त में ठीक वही राधा के संबंध में कहा गया। वही श्री राधा है। इस परिच्छेद का शीर्षक मैंने लिखा है श्रीराधा। राधा ईश्वर की शक्ति है, दोनों का परिणय विधिसम्पादित है। वह शक्तिमान की शक्ति की स्फूर्त्ति है। दोनों का विहार उसी शक्ति का विकास है।

प्रचलित ब्रह्मवैवर्त्त में 'राधा का तत्त्व' क्या है, यह शायद इतनी देर में पाठ्कों को समझा सका हूँ। परंतु आदिम ब्रह्मवैवर्त्त में भी कुछ 'राधा तत्त्व' था? मालूम होता है था, पर ऐसा नहीं। वर्तमान ब्रह्मवैवर्त्त में राधा शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से दी हुई है। उनमें से दो टिप्पणी मैं पहले दे चुका हूँ। और एक यहाँ देता हूँ :

रेफो ही कोटि जन्मानं कर्मभोग शुभाशुभम्।
आकारो गर्भवासञ्च रोगमुतसृजेत्।।106
धकार आयुषो हानि आकारो भवबन्धनम्।
श्रवणस्मरणोक्तिभ्यः प्रणश्यति न संशयः।।107
राकारो निश्चलां भक्तिं दास्यं कृष्ण पदाम्बुजे।
सर्वेप्सितं सदानन्दं सर्व्व सिद्धबोधमीश्वरं।।108
धकारः सहवासञ्च तत्तुल्य काल मेव च।
ददार्ष्टि सृष्टि सारूप्यं तत्वज्ञानं हरेः समम्।।109

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण कृष्णजन्म खण्ड 13 अ.

इनमें राधा शब्द की यथार्थ व्युत्पत्ति एक भी नहीं है। राधा धातु आराधना या पूजा के अर्थ में व्यवहृत होता है। कृष्ण की जो आराधिका है, वही राधा या राधिका है। प्रचलित ब्रह्मवैवर्त्त में व्युत्पत्ति नहीं है। जिन्होंने इस राधा शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति छिपाकर व्याकरण विरोधी कितने ही छलकपटों से प्रतीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, और उसे पुष्ट करने के लिए सामवेद की झूठी दुहाई दी है[8], उन्होंने राधा शब्द की सृष्टि कदापि नहीं की थी। जिन्होंने राधा शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति का अनुसरण कर राधा का रूपक नहीं बनाया, वह राधा के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। इससे मेरी राय है कि आदिम ब्रह्मवैवर्त्त ही राधा की पहले पहल सृष्टि हुई है। और उसमें राधा कृष्ण राधिका (कृष्ण प्रिया) एक आदर्श गोपी थी, इसमें संदेह नहीं।

राधा शब्द का एक और अर्थ है। विशाखा नक्षत्र का एक नाम राधा[9] भी है। कृत्तिका से विशाखा चौदहवाँ नक्षत्र है। पहले कृत्तिका से वर्ष की गिनती होती थी। कृत्तिका से राशि गणना करने पर विशाला ठीक बीच में आ जाती है। इसलिए राधा रास मंडल के मध्य में चाहे न हो पर राशिमंडल या राश मंडल के मध्य में अवश्य है। इस राशिमंडल के मध्य में रहने वाली राधा से रास मंडल की राधा का कुछ संवंध है या नहीं, यह असली ब्रह्मवैवर्त्त के बिना स्थिर करना असाध्य है।

अर्थववेद की उपनिषदों में एक का नाम गोपालतापनी है। इसका विषय कृष्ण की गोपमूर्ति की उपासना है। इसकी रचना देखने से मालूम होता है कि यह अधिकांश उपनिषदों से नई है। इसमें लिखा है कि कृष्ण गोप-गोपियों से परिवृत्त थे। पर गोपियों का जो अर्थ इसमें लिखा है वह प्रचलित अर्थ से भिन्न है। गोपी का अर्थ अविद्या कला है। टीकाकार कहता है :

गोपायन्तीति गोप्यः पालन शक्तयः।

उपनिषद् में इसी तरह गोपी का अर्थ है। पर रासलीला की कुछ चर्चा नहीं है। राधा का नाम तक नहीं है। एक प्रधान गोपी की कथा है, पर वह राधा नहीं है। उसका नाम गांधर्वी है। उसकी प्रधानता भी कामकेलि में नहीं तत्त्वजिज्ञासा में है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और जयदेव के गीतगोविंद के सिवा किसी प्राचीन ग्रंथ में राधा का नाम नहीं है।

XI : वृंदावन की लीलाओं की समाप्ति

भागवत में वृंदावन की लीलाओं के बारे में और भी कई बातें हैं :

(क) नंद एक रोज स्नान के लिए यमुना में उतरे। वरुण के दूत उन्हें पकड़ कर वरुण के निकट ले गए। कृष्ण वहाँ से नंद को ले आए। सारांश यह है कि नंद एक रोज जल में डूब रहे थे, कृष्ण ने उन्हें बचा लिया।

(ख) एक दिन एक सांप ने नंद को पकड़ लिया। कृष्ण ने सांप को मार कर नंद को बचाया। वह सर्प विद्याधर था। कृष्ण के स्पर्श से वह शापमुक्त होकर अपने स्थान को चला गया। मतलब यह कि कृष्ण ने एक रोज नंद को सांप से बचाया था।

(ग) शंख्यचूर नामक असुर एक बार गोपियों को पकड़ कर ले गया। कृष्ण, बलदेव असुर के पीछे दौड़े। उसे मारकर गोपियों को छुड़ा लाए। ब्रह्मवैवर्त्त में शंख्यचूड़ की कथा और ढंग से है। इसका कुछ अंश पहले कहा जा चुका है।

यह तीनों कथाएँ विष्णु पुराण, हरिवंश और महाभारत में नहीं हैं। पर अरिष्ठासुर और केशी के वध का वृत्तांत हरिवंश और विष्णु पुराण में है और महाभारत में भी है। शिशुपाल ने कृष्ण की निंदा करते समय इनका जिक्र किया है। अरिष्ठ वृप रूप में और केशी अश्व रूप में था। शिशुपाल ने इन दोनों को वृष और अश्व ही कहा है।

ऊपर लिखी हुई तीनों कथाएँ भागवतकार की कपोल कल्पना कही जा सकती हैं, पर अरिष्ठ वध तथा केशीवध वैसी कथा नहीं है। कह चुका हूँ कि केशी वध वृत्तांत अथर्व संहिता में है। वहाँ केशी को कृष्ण केशी लिखा है। कृष्ण केशी का अर्थ है काले केश वाला। ऋग्वेद संहिता में एक केशि सूक्त है (दसवें मंडल

का 136 वाँ सूक्त देखो)। यह केशी कौन है, इसका पता नहीं है। इसकी चौथी और पाँचवीं ऋचाओं से जान पड़ता है कि मुनि ही केशी देवता हैं। मुनि के लंबे-लंबे वाल थे। इन दोनों ऋचाओं में मुनियों की ही प्रशंसा की गई है। म्यूर साहब ने भी यही समझा है। पर पहली ऋचाओं में कुछ और ही लिखा है। पहली ऋचा का उलूथा रमेश बाबू ने यों किया है : "केशी नामक जो देवता है वह अग्नि को, जल को, भूलोक और धुलोक को धारण करता है। समस्त संसार को केशी ही आलोक से देखने योग्य वनाता है। ज्योति का नाम केशी है।"

यह होगा तो जगद्व्यंजक ज्योति केशी है। और जगत् को छिपाने वाली ज्योति कृष्ण केशी है। कृष्ण ने उसका वध किया, अर्थात् जगत् को आच्छादित करने वाले अंधकार का नाश किया।

वृंदावन की लीलाओं की इति श्री बस यहीं होती है। अव देखना यह है कि इन लालाओं में क्या सार है? ऐतिहासिक बातें तो इनमें कुछ नहीं है। पुराणों की कथाएँ सब अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण हैं। उनमें भला ऐतिहासिक तत्त्व कहाँ? हाँ, इतना अवश्य सिद्ध हुआ कि कृष्ण पर चोरी और व्यभिचार आदि के जो दोष गाए जाते हैं, वह निर्मूल और मिथ्या हैं। इसीलिए व्रज की लीलाओं की इतनी विस्तृत समालोचना की गई है। ऐतिहासिक तत्त्व यदि कुछ है तो, बस इतना ही है कि अत्याचारी कंस के भय से वसुदेव ने अपनी स्त्री रोहिणी तथा राम और कृष्ण दोनों पुत्रों को नंद के घर छिपाकर रखा था। कृष्ण ने बचपन और किशोरपन वहीं बिताए थे। कृष्ण को बचपन में लोग वहुत प्यार करते थे, क्योंकि वह रूप रंग में सुंदर थे और लड़कों में जो गुण होने चाहिए वह भी उनमें थे। किशोरावस्था में वह बड़े वलवान् थे। वह वृंदावन के अनिष्टकारी पशु आदि को मारकर ग्वालवालों की सदा रक्षा करते थे। वह लड़कपन से ही सब जीवों पर दया करते और सबका उपकार करते थे। ग्वालबाल तथा गोपियों को वहुत मानते थे। सबके साथ हँसते, खेलते और सबको प्रसन्न रखने की, चेष्टा करते थे। किशोरावस्था में ही उनके हृदय में वास्तविक धर्मतत्त्व प्रदीप्त हो उठा था। इतना भी ऐतिहासिक तत्त्व यहां मिला, कहने का साहस नहीं होता है। पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इससे अधिक कुछ है भी नहीं।

संदर्भ

1. पहले मैंने जब 'प्रचार' नामक पत्र में यह मत प्रकट किया था तब वहुतों ने नाक सकोड़ी थी। उन्होंने समझा था कि मैं अपने मन से गढ़कर यह कहता

हूँ, पर अब उन्हें जान लेना चाहिए कि यह मेरा मत नहीं निरुक्तकर यास्क का है। यास्क का वाक्य नीचे उद्धृत किए देता हूँ :

माहात्म्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

× × ×

आत्मा एवं एषां रथो भवति, आत्मा अश्वाः,
आत्मा आयुधम् आत्मा ईषत्रः आत्मा सर्वदेवस्य।

2. रास का अर्थ नृत्य विशेष है—"अन्योन्यव्यतिषक्तहस्तानां स्त्रीपुंसां गायतां मंडली रूपेण भ्रमतां नृत्यविनोदो रासो नाम"। इति श्रीधरः।
3. सात तत्र वयसा तुल्यै वर्त्सपालैः सहानघः।
   रेमे वै दियसं कृष्णः पुरा स्वर्गगतो यथा।।
   तं क्रीड़मानं गोपालाः कृष्ण भाण्डीरवासिनम्।
   रमयन्तिस्म वहवो वन्यैः क्रीड़नकैस्तदा।।
   अन्यैस्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः।
   गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्तिस्म रतिप्रिया।।
   इन तीन श्लोक दों में रम् धातु से सिद्ध शब्द तीन वार आए हैं। जैसे रेमे, रमयन्ति और रपिप्रियता। तीनों बार ही क्रीड़ा अर्थ है, दूसरा हो नहीं सकता, क्योंकि यहाँ ग्वालबालों की बात है।
4. किसी-किसी में 76वां अध्याय है।
5. इससे सम्भूय गोलोके, सा दधाव हरेः पुरः।
   तेन राधा ममाख्याता, पुरा विद्वर्द्धिजोत्तम।।
   —ब्रह्मखंडे, 5 अध्यायः

   फिर दूसरी जगह लिखा है :
   ...राकारो दानवाचक्रः
   धा निर्वाणञ्च तदात्री तेन राधा प्रकीर्त्तिता।।
   श्री कृष्ण जन्म खंडके 23 अ.।
6. विद्यापति मैथल कवि है, वंगाली नहीं। भाषांतरकार।
7. बंगवासी कार्यालय से प्रकाशित संस्करण से उद्धृत। मूल में कुछ गड़वड़ मालूम होती है।
8. राधा शब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता। 13 अ. 153।
9. राधा विशाखा पुष्येतु सिंह तिथी प्रविष्टया। अमरकोष।

अध्याय 3

मथुरा-द्वारका

I : कंस वध

कंस के पास खबर पहुँची कि वृंदावन में कृष्ण और बलराम ने बेतरह सिर उठाया है। उन्होंने पूतना से लेकर अरिष्ठ तक को मार डाला है। देवर्षि नारद ने भी आकर कंस से कह दिया कि "राम और कृष्ण वसुदेव के पुत्र हैं। तुमने जिस कन्या को देवकी के आठवें गर्भ की समझकर मारा था, वह वास्तव में नंद-यशोदा की थी। वसुदेव कृष्ण को नंद के यहाँ छिपाकर उसकी कन्या उठा लाया था।" यह सुन कर कंस मन ही मन डरा और गुस्सा हो वसुदेव को मार डालने के लिए तैयार हो गया। उसने धनुर्यज्ञ का बहाना करके राम और कृष्ण को बुलवाने के लिए अक्रूर को वृंदावन भेजा और इधर इन दोनों का काम तमाम करने के लिए अपने बड़े-बड़े मल्लों को ठीक कर रखा। अक्रूर राम-कृष्ण को मथुरा लिवा लाया[1]। राम-कृष्ण ने रंग भूमि में पहुँचकर कंस के सिखाए हुए हाथी कुवलयापीड़ और प्रसिद्ध मल्ल चाणूर और मुष्टिक को मार गिराया। यह देखकर कंस ने नंद को कैद करने, वसुदेव को मार डालने और राम-कृष्ण को निकाल देने का हुक्म दिया। इतने में कृष्ण कूद कर कंस के मचान पर जा पहुँचे और उन्होंने चोटी पकड़ उसे जमीन पर दे मारा। बस, उसके प्राण निकल गए। फिर कृष्ण ने वसुदेव, देवकी तथा और गुरु जनों को प्रणाम करके कंस के पिता उग्रसेन को राजसिंहासन पर बिठा दिया। आप राजा नहीं हुए।

हरिवंश और सब पुराणों में कंस वध का वर्णन इसी प्रकार का है। कंस वध ऐतिहासिक घटना है सही, पर इसमें ऐतिहासिकता नहीं है। इसे विश्वास करना, अलौकिक बातों का विश्वास करना है। फिर देववाणी का भी विश्वास करना पड़ेगा, क्योंकि कंस का भय उसी से उत्पन्न हुआ है, इसके सिवा दो गोप बालकों का बिना युद्ध के भरी सभा में मथुरा के राजा को मार डालना सहज में विश्वास कर लेने योग्य बात नहीं है। इसलिए अब देखना होगा कि सबसे प्राचीन ग्रंथ महाभारत में इसका कैसा वर्णन है। सभा पर्व के जरासंध वध पर्वाध्याय

में श्री कृष्ण स्वयं अपनी राम कहानी युधिष्ठिर से कहते हैं कि :

कुछ समय बीत जाने पर कंस ने[2] यादवों को परास्त कर वार्हद्रथ की सहदेवा और अनुजा नाम की दो कन्याओं से ब्याह कर लिया। यह दुरात्मा अपने बाहुबल से भाई-बन्दों को जीतकर सबका प्रधान बन बैठा। भोजवंशी बूढे क्षत्रिय मतिमंद कंस के अत्याचार से बड़े दुःखी हुए। उन्होंने भाई-बंदों को छोड़कर भाग जाने के लिए मुझ से कहा। मैंने भाई बंदों की भलाई के लिए बलभद्र के साथ कंस और सुनामा का संहार किया।"

इसमें कृष्ण बलराम को वृंदावन से बुला लाने की कुछ बात नहीं है। बल्कि इससे यह जान पड़ता है कि कंस वध के पहले से कृष्ण बलराम मथुरा में थे। और यह भी मालूम होता है कि बूढ़े यादवों ने कृष्ण से भाई-बंदों को छोड़कर भाग जाने के लिए कहा था। पर उन्होंने ऐसा न कर के भाई बंदों के हित के लिए कंस को ही मार डाला। इसमें बलराम के सिवा और कोई उनका सहाय था या नहीं, यह प्रगट नहीं होता है। पर यह साफ समझ में आता है कि अन्यान्य यादवों ने खुलकर उनका साथ चाहे न दिया हो पर कंस की रक्षा किसी ने नहीं की। कंस यादवों पर अत्याचार करता था। इससे मालूम होता है कि उन लोगों ने ही राम-कृष्ण को बलवान देख कर उन्हें अपना नेता बनाया और उनसे कंस का वध कराया। इसके सिवा और कुछ ऐतिहासिक तत्त्व दिखाई नहीं देता।

हाँ, यह ऐतिहासिक तत्त्व अवश्य मिलता है कि कृष्ण ने कंस को मारकर कंस के पिता उग्रसेन को ही यादवों का राजा बनाया, क्योंकि महाभारत में भी उग्रसेन ही यादवों का राजा लिखा है। इस देश की पुरानी रीति यह है कि जो राजा का वध करता है, वही राजगद्दी पर बैठता है। कंस को मारने वाले कृष्ण अनायासा ही मथुरा का राजसिंहासन ले सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि धर्म से वह राज्य उग्रसेन का था। उग्रसेन को गद्दी से उतारकर ही कंस राजा बन बैठा था। कृष्ण के लिए धर्म ही प्रधान वस्तु था। वह बचपन से ही धर्मात्मा थे। इसलिए जिसका राज्य था उसे ही उन्होंने दे दिया। उन्होंने धर्म के अनुरोध से ही कंस को मारा था। यह आगे चलकर दिखाऊँगा कि कृष्ण डंके की चोट कहा करते थे कि जिससे दूसरों की भलाई हो, वही धर्म है। अत्याचारी कंस के वध से सारे यादवों का हितसाधन होता था, इसी से श्री कृष्ण ने कंस का वध किया। केवल धर्म के लिए ही उन्होंने यह काम किया था। यह भी ग्रंथ में लिखा है कि वध करके करुण-हृदय आदर्श पुरुष कृष्ण ने कंस के लिए विलाप किया था, इस कंस वध में ही हमें वास्तविक इतिहास से पहला साक्षात् होता

है। फिर देखते हैं कि कृष्ण परम बलशाली, परम कार्यदक्ष, परम न्यायी, परम धर्मात्मा, परहितरत और परदुःखकातर हैं। यहीं से प्रतीत होता है कि वह आदर्श पुरुष थे।

II : शिक्षा

पुराणों में लिखा है कि कंस वध के बाद कृष्ण-बलराम शिक्षा पाने के लिए सान्दीपनि ऋषि के पास काशी गए। चौंसठ दिनों में शस्त्र विद्या सीख कर और गुरुदक्षिणा दे मथुरा वापिस आ गए। कृष्ण की शिक्षा के बारे में इसके सिवा और कहीं कुछ नहीं लिखा है। नंद के घर उनकी किसी प्रकार की भी शिक्षा मिली थी, इसकी चर्चा किसी ग्रंथ में नहीं है। नंद वैश्य था और वैश्यों को वेद पढ़ने का अधिकार है। फिर वैश्यों के घर रहकर भी राम-कृष्ण को विद्या की शिक्षा न मिलनी विचित्र बात है। मालूम होता है, शिक्षा का समय आने के पहले ही वह मथुरा चले आए थे। पिछले परिच्छेद में महाभारत से कृष्ण के विषय में जो वाक्य दिए गए हैं, उनसे यही अनुमान होता है कि कंस वध के बहुत पहले से वह मथुरा में रहते थे। महाभारत के सभापर्व में शिशुपाल ने कंस का टुकड़खोर कहकर कृष्ण को गालियाँ दी हैं–यथा :

> यस्यचानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं वलीयसः।
> स चानेन हतः कंसः इत्येतन्न महाद्भतं।।
>
> महाभारतम्, सभापर्व 40 अध्याय।

इससे यही मालूम होता है कि शिक्षा का समय आने के पहले ही कृष्ण मथुरा लाए गए थे। वृंदावन में गोपियों के संग की लीला मनगढंत है, उसका यह एक और प्रमाण है। मथुरा में रहने के समय उनकी किस प्रकार की शिक्षा हुई, इसका भी कोई विशेष वर्णन नहीं है। हाँ, सान्दीपनि मुनि के पास जाकर चौंसठ रोज में अस्त्र विद्या सीख आने की कथा है। जो कृष्ण को ईश्वर मानते हैं, उनमें से कुछ कह सकते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर के लिए शिक्षा की क्या आवश्यकता है? उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि फिर सान्दीपनि के घर जाकर चौंसठ दिनों तक पढ़ने की ही क्या आवश्यकता थी? बात यह है कि, कृष्ण ईश्वर के अवतार होने पर भी मानव धर्म के अवलंबी थे और मानुषी शक्ति से ही सब काम करते थे। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। अब उसके प्रमाण देता हूँ। मानुषी-शक्ति से काम करने के लिए, मानुषी-शक्ति को अनुशीलित और विकसित करना पड़ता है। यदि मानुषी शक्ति स्वयं विकसित होकर सब काम करने के

योग्य हो जाए तो वह ईश्वरीय शक्ति है, मानुषी नहीं। कृष्ण की शिक्षा मनुष्यों की तरह हुई थी, इसका प्रमाण सान्दीपनि कथा के सिवा और भी है। कृष्ण ने समस्त वेद पढ़े थे। महाभारत के सभापर्व में भीष्म ने कृष्ण के पूजनीय होने का एक कारण यह भी बताया है कि वह निखिल वेद-वेदांग के पारदर्शी हैं। उनके सदृश्य वेद-वेदांग का जानने वाला दूसरा मनुष्य दुर्लभ है।

वेद वेदाङ्ग विज्ञानं वलंचाप्यधिकं तथा।
नृणां लोकेहि कोन्यस्ति विशिष्टः केशवाद्दते।।
महाभारतम्, सभापर्व, 38 अध्यायः।

कृष्ण की वेदज्ञता के प्रमाण महाभारत में भरे पड़े हैं। यह वेदज्ञान उन्हें आप ही आप नहीं हो गया था, उन्होंने आङ्गिरस वंश के घोर ऋषि से वेदाध्ययन किया था। इसका प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् में है।

अच्छे-अच्छे ब्राह्मण-क्षत्रियों की उच्च शिक्षा का उच्चांश उस समय तपस्या कहलाता था। बड़े-बड़े राजर्षियों ने किसी न किसी समय तपस्या की थी, ऐसी कथा प्रायः मिलती हैं। इस समय हम तपस्या का जो अर्थ समझते हैं, वेदों के अधिकांश स्थान में उसका वह अर्थ नहीं है। हम तपस्या का अर्थ समझते हैं, वन में आँखें मूंद कर, सांस रोक कर और खाना-पीना छोड़कर ईश्वर का ध्यान करना। किंतु किसी-किसी ग्रंथ में लिखा है कि दो-एक देवताओं ने और महादेव ने भी तपस्या की है। विशेषकर शतपथ ब्राह्मण में है कि स्वयं परब्रह्म को सृष्टि करने की इच्छा हुई तो उसने तपस्या के वल से ही सृष्टि की थी, यथा :

सोऽकामयत। वहुःस्यां प्रजाये इति।
स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्ता इदं सर्व्वमसृजत।।
2 वल्ली, 6 अनुवाक।

अर्थात् उसने इच्छा की, मैं प्रजा की सृष्टि कर वहुत प्रसन्न हूँगा। तव उसने तपस्या की। उसने तपस्या करके यह सारी सृष्टि की।

इन सव स्थानों में तपस्या का अर्थ चित्त एकाग्र कर अपनी सव शक्तियों का अनुशीन तथा विकास करना है। महाभारत में कहा है कि कृष्ण ने हिमालय पर्वत पर दस वर्ष तपस्या की थी। महाभारत के ऐशिकपर्व में लिखा है कि अश्वत्थामा के छोड़े हुए ब्रह्मशिरा अस्त्र से उत्तरा का जव गर्भपात होने लगा तव उस मरे हुए वच्चे को फिर जिलाने की प्रतिज्ञा करके कृष्ण ने अश्वत्थामा से कहा था, लो मेरा तपोबल देखो।

आदर्श मनुष्य की शिक्षा भी आदर्श ही होगी। फल भी वैसा ही होगा। पर प्राचीन काल की आदर्श शिक्षा कैसी थी, यह मालूम न हो सका। सचमुच इसका बड़ा दुःख है।

III : जरासंध

हम देखते हैं कि भारतवर्ष में, विशेषकर उत्तर भारत में, बराबर कोई न कोई चक्रवर्ती राजा होता आया है, जिसकी प्रधानता अन्यान्य राजा स्वीकार करते थे। कोई कर देता था, कोई सदा आज्ञा-पालन करता था और युद्ध के समय सब ही सहायता देते थे। ऐतिहासिक समय में चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य, अशोक, महाप्रतापशाली गुप्तवंशी नृपतिगण, हर्षवर्धन, शिलादित्य, और आधुनिक समय में पठान और मुगल—ये सब ही इसी प्रकार के सम्राट थे। हिंदू राज्य के समय मगधाधिपति ही प्रायः सम्राट् होते थे। मैं जिस समय का वर्णन करता हूँ उस समय भी मगधाधिपति ही उत्तर भारत का सम्राट था। उसका नाम जरासंध था। वह बहुत प्रसिद्ध था। महाभारत, हरिवंश तथा पुराणों में जरासंध के बल और प्रताप का वर्णन बहुत विस्तार से है। लिखा है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में समस्त क्षत्रिय एकत्र हुए थे। वहाँ दोनों ओर की सेनाओं की संख्या लगभग उठारह अक्षौहिणी थी। पर लिखा है कि अकेले जरासंध के पास बीस अक्षौहिणी[3] सेना थी।

कंस इसी जरासंध का जामाता था। कंस ने जरासंध की दोनों कन्याओं से ब्याह किया था। कंस के मारे जाने पर उसकी दोनों स्त्रियाँ रोती-पीटती अपने बाप के पास पहुँची। जरासंध ने अपनी बेटियों की दुर्दशा देख कर कृष्ण के वध के लिए बड़ी भारी सेना ले कर मथुरा को जा घेरा। जरासंध की असंख्य सेना के सामने यादवों की सेना नहीं के बराबर थी। पर तो भी कृष्ण के सेनापति होने के कारण यादवों ने जरासंध को मार भगाया। जरासंध का जोर घटाना उनके लिए असाध्य था, क्योंकि उसकी सेना अनगिनत थी। इसलिए जरासंध बारंबार मथुरा पर आक्रमण करने लगा। यद्यपि जरासंध बार-बार आक्रमण करके भी विजयी नहीं हुआ, तथापि यादवों के अञ्जर-पञ्जर ढीले हो गए। बार-बार की चढ़ाइयों से यादवों की मुट्ठी भर सेना छीजने लगी, छीजते-छीजते बिलकुल ही न रहने के समान हो गई। परंतु समुद्र की तरंगों की तरह जरासंध की अगाध सेना की क्षयवृद्धि का कुछ भी पता न चला। इस तरह सतरह बार घेरे जाने पर यादवों ने कृष्ण के परामर्श से मथुरा छोड़कर दुराक्रम्य प्रदेश में दुर्ग बनाकर रहने का विचार किया। बस, द्वारका नामक द्वीप में यादवों के लिए पुरी बनी और दुरारोह रैवतक पर्वत

पर द्वारका की रक्षा के लिए दुर्ग बनाए गए। पर द्वारका जाने के पहले ही जरासंध ने अठारहवीं बार फिर मथुरा पर चढ़ाई की।

उसी समय जरासंध के उकसाने से एक और प्रबल शत्रु ने मथुरा पर आक्रमण किया। अनेक ग्रंथों से पता लगता है कि प्राचीन समय में भारतवर्ष में स्थान- स्थान पर यवनों का राज्य था। आजकल के विद्वानों ने सिद्धांत निकाला है कि भारतवासी प्राचीन ग्रीसवासियों को ही यवन कहते थे। पर यह सिद्धांत ठीक है या नहीं, इसमें बड़ा संदेह है। वे लोग शायद शक, हूण, ग्रीक, प्रभृति सब अहिंदू सभ्य जातियों को ही यवन कहते थे। जो हो, कालयवन नाम के यवन राजा का उस सयम भारतवर्ष में बड़ा प्रताप था। उसने आकर मथुरा को घेर लिया। परंतु समर विद्याविशारद कृष्ण ने उससे युद्ध करना नहीं चाहा, क्योंकि यादवों की क्षुद्र सेना उसे युद्ध में परास्त करने पर भी संख्या में बहुत न्यून हो जाती। और जो कुछ बची रहती उससे जरासंध को न हटा सकती। फिर सब प्राणियों पर दया करने वाले श्री कृष्ण धर्म रक्षा के सिवा और कहीं नर हत्या करना पसंद नहीं करते थे। धर्मानुमोदित युद्ध से पराङ्मुख होना अधर्म है। श्री कृष्ण ने गीता में यही बात कही है।

कालयवन और जरासंध मथुरा पर चढ़ आए। उनसे लड़ना धर्मयुद्ध था। आत्मरक्षा के लिए, स्वजनों की रक्षा के लिए, और प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध न करना घोरतर अधर्म है। जहाँ तक बने युद्ध में नर हत्या कम करके काम निकालना चाहिए। यदि न निकल सके तो लाचारी है। महाभारत के (सभापर्व) जरासंध वध-पर्वाध्याय में कृष्ण ने ऐसा सदुपाय निकाला है, जिससे जरासंध का वध हो जाए और किसी दूसरे मनुष्य के प्राण न जाएँ। कालयवन के युद्ध में भी उन्होंने वैसा ही किया। उन्होंने कालयवन से सम्मुख संग्राम न करके उसके वध के लिए कौशल रचा।

श्री कृष्ण अकेले कालयवन के शिविर में जा पहुँचे। कालयवन ने उन्हें पहचान लिया। उसने श्री कृष्ण को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया, कृष्ण पकड़ाई न दे भाग चले। कालयवन उनके पीछे दौड़ा। कृष्ण जैसे वेद और युद्ध विद्या में सुपंडित थे वैसे ही शारीकि व्यायाम में भी सुदक्ष थे। आदर्श मनुष्य को ऐसा ही होना चाहिए, यह मैंने 'धर्मतत्त्व' में दिखाया है। कालयवन श्री कृष्ण को न पकड़ सका। कृष्ण दौड़ते हुए एक कंदरा में घुस गए। लिखा है, वहाँ मुचुकुंद नाम के ऋषि सोए थे। कालयवन ने वहाँ कृष्ण को न देख कर ऋषि को ही कृष्ण समझ एक लात मारी। लात लगते ही ऋषि ने उठकर उसकी ओर देखा। देखते ही कालयवन वहीं जलकर भस्म हो गया।

इस अलौकिक घटना को सत्य मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। असल बात यह जान पड़ती है कि कृष्ण छल करके कालयवन को उसकी सेना से दूर ले गए और एकांत में उन्होंने लड़कर उसे मार डाला। कालयवन के मरते ही उसकी सेना मथुरा छोड़ कर भाग गई। फिर जरासंध की अठारहवीं चढ़ाई हुई, पर इस बार भी वह अपना सा मुँह लेकर लौट गया।

ऊपर जैसा वर्णन है वैसा ही हरिवंश और विष्णु पुराणादि में है। पर महाभारत में स्वयं श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर के आगे जरासंध का जो परिचय दिया है, उसमें इस अठारहवीं चढ़ाई का नाम नहीं है। जरासंध के साथ यादवों का युद्ध हुआ था, इसकी भी कोई स्पष्ट बात उसमें नहीं है। जो कुछ है, उससे यही मालूम होता है कि जरासंध एक बार मथुरा पर चढ़ आया था, पर बलराम ने हंस नामक उसके किसी सेवक को मार डाला, जिससे वह खिन्न होकर अपने घर लौट गया। महाभारत से वह प्रसंग नीचे उद्धृत कर देता हूँ :

कुछ समय बीत जाने पर कंस ने यादवों को परास्त कर वार्हदृथ की सहदेवा और अनुजा नाम की दो कन्याओं से ब्याह कर लिया। यह दुरात्मा अपने वाहु बल से भाई-बंदों को जीतकर सबका प्रधान बन बैठा। भोजवंशी बूढ़े क्षत्रियों ने मतिमंद कंस के अत्याचार से अति दुखी हो मुझ से भाई-बंदो के छुड़ाने के लिए अनुरोध किया। मैंने तुरत अक्रूर को आहुक की कन्या प्रदान करके भाई बंधों की भलाई के लिए बलभद्र के साथ कंस और सुनामा का संहार किया। इससे कंस का भय छूट गया, पर कुछ रोज के बाद ही जरासंध ने बहुत जोर पकड़ा। हमने एकत्र हो ज्ञातिबंधुओं से परामर्श किया कि हम लोग शत्रुनाशक महाअस्त्रों से तीन सौ वर्ष तक निरंतर जरासंध की सेना का नाश करते रहें तो भी वह नहीं घटेगी। देवताओं के तुल्य तेजस्वी, महाबली हंस और डिंबक उसके अनुगत हैं। वे दोनों अस्त्र-शस्त्रों से कदापि न मारे जाएँगे। हमारा निश्चय है कि वे दोनों वीर और जरासंध मिलकर त्रिभुवन विजय कर सकते हैं। हे धर्मराज, यह परामर्श केवल हमारा है ऐसा नहीं, अन्यान्य राजा भी इसका अनुमोदन करेंगे।

हंस नामक एक विख्यात राजा था। बलदेव ने संग्राम में उसका संहार किया। डिम्बक ने लोगों से हंस का मारा जाना सुनकर एक ही नाम होने के कारण अपने मित्र हंस का मारा जाना समझ लिया। हंस के बिना जीना व्यर्थ है, यह सोचकर वह यमुना में डूब मरा। इधर हंस ने सुना कि डिम्बक मेरी मृत्यु की झूठी खबर सुनकर डूब मरा, तो वह भी डूबकर मर गया। जरासंध इन दोनों वीरों के मरने का संवाद सुन अत्यंत दुःखी हुआ और उदास हो अपने नगर को लौट गया।

जरासंध के लौट जाने पर हम लोग सानंद मथुरा में रहने लगे।

कुछ दिनों के बाद कंस के मारे जाने से दुखी होकर जरासंध की कन्याएँ अपने पिता के पास पहुँची, और बार-बार पिता से अनुरोध करने लगीं कि "हमारे पति के मारने वाले को मार डालिए।" हमने पहले ही जरासंध की शक्ति और सामर्थ का अनुमान कर लिया था। उसका स्मरण करके मन बहुत चंचल हो गया। उस समय हम लोग अपनी विपुल धनसंपत्ति आपस में बाँटकर मथुरा छोड़कर पश्चिम की ओर भाग गए। अब हम लोग रैवतक पर्वत से शोभित परम रमणीय कुशस्थली नाम की पुरी में वास करते हैं—वहाँ ऐसा किला बनाया है कि उसमें रहकर वृष्णिवंश के महारथियों की बात तो दूर रही, स्त्रियाँ भी अनायास युद्ध कर सकती हैं। हे राजन् अब हम निर्भय हो वास करते हैं।

माधवगण सारे मगध देश में[4] व्याप्त सबसे श्रेष्ट रैवतक पर्वत को देखकर परम सुखी हुए। हम लोगों ने समर्थ होकर भी जरासंध के उपद्रव के भय से पर्वत पर आश्रय लिया है। वह पर्वत तीन योजन लंबा, एक योजन से अधिक चौड़ा और उसमें इक्कीस चोटियाँ हैं। उसमें एक-एक योजन पर सौ-सौ द्वार हैं और बड़े सुंदर ऊँचे-ऊँचे तोरण हैं। युद्ध दुर्म्मद, महाबली क्षत्रिय उसमें सदा रहते हैं। हे राजन् हमारे कुल में अठारह हजार भाई हैं। आहुक के एक सौ पुत्र हैं, वे सब ही अमर तुल्य हैं। चारुदेष्ण और उनके भ्राता, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलभद्र, और युद्ध विशारद शाम्ब ये सातों रथी हैं। कृतवर्मा अनाधृष्टि, समीक, समितिञ्जय, कक्ष, शङ्क और कुंति यह सात महारथी हैं। अंधक भोज के दो वृद्ध पुत्र और राजा ये सब दृढ़ शरीरवाले महावीर हैं। ये सब ही जरासंध के मध्य देश का स्मरण करके यदुवंशियों के साथ मिल गए हैं।

यह जरासंध-वध-पर्वाध्याय मौलिक महाभारत का अंश मालूम होता है। एकाध वात क्षेपक हो सकती है, पर अधिकांश मौलिक ही है। यदि यह सत्य हो, तो कृष्ण और जरासंध के विरोध का ऊपर लिखा वृत्तांत ही प्रामाणिक मानना पड़ेगा, क्योंकि पहले ही कह चका हूँ कि हरिवंश तथा पुराणों से महाभारत का मौलिक अंश बहुत प्राचीन है। यदि यह बात ठीक है तो जरासंध का अठारह वार मथुरा पर चढ़ना और हारकर लौटना आदि सब ही मिथ्या है। सच्ची बात हो सकती है कि जरासंध एक वार मथुरा पर चढ़ आया, पर हारकर लौट गया। दूसरी वार फिर उसके आक्रमण की संभावना थी, पर कृष्ण ने देखा कि चारों ओर से समतल भूमि के बीच मथुरा नगरी में वास कर जरासंध की असंख्य सेना वार-वार सामना करना असंभव है। इसलिए जहाँ किला बनाकर अपनी थोड़ी

सी सेना की रक्षा और जरासंध के दाँत खट्टे कर सकें वहीं राजधानी उठाकर वह ले गए। जरासंध फिर उधर नहीं गया। जय-पराजय की इसमें कुछ चर्चा नहीं है। इससे केवल यही समझा जाता है कि कृष्ण युद्ध कौशल में पारदर्शी थे, वह परम राजनीतिज्ञ थे और व्यर्थ की मनुष्य हत्या के बड़े विरोधी थे। आदर्श मनुष्य के समस्त गुण उनमें क्रमशः परिस्फुट हो रहे हैं।

IV : कृष्ण का विवाह

कृष्ण की पहली पत्नि रुक्मिणी थी। वह विदर्भ के राजा भीष्मक की कन्या थी। रुक्मिणी बड़ी रूपवती और गुणवती थी। कृष्ण ने रुक्मिणी के रूपगुणों की प्रशंसा सुनकर विवाह का प्रस्ताव भीष्मक से किया। रुक्मिणी भी कृष्ण को चाहती थी। पर भीष्मक ने कृष्ण के शत्रु जरासंध के बहकाने से कृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया! उसने कृष्ण के विद्वेषी शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का ब्याह ठीक करके सब राजाओं को निमंत्रित किया। पर यादवों को निमंत्रण नहीं दिया। इस पर कृष्ण ने यादवों को संग लेकर भीष्मक की राजधानी में जाना और रुक्मिणी से ब्याह करना स्थिर किया।

कृष्ण ने जो विचारा वही किया। विवाह के दिन रुक्मिणी देवता पूज कर ज्यों ही निकली त्यों ही कृष्ण ने उसे रथ पर बिठा लिया। भीष्मक और उसके लड़कों ने तथा जरासंध आदि भीष्मक के मित्र राजाओं ने कृष्ण का आना सुनकर ही समझ लिया था कि कुछ उपद्रव होगा। इसलिए वे पहले से ही तैयार थे। सबके सब सेना लेकर कृष्ण के पीछे दौड़े। पर कोई कृष्ण या यादवों का बाल भी बांका न कर सका। कृष्ण ने रुक्मिणी को द्वारका लाकर उसके साथ शास्त्रानुसार ब्याह किया।

इसी का नाम हरण है। हरण कहने से कन्या के ऊपर किसी प्रकार का अत्याचार होना मालूम नहीं होता है। यदि कन्या के मन के लायक वर हो, और उसमें उसकी सम्मति हो, तो उस पर क्या अत्याचार हुआ? रुक्मिणी कृष्ण को चाहती थी। पीछे यह भी दिखाऊँगा कि अर्जुन के सुभद्रा हरण में भी कोई दोष नहीं है और वह कृष्ण द्वारा अनुमोदित था। हाँ, यह मैं स्वीकार करता हूँ कि वैसे कन्या-हरण में दोष है या नहीं, इसका विशेष विचार करना आवश्यक है। मैं इसका विचार सुभद्रा हरण के समय करूँगा, क्योंकि कृष्ण ने स्वयं उस समय इस पर विचार किया है। इस कारण अभी उस विषय में कुछ न कहूँगा।

इसके भीतर एक बात और है। उस समय क्षत्रिय राजाओं में विवाह की

दो प्रशस्त पद्धतियाँ थीं—एक स्वयंवर और दूसरा हरण। पर कभी-कभी दोनों से काम लिया जाता था। जैसा कि काशी के राजा की कन्या अंबिकादि के ब्याह में हुआ। इनका स्वयंवर हुआ था। पर आदर्श क्षत्रिय देवव्रत भीष्म स्वयंवर की परवाह न कर तीनों कन्याओं को हर ले गए। स्वयंवर हो चाहे हरण, कन्या किसी एक के हाथ लगते ही उद्धत स्वभाव वाले रणप्रिय क्षत्रिय बिना युद्ध किए नहीं मानते थे। इतिहास में द्रौपदी का स्वयंवर और काव्य में इंदुमती का स्वयंवर लीजिए। इनमें कन्याओं का हरण नहीं हुआ, तो भी युद्ध से पिंड नहीं छूटा। महाभारत के मौलिक अंश में रुक्मिणी का हरण नहीं है। शिशुपाल वध पर्वाध्याय में कृष्ण कहते हैं :

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य पार्थना सीमंमृर्षतः।
न च तां प्राप्तवान् मृढः शुद्रो वेद श्रुती मिव।।"

शिशुपाल वधपर्वाध्याय 45 अ. 15 श्लो.

इस पर शिशुपाल उत्तर देता है :

मत्पूर्व्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्त्तयन्।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम्।।
मान्य मानोहि कः सत्यु पुरुषः परिकीर्त्त येत्।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन।।

शिशुपालवध 45 अ. 18-19 श्लो.

इसमें कुछ ऐसी बात नहीं है, जिससे यह समझा जाए कि रुक्मिणी का हरण हुआ या इसके लिए कोई युद्ध हुआ था। फिर उद्योग पर्व में एक जगह लिखा है :

यो रुक्मिणी में करथे न भोजान् उत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य।।
उवाह भार्य्यां यशसा ज्वलतीं यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा।।

इसमें युद्ध की बात है, हरण की नहीं। और एक ठौर रुक्मिणी-हरण की बात है। उद्योग पर्व में सेना निकलने के समय रुक्मिणी का भ्राता रुक्मी पांडवों के शिविर में आ पहुँचा। उसके बारे में लिखा है, "अपने बाहुबल से गर्वित रुक्मी ने श्रीमान् वासुदेव द्वारा किया रुक्मिणी हरण सहन न कर "मैं कृष्ण का वध किए बिना न लौटूँगा" यह प्रतिज्ञा की। और बढ़ी हुई भागीरथी की तरह तेज चलने वाली विचित्र आयुध लिए चतुरंगिणी सेना के साथ वह उनकी (कृष्ण की) ओर दौड़ा। पर उनके पास पहुँचते ही पराजित और लज्जित हो लौट गया। जहाँ

वासुदेव से वह पराजित हुआ था वहाँ उसने भोजकट नाम का नगर बसाया, जिसमें बहुत सी सेनाएँ, हाथी और घोड़े रहते थे। रुक्मी अभी उसी नगर से एक अक्षौहिणी सेना के साथ तुरत पांडवों के निकट आया और पांडवों से छिपकर कृष्ण के प्रिय काम के लिए कवच, धनुष, तलवार, खड्ग, और सरासन धारण कर सूर्य चिन्हित ध्वज के सहित पांडवों की सेना में घुस गया।"

यही बात उद्योग पर्व के 167 वें अध्याय में है। इस अध्याय का नाम रुक्मी प्रात्याखान है। महाभारत के जिस पर्वसंग्रहअध्याय की बात पहले ही कह चुका हूँ, उसमें लिखा है कि उद्योग पर्व में 186 अध्याय और 6698 श्लोक हैं।

उद्योग पर्व निर्दिष्टं सन्धि विग्रह मिश्रितम्।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं षड़शीतिर्महर्षिणा।।
श्लोकानां षटसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च।
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्त्रथैवाष्टौ महात्मना।।

महाभारतम्, आदिपर्व।

इस समय महाभारत में 197 अध्याय पाए जाते हैं। इसलिए पर्वसंग्रहाध्याय बनने के पीछे मिलाए गए हैं। इस समय उद्योग पर्व में 1657 श्लोक हैं, प्रायः एक हजार श्लोक ऊपर से मिलाए गए हैं। यह ऊपर से मिलाए हुए ग्यारह अध्याय और एक हजार श्लोक कौन से हैं? पहले यह देखना होगा कि उद्योग पर्व के कौन-कौन से वृत्तांत पर्वसंग्रहाध्याय में संगृहीत नहीं हैं। यह रुक्मि-समागम या रुक्मि-प्रत्याखान पर्वसंग्रहाध्याय में संगृहीत नहीं है। इस हेतु यह ठीक मालूम होता है कि यह 157वाँ अध्याय उन प्रक्षिप्त ग्यारह अध्यायों में है। इस रुक्मि-प्रत्याखान पर्वाध्याय से महाभारत का कुछ संबंध नहीं है। रुक्मि सैन्य सहित आया, पर अर्जून ने उसे अपनी ओर नहीं लिया, दूर्योधन के पास गया, तो उसने भी कोरा जवाब दिया, लाचार अपना सा मुँह ले कर लौट गया। बस, इतने के सिवा और कुछ उसका संबंध महाभारत से नहीं है। यह दोनों लक्षण एकत्र कर विचारने से अवश्य समझ में आ जाएगा कि 157वाँ अध्याय प्रक्षिप्त है। यदि यह प्रक्षिप्त है, तो रुक्मिणी हरण भी महाभारत में प्रक्षिप्त है।

इसका एक और प्रमाण यह है। विष्णु पुराण में लिखा है कि महाभारत युद्ध के पहले ही बलराम ने रुक्मी को जूए के झगड़े में मार डाला था। यह सच है कि शिशुपाल रुक्मिणी से ब्याह करना चाहता था और यह भी सच है कि शिशुपाल उससे ब्याह न कर सका, कृष्ण ने कर लिया। ब्याह के बाद एक लड़ाई हुई थी, पर मौलिक महाभारत में 'हरण' की चर्चा कहीं नहीं है। हरिवंश तथा

पुराणों में है।

शिशुपाल ने भीष्म को गालियाँ देते समय काशिराज के कन्या हरण का उल्लेख किया है, पर कृष्ण को गालियाँ देते समय रुक्मिणी हरण की बात नहीं कही। इससे मालूम होता है कि, रुक्मिणी नहीं हरी गई। पहले के कथोपकथन से यही सत्य जान पड़ता है कि शिशुपाल ने रुक्मिणी को ब्याहना चाहा था पर भीष्मक ने कृष्ण से ही उसका ब्याह कर दिया। पीछे उसके पुत्र रुक्मी ने शिशुपाल की ओर से बखेड़ा खड़ा किया। रुक्मी बड़ा झगड़ालू था। अनिरुद्ध के ब्याह के समय जुए के लिए झगड़ा कर बलराम के हाथ से वह मारा गया।

V : नरकासुर वध आदि

लिखा है कि पृथ्वी के नरकासुर नाम का एक पुत्र था। प्रागूज्योतिष उसकी राजधानी थी। वह बड़ा दुष्ट था। स्वयं इंद्र ने द्वारका आकर कृष्ण के यहाँ उस पर नालिश की थी। और अपराधों के सिवा उसका एक अपराध यह था कि उसने इंद्र, विष्णु आदि आदित्यों की माता अदिति के कुंडल चुरा लिए थे। कृष्ण ने इंद्र के सामने नरका वध की प्रतिज्ञा की और प्रागूज्योतिषपुर जाकर उसे मार डाला। नरका के सोलह हजार कन्याएँ थीं। कृष्ण ने अपने घर लाकर उनसे ब्याह कर लिया। नरकासुर की माता पृथ्वी ने अदिति के कुंडल कृष्ण को दिए और कहा कि आपने जब वराह अवतार धारण कर मेरा उद्धार किया था, तब मैंने आपके स्पर्श से गर्भवती हो नरकासुर को जना था।

यह सारी की सारी कथा अलौकिक और मिथ्या है। विष्णु ने वराह का रूप धारण नहीं किया। प्रजापति ने पृथ्वी के उद्धार के लिए वराह रूप धारण किया था। यही वेद में लिखा है। कृष्ण के समय में प्रागूज्योतिषपुर का राजा नरकासुर नहीं, भगदत्त था। भगदत्त अर्जुन के हाथ से कुरुक्षेत्र के युद्ध में मारा गया था। इसलिए इंद्र का द्वारका जाना, पृथ्वी का गर्भ धारण करना और एक मनुष्य के सोलह हजार बेटियाँ होना आदि सब बातें अलौकिक और असत्य हैं। कृष्ण के सोलह हजार रानियाँ होना भी वैसी ही बात है।

विष्णु पुराण के अनुसार इस नरकासुर वध से ही पारिजात हरण की कथा निकली है। कृष्ण अदिति को कुंडल देने के लिए सत्यभामा के साथ इंद्रपुरी गए। वहाँ सत्यभामा का मन पारिजात पर चला। पर इंद्र पारिजात देना नहीं चाहता था। बस, कृष्ण और इंद्र में लड़ाई हो गई। इंद्र बेचारा हार गया। हरिवंश में यह कथा और ही ढंग से है। पर जब हम विष्णु पुराण को हरिवंश से पहले का

समझते हैं, तब विष्णु पुराण की ही बात यहाँ माननी चाहिए। दोनों ग्रंथों की कथाएँ बड़ी अद्‌भुत और अलौकिक हैं। जब हम लोग इंद्र, इंद्रपुरी और पारिजात का अस्तित्त्व ही स्वीकार नहीं करते तब भला पारिजात का हरण कहाँ से मान सकते हैं? इसलिए ये बातें छोड़ देना ही अच्छा है।

इसके बाद बाणासुर की कथा है। यह भी अलौकिक और अद्‌भुत वृत्तांतों से परिपूर्ण है। इसलिए इसे भी छोड़ना चाहिए। फिर पोण्ड्र वासुदेव का वध और वाराणसीदाह है। इनमें शायद कुछ ऐतिहासिकता है। पौंड्रों का राज्य ऐतिहासिक है और पौंड्र जाति की बातें ऐतिहासिक तथा अनैतिहासिक समय के अनेक देशी-विदेशी ग्रंथों में भी मिलती हैं। रामायण में उनके दक्षिण भारत में रहने की बात पाई जाती है। किंतु महाभारत के समय वह आधुनिक बंगाल के पश्चिम की ओर रहते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में पौंड्र उपस्थित थे। उस समय उनकी गिनती अनार्य जातियों में थी। 'दशकुमारचरित' में भी उनकी चर्चा है। और चीन का एक यात्री उन्हें बंगाल में रहते देख गया था। वह उनकी राजधानी पौंड्रवर्द्धन में भी गया था। कृष्ण के समय में पौंड्र का जो राजा था, उसका भी नाम वासुदेव था। वासुदेव शब्द के अनेक अर्थ हैं। वसुदेव का पुत्र वासुदेव होता है और जो सर्वनिवास अर्थात् सब प्राणियों का वासस्थान है, वह भी वासुदेव है।[5] इसलिए जो ईश्वर का अवतार है, वही वासुदेव नाम का यथार्थ अधिकारी है। इस पौंड्र वासुदेव ने यह बात उड़ाई कि द्वारकावासी वासुदेव नकली वासुदेव है, मैं ही असली वासुदेव, ईश्वर का अवतार हूँ। उसने कृष्ण से कहला भेजा कि शंख-चक्र-गदा-पद्मादि आकर मुझे दे जाओ, क्योंकि इनका वास्तविक अधिकारी मैं हूँ। कृष्ण 'तथास्तु' कह कर पौंड्रक राज्य में पहुँचे और वहाँ उन्होंने चक्र से उसका सिर काट दिया। वाराणसी का राजा पौंड्रक का तरफदार हो कर कृष्ण से लड़ने आया। कृष्ण ने शत्रु का नाश कर वाराणसी को भस्म कर दिया।

शत्रुओं का नाश करना अधर्म नहीं, पर नगर को जला देना धर्मसंगत नहीं है। परम धर्मात्मा कृष्ण ने ऐसा काम क्यों किया, विश्वास के योग्य इसका कोई विवरण नहीं मिलता है। विष्णु पुराण में लिखा है कि काशीराज के मारे जाने पर उसके पुत्र ने कृष्ण के वध के लिए तपस्या कर महादेव से वर माँगा कि "कृत्या उत्पन्न हो"। जो शरीरधारी अमोघ शक्ति यज्ञ से उत्पन्न होकर शत्रु का संहार करती है, उसे कृत्या कहते हैं। महादेव ने काशीराज के पुत्र को मुँह माँगा वर दिया। कृत्या उत्पन्न हुई। वह भयानक मूर्ति धारण कर कृष्ण को मारने के लिए दौड़ी। कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से कहा कि मारो इसे। वह सुदर्शन चक्र के

डर से भाग चली। चक्र भी उसके पीछे-पीछे चला। कृत्या वाराणसी नगर में घुसी। चक्र की अग्नि से सारा नगर जल कर भस्म हो गया। यह घटना नितांत अस्वाभाविक और अविश्वास के योग्य है। हरिवंश में पौंड्रक वध की कथा है, पर वाराणसी के जलने की नहीं है। महाभारत में उसकी कुछ चर्चा है, इसलिए वाराणसी-दहन अनैतिहासिक समझकर छोड़ न सका। हाँ, कृष्ण को वाराणसी क्यों भस्म करनी पड़ी, इसका विश्वास योग्य कोई कारण नहीं मिलता है।

जिन युद्धों की बात कही गई है, उनके सिवा उद्योग पर्व के 47वें अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण की गांधार-विजय, पौंड्र-विजय, कलिंग-विजय, शाल्व-विजय और एकलव्य वध की बात कही है। इनमें से साल्व-विजय का वृत्तांत महाभारत के वन पर्व में है। और किसी का पूरा ब्योरा किसी ग्रंथ में मुझे नहीं मिला। जान पड़ता है, हरिवंश तथा और सब पुराण बनने के पहले इन युद्धों की किंवदंतियाँ लुप्त हो गई थीं। हरिवंश और भागवत में बहुतेरी नई बातें हैं, पर महाभारत या विष्णु पुराण में उनकी कुछ चर्चा नहीं है। इसीलिए मैंने उन्हें छोड़ दिया है।

VI : द्वारका-स्यमन्तक

द्वारका में कृष्ण राजा नहीं थे। जहाँ तक समझा जा सकता है, उससे यह जान पड़ता है कि यूरोप वाले इतिहास में जिसे ओलीगारकी[6] कहते हैं, वही यादव द्वारका में थे। यर्थात् वे लोग समाज के नायक थे, पर आपस में सब समान थे। जो उमर में बड़े थे, उन्हें वह अपना मुखिया मानते थे। इसी से उग्रसेन राजा कहलाता था। पर ऐसे मुखिये की बहुत चलती बनती न थी। जो बल और बुद्धि में बड़ा होता था वही नेता बनता था। कृष्ण यादवों में बल वीर्य, बुद्धि विक्रम आदि में सबसे श्रेष्ठ थे, इससे वही यादवों के नेता थे। कृष्ण के बड़े भाई बलराम तथा कृतवर्मा आदि वयोवृद्ध यादव कृष्ण के वश में थे। कृष्ण भी सदा सबकी मंगल कामना करते थे। कृष्ण ही उनकी रक्षा करते और बहुतेरे राज्यों के विजेता होने पर भी अपने भाई-बंदों को दिए बिना कोई ऐश्वर्य भोग नहीं करते थे। वह सबको समान मानते थे। सबका हित साधन करते थे। आदर्श मनुष्य को बंधु-बांधवों के साथ जैसा व्यवहार करना चाहिए, वैसा ही करते थे। पर भाई-बंदों का स्वभाव सदा से एक सा होता आया है। कृष्ण के बल विक्रम के भय से वे लोग उनके वश में अवश्य थे। इस बारे में स्वयं कृष्ण ने नारद से जो कहा था, वही भीष्म नारद से सुनकर युधिष्ठिर से कहते हैं। यह सत्य हो चाहे असत्य, मैं लोक शिक्षा के लिए महाभारत के शांति पर्व से वह उद्धृत करता हूँ, "भाई-बंदों को ऐश्वर्य

का आधा अंश देकर और उनके कटुवाक्य सुनकर दासों की तरह रहता हूँ। अग्नि चाहने वाले जिस प्रकार अरणियों को रगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार भाई-बंदों के दुर्वाक्य निरंतर मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। बलदेव बल में, गद सुकुमारता में और मेरा पुत्र प्रद्युम्न सुंदरता में अद्वितीय हैं, अंधक और वृष्णि वंश वाले भी बड़े बली, उत्साही और अध्यवसायी हैं। वे जिसकी सहायता नहीं करते, वह धूल में मिल जाता है। और वे जिसकी ओर नजर उठाकर देखते हैं, वह सहज में ही माला-माल हो जाता है। ये सब ही मेरी ओर हैं। तो भी मैं असहाय हो दिन काटता हूँ। आहुक और अक्रूर मेरे परम मित्र हैं। पर इन दोनों से भी एक का स्नेह करने से एक नाराज होता है। इसलिए मैं किसी से स्नेह नहीं करता। पर अत्यंत मित्रता के कारण उन्हें छोड़ना भी कठिन हो रहा है। इसके बाद मैंने यह स्थिर कर लिया है कि आहुक और अक्रूर जिसके पक्ष में हैं, उसके दुःख का ठिकाना नहीं और जिसके पक्ष में वह नहीं हैं, उससे भी बढ़कर और कोई दुःखी नहीं है। जो हो, आजकल मैं दो सहोदर जुआरियों की माता की तरह दोनों की जय मनाता हूँ। हे नारद, मैं दोनों मित्रों को वश करने के लिए इस तरह दुःख पा रहा हूँ।''

इसके उदाहरण में स्यमन्तक मणि का वृत्तांत पाठकों को सुनाता हूँ। स्यमन्तक मणि की कथा बड़ी अलौकिक है। अलौकिक अंश निकाल देने पर जो बचेगा वह भी कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता। जो हो, उसकी स्थूल कथा यों है : सत्राजित् नाम का एक यादव द्वारका में रहता था। उसे कहीं एक बड़ी सुंदर मणि मिल गई। उसका नाम स्यमन्तक था। कृष्ण ने वह मणि देखकर विचारा कि यह यादवाधिपति उग्रसेन के ही योग्य है। पर विरोध के भय से उन्होंने सत्राजित् से मणि नहीं माँगी। पर सत्राजित् के मन में भय था कि कृष्ण यह मणि मागेंगे। और माँगने पर मैं इनकार न कर सकूँगा। इसलिए सत्राजित् ने वह मणि स्वयं धारण न करके अपने भाई प्रसेन को दे दी। प्रसेन वह मणि धारण करके एक दिन शिकार खेलने गया। वन में एक सिंह उसे मार कर मणि मुँह में रख कर चल दिया। जाम्बवान् ने उस सिंह को मारकर मणि ले ली। जाम्बवान् एक रीछ था। कहा जाता है कि द्वापरयुग में[7] जाम्बवान् रामचंद्र की ओर से लड़ा था।

इधर प्रसेन के मारे जाने और मणि के न मिलने से द्वारकावासियों ने कृष्ण पर संदेह किया, क्योंकि वह उसे लेना चाहते थे। कृष्ण को यह बात बड़ी बुरी लगी। वह मणि ढूँढने को निकले। जहाँ प्रसेन की लाश थी वहीं सिंह के पैर

देखे गए। कृष्ण ने सिंह के पैर दिखाकर अपना कलंक दूर किया। फिर सिंह के पैर जिधर गए थे, उधर ही वह भी गए। थोड़ी दूर जाने के बाद रीछ के पैर दिखाई पड़े। रीछ के पैरों के पीछे वह एक गुफा में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने जाम्बवान के पुत्र की धात्री के हाथ में मणि देखी। उन्होंने जाम्बवान् को युद्ध में परास्त किया। जाम्बवान् ने स्यमन्तक मणि और अपनी कन्या जाम्बवती कृष्ण को दें दीं। कृष्ण ने द्वारका आकर सत्राजित् को वह मणि दे दी। वह दूसरे की चीज नहीं लेना चाहते थे।

सत्राजित् ने कृष्ण पर अभूतपूर्व कलंक लगाया था, इसलिए वह डर गया। उसने कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए अपनी कन्या सत्यभामा दे दी। सत्यभामा बड़ी सुंदर थी। उसे सब चाहते थे। शतधन्वा, महावीर कृतवर्मा और कृष्ण के परम भक्त तथा मित्र अक्रूर यह तीन उसके मुख्य चाहने वाले थे। सत्राजित् ने कृष्ण को अपनी कन्या दे दी, तो इन तीनों ने अपना बड़ा अपमान समझा। उन्होंने षड़यंत्र कर सत्राजित् को मार डालने की ठहराई। अक्रूर और कृतवर्मा ने शतधन्वा को सत्राजित् के मार डालने और मणि लेने की सलाह दी और कहा कि कृष्ण अगर कुछ कहेंगे तो हम तुम्हारी मदद करेंगे। शतधन्वा ने शायद कृष्ण के वारणावत जाने पर सत्राजित् को सोये में मार कर मणि ले ली।

पिता के मारे जाने से दुःखित हो सत्यभामा ने कृष्ण के यहाँ नालिश की। कृष्ण ने द्वारका वापिस आकर बलराम को साथ ले शतधन्वा के वध का उद्योग किया। शतधन्वा ने यह सुनकर अक्रूर और कृतवर्मा से सहायता माँगी। उन दोनों ने कृष्ण और बलदेव के विरुद्ध सहायता देना अस्वीकार किया। लाचार शतधन्वा अक्रूर को मणि देकर तेज घोड़े पर भाग गया। कृष्ण बलराम शतधन्वा के घोड़े को न पकड़ सके क्योंकि वह दोनों रथ पर थे। शतधन्वा का घोड़ा भागते-भागते थक कर मर गया। फिर वह पैदल ही भागने लगा। न्याययुद्धपरायण कृष्ण ने बलराम को रथ पर छोड़कर पैदल ही उसका पीछा किया। दो कोस चलकर कृष्ण ने उसे पकड़कर उसका सिर काट लिया। पर मणि उसके पास न मिली। कृष्ण ने लौट कर बलराम से यह बात कही, पर बलराम को इस पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि मणि के लालच से कृष्ण बातें बनाता है। बलराम ने कहा : ''तुझे धिक्कार है। तू बड़ा लोभी है। यह रास्ता है, तू द्वारका चला जा, मैं अब नहीं जाने का।'' यह कह बलराम ने तीन वर्ष विदेह नगर में वास किया। इधर अक्रूर भी द्वारका छोड़कर भाग गया। पीछे यादव अभयदान देकर अक्रूर को द्वारका लिवा लाए। कृष्ण ने एक दिन सब यादवों को एकत्र करके अक्रूर

से कहा कि स्यमन्तक मणि तुम्हारे पास है, यह हम जानते हैं। उसे तुम्हीं अपने पास रखो, पर एक बार सबको दिखा दो। अक्रूर ने सोचा कि अस्वीकार करना ठीक नहीं, क्योंकि नंगाझोरी लेने से वह अभी मेरे पास निकल आवेगी। यह सोचकर उसने मणि बाहर निकाली। सत्यभामा और बलराम उसे लेने के लिए बहुत उत्सुक हुए, पर सत्य प्रतिज्ञ कृष्ण ने बलराम या सत्यभामा किसी को नहीं दी। और न स्वयं ली। अक्रूर को ही दे दी।[8]

इस स्यमन्तकमणि की कथा में भी कृष्ण की न्यायपरता, स्वार्थशून्यता, सत्यप्रतिज्ञता और कार्यदक्षता ही अच्छी तरह प्रगट होती है, पर यह सत्य नहीं जान पड़ती है।

VII : कृष्ण बहुविवाह

इस स्यमन्तक मणि की कथा में कृष्ण के बहुविवाह की कथा आप ही आ जाती है। कृष्ण ने रुक्मिणी से पहले ही ब्याह किया था, अब इस स्यमन्तक मणि की कृपा से जाम्बवती और सत्यभामा ये दो और मिल गईं। यह तो हुई विष्णु पुराण की बात। हरिवंश एक सीढ़ी और चढ़ गया है। वह दो नहीं चार की सनद देता है। सत्राजित् के सत्याभामा, प्रख्यापिनी और व्रतिनी यह तीन बेटियाँ थीं। उसने तीनों की तीनों कृष्ण को दे दीं। इन चार से कुछ बनता बिगड़ता नहीं, क्योंकि वहाँ गिनती सोलह हजार से ऊपर है। कहते तो लोग ऐसा ही हैं। विष्णु पुराण में (4 अंश 15 अ. 19 के श्लो.) है—''भगवतोप्यत्र मर्त्त्यलोकेवतीर्णस्य षोड़शयसहस्रान्येकोत्तर शतानि स्त्रीणामूभवन्।''—कृष्ण के सोलह हजार एक सौ एक स्त्रियाँ थीं। पर इसी पुराण के पाँचवें अंश के 28वें अध्याय में पुराणकार प्रधान स्त्रियों के नाम लिखकर कहता है कि रुक्मिणी के सिवा ''अन्याश्च भार्य्याः कृष्णस्य बभूवुः सप्त शोभनाः।'' इसके बाद ''षोड़शासन्सहस्राणि स्त्रीणामन्यानि चक्रिण'' लिखा है। इससे सोलह हजार सात होती हैं। इनमें सोलह हजार तो नरका की कन्याएँ हैं। इन्हें मनगढंत समझ कर मैंने पहले ही छोड़ दिया है।

यह कथा मनगढंत है, यह और एक ढंग से मैं समझता हूँ। विष्णु पुराण के चौथे अंश के पंद्रहवें अध्याय में है कि कृष्ण के सब स्त्रियों से एक लाख अस्सी हजार पुत्र हुए। विष्णु पुराण में ही दूसरी जगह लिखा है कि कृष्ण एक सौ पचीस वर्ष पृथ्वी पर रहे। इस हिसाब से कृष्ण के साल में 1440 और एक दिन में 4 लड़के होते थे। यहाँ यही समझना होगा कि कृष्ण की इच्छा से ही कृष्ण की स्त्रियाँ पुत्र प्रसव करती थीं।

नरकासुर की सोलह हजार कन्याओं की मनगढ़ंत कहानी छोड़े देता हूँ, पर तो भी आठ पटरानियाँ रह जाती हैं। एक रुक्मिणी भी हैं। विष्णु पुराणकार कहता है कि सात और हैं, पर पाँचवें अंश के अट्ठारहवें अध्याय में आठ रानियों के नाम मिलते हैं, जैसे :

कालिन्दी मित्रवृन्दा च सत्या नाग्नजिती तथा।
देवी जाम्बवती चापि रोहिणी कामरूपिणी।।
मद्रराजसुता चान्या सुशीला शीलमण्डना।
सात्राजिती सत्यभामा लक्ष्मणा चारुहासिनी।।

(क) कालिन्दी।
(ख) मित्रवृन्दा।
(ग) नग्नजित्‌की कन्या सत्या।
(घ) जाम्बवती।
(ङ) रोहिणी (कामरूपिणी)
(च) मद्रराज की सुता सुशीला।
(छ) सत्राजित् की कन्या सत्यभामा
(ज) लक्ष्मणा।

रुक्मिणी को लेकर नौ हुई। बत्तीसवें अध्याय में कुछ और ही लिखा है। यहाँ कृष्ण के पुत्रों के नाम गिनाए गए हैं :

प्रद्युम्नाद्या हरेः पुत्रा रुक्मिण्याः कथितास्तव।
भानुंभैमरिकञ्चैव सत्यभामा व्यजायत।।1।।
दीप्तिमान् ताम्रपक्षाद्या रोहिण्यंतनया हरेः।
बभूवुर्जाम्बवत्याञ्च शाम्बाद्या बाहुशालिनः।।2।।
तनया भद्रवृन्दाद्या नाग्नजित्यांमहाबलाः।
संग्रामजित् प्रधानास्तु शैव्यायासूत्वभवन् सुताः।।3।।
वृकाद्यास्तु सुता माद्रां गात्रवत् प्रमुखान् सुतान्
अवाप लक्ष्मणापुत्राः कालिन्द्याञ्चश्रुतादयः।।4।।

रुक्मिणी को छोड़कर इसमें जो नाम आए हैं, वे ये हैं:

(क) सत्यभामा (छ)
(ख) रोहिणी (ङ.)
(ग) जाम्बवती (घ)

(घ) नाग्नजिती (ग)
(ङ.) शैव्या (ख)
(च) माद्री (च)
(छ) लक्ष्मणा (ज)
(ज) कालिन्दी (क)

परंतु चौथे अंश के पंद्रहवें अध्याय में है ''तामाञ्च रुक्मिणी सत्यभामा-जाम्बवती-जालहासिनी-प्रमुखा अष्टौ पत्राः प्रधानाः।'' यहाँ फिर सब नाम नहीं मिले। ''जालहासिनी'' एक नया नाम मिला। यह तो हुई विष्णु पुराण की लीला। हरिवंश में और भी गड़बड़झाला है। उसमें लिखा है :

> महिषीः सप्त कल्याणी स्तोन्या मधुसूदनः।
> उपयेमे महाबाहुर्गुणोपेताः कुलोद्गताः।।
> कालिन्दीं मित्रवृन्दाञ्च सत्यां नाग्नजितीं तथा।
> सुतां जाम्बवतश्चापि रोहिणीं कामरूपिणीम्।।
> मद्रराजसुताञ्चापि सुशीलां भद्रलोचनाम्।
> सात्राजितीं सत्यभामां लक्ष्मणां जालहासिनीम्।।
> शैव्यस्य च सुतां तन्वीं रूपेणाप्सरसां समां।
> ।15।। अ. 67 श्लो।

यहां देखा जाता है कि लक्ष्मणा ही जालहासिनी है। ऐसा होने पर भी यही नाम मिलते हैं :

(क) कालिन्दी
(ख) मित्रवृन्दा
(ग) सत्या
(घ) जाम्बवान की कन्या
(ङ.) रोहिणी
(च) माद्री सुशीला
(छ) सत्राजित् की कन्या सत्यभामा
(ज) जालहासिनी लक्ष्मणा
(झ) शैव्या

संख्या धीरे धीरे बढ़ती जाती है। अब रुक्मिणी का छोड़कर नौ स्त्रियाँ हुईं। यह हुई 118वें अध्याय की तालिका। अब 162वें अध्याय को भी देखिए :

अष्टौ महिष्यः पुत्रिण्य इति प्रधानतः स्मृताः
सर्व्वाधारप्रजाश्चैव तास्वपत्यानि मे शृणु।
रुक्मिणी सत्यभामा च देवी नाग्नजिती तथा।
मुदत्ता च तथा शैव्या लक्ष्मणा जालहासिनी।।
मित्रवृन्दा च कालिन्दी जाम्बवत्यथ पौरवी।
मुभीमा च तथा माद्री + + + +

इसमें रुक्मिणी के सिवा यह नाम मिलते हैं :

(क) सत्यभामा
(ख) नाग्नजिती
(ग) मुदत्ता
(घ) शैव्या
(ड.) लक्ष्मणा जालहासिनी
(च) मित्रवृन्दा
(छ) कालिन्दी
(ज) जाम्बवती
(झ) पौरवी
(ञ) सुभीमा
(ट) माद्री

इसका जोड़ ग्यारह होता है। हरविंश के रचयिता आठ कह कर अब रुक्मिणी समेत बारह नाम देते हैं। पर इतने से भी उनकी तृप्ति नहीं है। अब वह एक-एक स्त्री की संतानों के नाम गिनाते हैं। इसमें गिनती और भी बढ़ गई है। ग्यारह नाम तो ऊपर हो चुके। अब आगे सुनिए :

(ठ) सुदेवा
(ड) उपासंग
(ढ) कौशिकी
(ण) सुतसोमा
(त) यौधिष्ठरी[9]

अबके गिनती सोलह तक पहुँची है। इनके सिवा सत्राजित् की व्रतिनी और प्रख्यापिणी नाम की दो कन्याएँ और हैं।

महाभारत में गांधारी और हैमवती[10] ये और दो नए नाम आते हैं। अब सब नाम मिलाकर देखना चाहिए कि कितनी पटरानियाँ होती हैं। महाभारत में है :

(क) रुक्मिणी
(ख) सत्यभामा
(ग) गांधारी
(घ) शैव्या
(ड.) हैमवती
(च) जाम्बवती

महाभारत में और नाम नहीं हैं, पर 'अन्या' शब्द है। इसके बाद विष्णु पुराण के 28वें अध्याय में (क), (ख), (ग) के सिवा ये कई नाम मिलते हैं :

(छ) कालिन्दी
(ज) मित्रवृन्दा
(झ) सत्या नाग्नजिती
(ञ) रोहिणी
(ट) माद्री
(ठ) लक्ष्मण जालहासिनी

विष्णु पुराण के 32वें अध्याय में इनके अतिरिक्त एक नाम शैव्या है। यह नाम ऊपर दे दिया गया है। फिर हरिवंश के 318वें अध्याय की पहली सूची में ऊपर के नामों के सिवा और कोई नया नाम नहीं है। परंतु 162वें अध्याय में यह नए नाम हैं :

(ड) सूदत्ता
(ढ) पौरवी
(ण) सुभीमा
(त) देवा
(थ) उपासंग
(द) कौशिकी
(ध) सुतसोमा
(न) यौधिष्ठिरी
(प) व्रतिनी
(फ) प्रस्वापिनी

आठ की जगह बाइस नाम मिले। इसमें मनमानी खूब हुई है, इसमें संदेह नहीं। इनमें (ड) से लेकर (फ) तक के नाम केवल हरिवंश में हैं। इस हेतु ये दस नाम छोड़े जा सकते हैं। तो भी 12 बचे। गांधारी और हैमवती के नाम महाभारत के मौसल पर्व के सिवा और कहीं नहीं हैं। मौसल पर्व क्षेपक है, यह पीछे सिद्ध करूँगा। इसलिए ये दोनों नाम भी छोड़े जा सकते हैं। अब बाकी बचे दस। विष्णु पुरण के 28वें अध्याय में जाम्बवती का नाम यों लिखा है :

देवी जाम्बवती चापि रोहिणी कामरूपिणी।

और हरिवंश में यों है :

सुता जाम्बवतश्चापि रोहिणी कामरूपिणी।

इसका अर्थ यदि यह हुआ कि जाम्बवान् की कन्या ही रोहिणी है, तो अर्थ असंगत नहीं, बल्कि और भी संगत जान पड़ता है। इसलिए जाम्बवती और रोहिणी एक ही हैं। यह दोनों एक हो जाने से नौ नाम बचे। सत्यभामा और सत्या भी एक ही हैं, इसका प्रमाण लीजिए : सत्राजित् के वध विषयक प्रश्न के उत्तर में लिखा है :

कृष्णः सत्यभामाममर्षताम्रलोचनः प्राह, सत्ये, ममैवावहासना।

अर्थात् कृष्ण क्रोध से आँखे लाल करके बोले, "सत्ये, इससे तो मेरी ही हँसी होती है।" फिर पाँचवें अंश के 30वें अध्याय में पारिजात-हरण के समय कृष्ण कहते हैं :

सत्ये, यथा त्वमित्यक्तं त्वया कृष्णासकृत् प्रियम्।

जरूरत होने पर और भी बहुत से प्रमाण दिए जा सकते हैं। अभी यही बहुत हैं।

सत्यभामा का ही नाम 'सत्या' हो जाने के कारण सत्या को भी छोड़ना पड़ा। अब आठ ही नाम रह गए—जैसे :

(1) रुक्मिणी
(2) सत्यभामा
(3) जाम्बवती
(4) शैव्या
(5) कालिन्दी
(6) मित्रविन्दा

(7) माद्री

(8) जालहासिनी लक्ष्मणा

इनमें से शैव्या, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा और माद्री सुशीला यह पाँच नाम केवल सूची में ही हैं। ये कार्यक्षेत्र में कभी नहीं दिखाई पड़े। इनका कब और क्यों ब्याह हुआ, इसकी बावत कोई कुछ नहीं लिखता है। कृष्ण के जीवन से इनका कोई संबंध नहीं है। विष्णु पुराण के प्रणेता ने इनके पुत्रों के नाम कृष्ण के पुत्रों के नामों के साथ जरूर दिए हैं, पर वह कर्मक्षेत्र में कभी नही आए। ये पाँचों किन की कन्या थीं, किस देश की थीं, इसका कहीं कुछ पता नहीं है। केवल सुशीला के बारे में लिखा है कि वह मद्र के राजा की बेटी थी। मद्र के राजा शल्य भी कृष्ण के समसामयिक थे। वह नकुल, सहदेव के मामा और कुरुक्षेत्र युद्ध के प्रसिद्ध रथी थे। वह और कृष्ण दोनों सतरह रोज तक कुरुक्षेत्र में अपनी-अपनी सेना के साथ थे। वहाँ कई बार इन दोनों की भेंट हुई। कृष्ण के बारे में बहुत सी बातें शल्य को और शल्य के बारें में कृष्ण को कहनी पड़ी हैं। कृष्ण के बारे में शल्य को बहुत सी बातें सुननी पड़ी हैं और शल्य के बारे में कृष्ण को। पर यह कहीं नहीं प्रकट हुआ कि कृष्ण शल्य के दामाद, बहनोई या और कोई नातेदार हैं। संबंध थे और बस यही पता लगता है कि शल्य ने कर्ण से कहा था : "अर्जुन और वासुदेव को अभी मार डालो।" कृष्ण भी शल्य के वध के लिए युधिष्ठिर को नियुक्त कर उसके लिए यम से हुए। कृष्ण का ब्याह माद्री से हुआ, यह बिलकुल असत्य सा जान पड़ता है। शैव्या, कालिन्दी, मित्रविन्दा और लक्ष्मणा के कुलशील, देश और विवाह के बारे में कोई कुछ नहीं जानता है। निसंदेह यह सब काव्य के अलंकार मात्र हैं।

केवल माद्री ही नहीं जाम्बवती, रोहिणी और सत्यभामा को भी मैं वैसी ही समझता हूँ। जाम्बवती और कालिन्दी आदि में भेद इतना ही है कि जाम्बवती के पुत्र शाम्ब का नाम यादवों के साथ बीच-बीच में आया है। पर शाम्ब के दर्शन लक्ष्मणाहरण के समय मिलते हैं और कहीं नहीं। लक्ष्मणा दुर्योधन की बेटी थी। महाभारत जैसा पांडवों का जीवनवृत्त है, वैसा ही कौरवों का भी है। यदि लक्ष्मणा हरण सत्य होता, तो उसकी चर्चा महाभारत में अवश्य होती। पर उसमें वह नहीं है। हाँ लक्ष्मणाहरण के सिवा यदुवंश ध्वंस में भी शाम्बजी महाराज पधारे हैं। बल्कि इसमें तो आप अगुआ ही थे। आपने ही पेट में मूसल बांधकर स्त्री का रूप धारण किया था। मैं कह चुका हूँ कि मौसलपर्व क्षेपक है। मूसल संबंधी

कथा अलौकिक है, इसलिए यह छोड़ देने के योग्य है। जाम्बवती के ब्याह के बहुत दिन बाद सुभद्रा का ब्याह हुआ था। सुभद्रा का पौत्र परीक्षित् जब 36 वर्ष का था तब यदुकुल का नाश हुआ। तब शाम्ब बूढ़ा हो चुका था। बूढ़ों का गर्भवती स्त्री बनकर ऋषियों को ठगने जाना असंभव है।

जाम्बवती रीछ की बेटी थी। इससे वह भी रीछ ही थी। रीछ की बेटी कृष्ण की या और किसी मनुष्य की स्त्री नहीं हो सकती। इसी से रोहिणी को कामरूपिणी लिखा है, क्योंकि वह रीछ से मानवी बन सकती थी। कामरूपिणी रीछ-कन्या को मैं नहीं मानता और न मैं यही मानने को तैयार हूँ कि श्री कृष्ण ने रीछ की बेटी से ब्याह किया था।

सुनते हैं, सत्यभामा के पुत्र थे, पर वह कार्यक्षेत्र में कभी नहीं आए। उनके विषय में संदेह होने का पहला कारण यही है। हाँ, रुक्मिणी की तरह सत्यभामा स्वयं सब कामों में पहुँच जाती है। इसके विवाह की आलोचना भी पूरे तौर से हो चुकी है।

महाभारत के वन पर्व के मार्कण्डेय समस्या-पर्वाध्याय में सत्यभामा का पता लगता है। पर यह पर्वाध्याय प्रक्षिप्त है, यह वन पर्व की आलोचना के समय पाठकों को मालूम हो जाएगा। इसमें द्रौपदी-सत्यभामा संवाद नाम का एक छोटा-सा पर्वाध्याय है। वह भी प्रक्षिप्त है। महाभारत की कथा सें उसका कोई संबंध नहीं है। वह स्वामी के साथ स्त्री को कैसा आचरण करना चाहिए, इस विषय का एक निबंध मात्र है। निबंध का लक्षण आधुनिक है।

इसके बाद उद्योगपर्व में भी सत्यभामा दिखाई देती है। इस पर्वाध्याय का नाम यान संधि है। यह भी क्षेपक है, यह पीछे दिखाऊँगा। कृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध के लिए आमंत्रित होकर उस पुन्य नगर आए, युद्ध यात्रा में सत्यभामा को संग लाने की संभावना नहीं थी। और कुरुक्षेत्र के युद्ध में सत्यभामा नहीं थी, यह महाभारत पढ़ने से ही मालूम हो जाता है। सारे युद्ध पर्व में और उसके बाद के पर्वों में कहीं सत्यभामा का नाम नहीं है।

मौसलपर्व में कृष्ण की मानवलीला समाप्त होने पर सत्यभामा का नाम आया है। पर यह पर्व प्रक्षित है, यह पीछे दिखाया जाएगा।

तात्पर्य यह कि महाभारत के जो अंश निस्संदेह मौलिक माने जा सकते हैं, उनमें सत्यभामा का नाम कहीं नहीं है। क्षेपक में है। सत्यभामा के विषय में संदेह होने का यह दूसरा कारण है।

इसके बाद विष्णु पुराण है। इसमें सत्यभामा के विवाह का वृत्तांत स्यमन्तकमणि

की कथा के साथ ही है। जिस मनगढंत कहानी में कृष्ण का ब्याह रीछ कन्या के साथ हुआ उसी में सत्यभामा के साथ भी हुआ है। फिर लिखा है कि कृष्ण के साथ सत्यभामा का ब्याह होने से शतधन्वा कुढ़ गया। और उसने सत्यभामा के बाप सत्राजित् को मार डाला। कृष्ण उस समय लाक्षाभवन में पांडवों के भस्म हो जाने का संवाद पाकर उन्हें ढूँढ़ने के हेतु वारणावत गए थे। सत्यभामा ने वहीं अपने पिता के मारे जाने की खबर कहला भेजी और शतधन्वा से वदला लेने की प्रार्थना की। ये बातें बिलकुल झूठ हैं। कृष्ण कभी वारणावत नहीं गए। अगर जाते तो महाभारत में जरूर लिखा होता। पर उसमें नहीं है। सत्यभामा पर संदेह होने का यह तीसरा कारण है।

फिर विष्णु पुराण में सत्यभामा को केवल पारिजातहरण के समय पाते हैं। पारिजातहरण अस्वाभाविक और असत्य घटना है। सत्य और विश्वास योग्य घटनाओं में सत्यभामा का कहीं पता नहीं है। संदेह का यह चौथा कारण है।

महाभारत के आदिपर्व में संभव पर्वाध्याय के 67वें अध्याय का नाम 'अंशावतारण' है। महाभारत की नायक-नायिकाओं में कौन किस देव, देवी या असुर राक्षस के अंश से उत्पन्न हुआ या हुई, इसी का ब्योरा इसमें लिखा है। अंत में लिखा है कि कृष्ण नारायाण के, बलराम शेष नाग के, प्रद्युम्न सनत्कुमार के द्रौपदी इंद्राणी के और कुंती तथा माद्री सिद्धि और धृति के अंश से उत्पन्न हुई थीं। कृष्ण की रानियों के संबंध में लिखा है कि सोलह हजार रानियाँ अप्सराओं के अंश से और रुक्मिणी लक्ष्मी के अंश से हुई थीं। और किसी स्त्री का नाम नहीं है। संदेह का यह पाँचवाँ कारण है। इससे केवल सत्यभामा पर ही संदेह नहीं होता, बल्कि रुक्मिणी को छोड़कर कृष्ण की सब पटरानियों पर होता है। नरका की सोलह हजार कन्याओं की बात जाने दीजिए, क्योंकि उन्हें अस्वाभाविक समझकर पहले ही छोड़ चुका हूँ। अब महाभारत के इस अध्याय से तो यही प्रमाणित होता है कि रुक्मिणी के सिवा श्री कृष्ण के और कोई स्त्री नहीं थी।

रीछ के धेवते शाम्ब के विषय में जो कुछ कहा है, उसे छोड़ देने पर, रुक्मिणी के पुत्रों के सिवा और किसी रानी के पुत्र, पौत्र कभी किसी कार्यक्षेत्र में नहीं आए। रुक्मिणी की ही संतान राजगद्दी पर बैठी। और किसी के वंश का कहीं पता भी नहीं है। इन कारणों से कृष्ण के एक से अधिक स्त्री होने में पूरा संदेह है। शायद हो भी सकती हैं। उस समय एक से अधिक स्त्री रखने की रीति भी थी। पांडवों में सबके ही एक से अधिक स्त्रियाँ थीं। आदर्श धार्मिक भीष्म अपने छोटे भाई के लिए काशी के राजा की तीनों कन्याएँ हर लाए थे। कृष्ण को एक

से अधिक विवाह पसंद नहीं थे, इसका भी प्रमाण कहीं नहीं मिला। मेरे विचार में भी यह नहीं आया कि पुरुषों का एक से अधिक ब्याह करना सदा अधर्म है। हाँ, अकारण ही सदैव एक से अधिक विवाह करना अवश्य अधर्म है। पर सब अवस्थाओं में नहीं। यह मेरी समझ में नहीं आता है कि जिसकी स्त्री कोढ़ या और किसी रोग से ऐसी हो जाए कि किसी तरह उसके घर का काम न चल सके, तो उसके फिर ब्याह करने से पाप होगा। जिसकी स्त्री धर्मभ्रष्ट और कुल्टा हो गई हो, वह अदालत गए बिना क्यों नहीं दूसरा ब्याह कर सकेगा, यह भी मेरी क्षुद्र बुद्धि में नहीं आता है। अदालत जाने से कैसा गौरव बढ़ता है, इसका उदाहरण सभ्यता के ठेकेदार यूरोप वालों में हम देखते हैं। जिसे उत्तराधिकारी की आवश्यकता है वह स्त्री के वन्ध्या होने पर फिर क्यों नहीं दूसरा ब्याह करेगा? यूरोप ने यहूदियों से सीखा था कि कभी दूसरा ब्याह न करना चाहिए। यदि यह कुशिक्षा वहाँ न होती तो बोनापार्ट जोसेफाइन को परित्याग कर घोर पातकी न बनता। अष्टम हेनरी को बात-बात में पत्नी हत्या न करनी पड़ती। इसी कारण यूरोप में आजकल सभ्यता के उज्ज्वल प्रकाश में पत्नी और पति हत्याएँ हो रही हैं। हमारे शिक्षित भाइयों का विश्वास है कि जो कुछ विलायत में है, वही सुंदर, पवित्र, निर्दोष है और वही पितरों के उद्धार का कारण है। पर मेरा विश्वास तो यह है कि हम विलायत वालों से बहुत सी बातें सीख सकते हैं और वह हमसे सीख सकते हैं। उनमें से एक यही विवाह तत्त्व है।

यह दिखला चुका हूँ कि कृष्ण ने एक से अधिक ब्याह किए या नहीं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला। यदि किए ही हों तो क्यों किए इसका भी विश्वास योग्य वृत्तांत कहीं नहीं मिला। स्यमन्तकमणि के साथ जैसी स्त्रियाँ उन्हें मिलीं, वह नानी की कहानी के उपयुक्त हैं। और नरकासुर की सोलह हजार बेटियाँ तो नानी की कहानियों की भी नानी हैं। यह कहानियाँ सुनकर हम प्रसन्न हो सकते हैं, पर विश्वास नहीं कर सकते।

संदर्भ

1. रास्ते में कुब्रा की लीला हुई। विष्णु पुराण में इसका वर्णन निंदा के योग्य नहीं है। कुब्रा ने अपने को सुंदरी होते देख कृष्ण से अपने घर चलने की प्रार्थना की। कृष्ण हँसते-हँसते लोट गए। विष्णु पुराण में बस इतना ही लिखा है। कृष्ण का यह व्यवहार मानवोचित,और सज्जनोचित है। पर भागवतकार और ब्रह्मवैवर्त्तकार इतने से संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कुब्जा को भक्ति का तुरत पुरस्कार देकर उसे चटपट पटरानी बना दिया।

अब मैं भागवत को यहीं प्रणाम करता हूँ। आगे इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, क्योंकि भागवत में ऐतिहासिक बातें कुछ नहीं हैं। जो कुछ है, वह विष्णु पुराण में है। इसके सिवाय जो है वह अलौकिक है। हाँ, भागवत की कही हुई बाललीला बड़ी प्रसिद्ध है—इसी से उसकी चर्चा करनी पड़ी। अब भागवत से विदा होता हूँ।

2. कालीप्रसन्न सिंह महोदय का यह भाषांतर है। उल्थे में उन्होंने 'दानवराज कंस' लिखा है, पर मूल में ऐसा नहीं है। यथा ''कस्यचित्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान्।'' इसलिए उद्धृत करने में 'दानवराज' शब्द मैंने छोड़ दिया है।
3. एक अक्षौहिणी में 109350 पैदल, 65610 घोड़े, 21870 हाथी और 21870 रथ होते हैं। भाषांतरकार।
4. पर मूल में ऐसा नहीं है—यथा

   अलोच्य गिरि मुख्यं तं मागधं तीर्ण मेवच।

   अर्थात् यादवों के उस गिरिवर की संस्थापनादि की आलोचना तथा इस समझ से कि हम मगधनाथ के हाथ के बाहर आ गए हैं—बड़ा हर्ष हुआ। हिंदी महाभारत भा. का.।
5. वसुः सर्व्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमनु।

   स च देवः परं ब्रह्म वासुदेव इति स्मतः।।
6. स्वल्प-स्वामी-तंत्र अर्थात् वह राज्यप्रणाली जिसमें कुछ इने गिने लोगों के हाथ में शासन का काम होता है। भाषांतरकार।
7. द्वापर नहीं त्रेता में। भाषांतरकार।
8. विष्णु पुराण में तो यही है, पर हरिवंश में लिखा है कि कृष्ण ने स्वयं उसे धारण कर लिया था।
9. इनकी भी गिनती आठ पटरानियों में ही है।
10. रुक्मिणी त्वय गांधारी शैव्या हैमक्तीत्यति।

    देवी जाम्बवती चैवविविशुजात वेद सम्।।

    मौसल पर्व, 7 अध्यायः।

अध्याय 4

इन्द्रप्रस्थ

I : द्रौपदी स्वयंवर

महाभारत की कृष्ण-कथा में कौन-कौन अंश मौलिक और विश्वास के योग्य हैं, इसकी जाँच के लिए प्रथम अध्याय में जो नियम बना आया हूँ, उन्हें पाठक अभी जरा स्मरण कर लें।

महाभारतकार ने कृष्ण को पहले-पहल द्रौपदी के स्वयंवर में दिखाया है। मेरे विचार से इस अंश के मौलिक होने में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि लासेन् साहब द्रौपदी का होना ही नहीं मानते हैं, क्योंकि वह पांचाली द्रौपदी को पांचल की पांच जातियों का एकीकरण अर्थात् एक हो जाना समझते हैं। मुझे भी यह विश्वास नहीं होता कि द्रुपद ने यज्ञाग्नि से कन्या पायी और उसके पाँच पति थे। हाँ, द्रुपद के ओरस कन्या होना असंभव नहीं है। इसका स्वयंवर होना और उसमें अर्जुन का लक्ष्यवेध करना अविश्वास योग्य बात नहीं है और न इसका कोई कारण है। फिर द्रौपदी के पाँच पति थे या एक, इसकी मीमांसा करने की कुछ आवश्यकता नहीं है।[1]

द्रौपदी के स्वयंवर के समय देखने से कृष्ण का ईश्वरत्व कुछ भी प्रगट नहीं होता है। अन्यान्य क्षत्रियों के साथ वह तथा यादवगण भी निमंत्रित होकर पांचाल पहुँचे थे। और क्षत्रियों ने तो द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए लक्ष्यबेधने की चेष्टा भी की थी, पर यादवों ने नहीं की।

पाण्डव भी वहाँ उपस्थित थे, पर निमंत्रति होकर नहीं गए थे। दुर्योधन उनके मार डालने की फिक्र में था। इसलिए वह प्राणों के भय से वेष बदलकर वन-वन फिरते थे। द्रौपदी के स्वयंवर की खबर सुनकर वे लोग भी वेष बदले वहाँ जा पहुँचे। उपस्थित ब्राह्मण और क्षत्रियों में केवल श्री कृष्ण ने ही पाण्डवों को पहचाना था। उन्होंने दैवीशक्ति से पहचाना था, ऐसा वहाँ नहीं लिखा है। श्री कृष्ण की उक्ति से ही यह प्रगट होता है कि उन्होंने मनुष्यबुद्धि से पाण्डवों को पहचाना था। वह बलदेव से कहते हैं : यह जो बड़ा सा धनुबाण खेंच रहे

हैं, अर्जुन हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं। और जो बाहुबल से वृक्ष उखाड़ कर निर्भय राजसभा में आ रहे हैं, उनका नाम वृकोदर है,'' इत्यादि। इसके बाद भेंट होने पर जब युधिष्ठिर ने पूछा : ''तुमने हमें कैसे पहचाना?'' तब कृष्ण ने जवाब दिया था : ''भस्म से ढकी हुई आग क्या छिपी रहती है?'' पाण्डवों को उस वेश में पहचान लेना बड़ा कठिन काम था। और किसी ने उन्हें नहीं पहचाना, यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। कृष्ण ने उन्हें केवल स्वाभाविक मनुष्यबुद्धि से ही जाना था। इससे मालूम होता है कि श्री कृष्ण में और मनुष्यों की अपेक्षा तीक्ष्णबुद्धि थी। महाभारतकार ने साफ-साफ ऐसा कहीं नहीं कहा है, पर श्री कृष्ण के कार्यों से सब ठौर यही जाना जाता है कि वह मनुष्यबुद्धि से ही काम लेते थे और उनकी बुद्धि सबसे तीक्ष्ण थी। इनकी बुद्धि में कुछ कोर कसर नहीं थी। और बातों में वह जैसे आदर्श मनुष्य थे, वैसे ही बुद्धि में भी थे।

अर्जुन के लक्ष्य बेधने पर उपस्थित राजाओं ने झगड़ा खड़ा किया। अर्जुन भिक्षुक ब्राह्मण वेष में था। एक भिक्षुक ब्राह्मण बड़े-बड़े राजाओं के मुख का ग्रास छीन ले भला यह उन लोगों से कैसे सहा जाता? उन लोगों ने तुरंत अर्जुन पर आक्रमण किया। जितनी देर युद्ध हुआ, उसमें अर्जुन की ही जीत हुई। कृष्ण के बीच-बचाव करने से लड़ाई बंद हो गई। कृष्ण का पहला काम महाभारत में बस यही हुआ। उन्होंने किस तरह झगड़ा मिटाया, यही मैं बताना चाहता हूँ। झगड़ा मिटाने के बहुत से उपाय थे। वह स्वयं प्रसिद्ध वीर थे और बलदेव, सात्यकि आदि अद्वितीय वीर उनके सहाय थे। अर्जुन उनके फुफेरे भाई थे। वह लड़ाई में अर्जुन की मदद करते, तो तुरंत ही झगड़ा मिट जाता। भीम ने वही किया था। पर श्री कृष्ण धार्मिक थे। जो काम बिना युद्ध के हो सकता था, उसके लिए वह कभी युद्ध नहीं करते थे। महाभारत में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ श्री कृष्ण ने धर्म के सिवा और किसी कारण से युद्ध किया हो। अपनी और दूसरे की रक्षा के हेतु युद्ध करना धर्म है। अपनी तथा दूसरे के रक्षार्थ युद्ध न करना परम अधर्म है। हम भारतवासी आज सात सौ वर्षों से इसी अधर्म का फल भोग रहे हैं। कृष्ण ने कभी अन्य कारण से युद्ध नहीं किया। और न धर्मस्थापना के हेतु युद्ध करने से वह कभी पीछे हटे। जहाँ युद्ध के बिना धर्म की उन्नति नहीं होती है, वहाँ युद्ध न करना ही अधर्म है। जिनकी पहुँच काशीराम दास[2] या कथक्कड़ों के कहे महाभारत तक ही है, वह तो श्री कृष्ण को ही सब लड़ाइयों की जड़ समझते हैं। पर जो मूल महाभारत बुद्धि सहित पढ़ते हैं, वे ऐसा नहीं करते। वह समझते

हैं कि श्री कृष्ण ने धर्मार्थ युद्ध के सिवा न कभी युद्ध किया और न विसी को करने दिया।

यहाँ भी श्री कृष्ण ने लड़ने की नहीं सोची। उन्होंने लड़ते हुए राजाओं से कहा : "इन्होंने ही राजकुमारी को धर्म से प्राप्त किया है, अब लड़ाई बंद करो, अब ज्यादा लड़ने की जरूरत नहीं।" धर्म की बात तो अब तक किसी को याद नहीं आयी थी। उस समय के बहुतेरे राजा धर्मभीरू थे। जानबूझकर कभी अधर्म नहीं करते थे। पर उस समय क्रोधान्ध हो धर्म भूल गए थे। पर जो सच्चा धर्मात्मा है, धर्म की वृद्धि ही जिसके जीवन का उद्देश्य है, वह भला धर्म को क्यों भूलने लगा? जो अपना धर्म भूल गया है, उसे धर्म की याद दिलाना और जो धर्म नहीं जानता है, उसे धर्म सिखा देना ही सच्चे धर्मात्मा का काम है। कृष्ण ने राजाओं से कहा : "इन्होंने राजकुमारी को धर्म से प्राप्त किया है, इसलिए अब लड़ने की जरूरत नहीं।" इतना सुनते ही राजाओं ने लड़ना छोड़ दिया। लड़ाई बंद हो गई। पाण्डव अपने आश्रम चले गए।

इससे यहाँ यह समझा जाता है कि यदि कोई अदना आदमी अभिमानी राजाओं से धर्म की दुहाई देता, तो वह कभी लड़ाई बंद न करते। जिन्होंने धर्म की बात कही, वह बड़े पराक्रमी और गौरवयुक्त थे। वह ज्ञान, धर्म, और बल में सबके प्रधान हो गए थे। उन्होंने अपनी सब वृत्तियों का अनुशीलन संपूर्ण रूप से किया था। उसी का फल यह प्रधानता थी। अनुशीलित हुए बिना एक भी वृत्ति वैसी फल देनेवाली नहीं होती है। देखिए, कृष्ण चरित्र से धर्मतत्त्व किस प्रकार विकसित हो रहा है।

II : कृष्ण-युधिष्ठिर संवाद

अर्जुन लक्ष्य बेधकर भाइयों समेत आश्रम चले गए। सब राजा भी अपने-अपने घर को चले गए। अब कृष्ण को क्या करना उचित था? द्रौपदी का स्वयंवर समाप्त हुआ, उत्सव समाप्त हुआ, अब कृष्ण की पांचाल में ठहरने की और कुछ जरूरत न थी। जैसे और राजा घर गए, वैसे वह भी चल देते। पर कृष्ण ने वैसा नहीं किया। वह बलदेव को साथ ले कर जहाँ भिक्षुक वेषधारी पाण्डव वास करते थे, वहाँ जाकर युधिष्ठिर से मिले।

वहाँ जाकर मिलने की कुछ जरूरत न थी। युधिष्ठिर से उनकी पहले की जान-पहचान भी न थी। महाभारत में ही लिखा है : "वासुदेव ने युधिष्ठिर के

निकट जाकर प्रणाम किया और अपना परिचय दिया।'' बलदेव ने भी यही किया। उन्होंने अपना परिचय दिया, तो समझना होगा कि पहले की जान पहचान, भेंट मुलाकात कुछ न थी। पाण्डवों से कृष्ण की यही पहली भेंट थी। कृष्ण फुफेरे भाई समझकर ही उनसे मिलने गए थे, यह सोचना साधारण लौकिक व्यवहार से ठीक नहीं मालूम होता है। फुफेरा या मौसेरा भाई राजा या बड़ा आदमी हुआ, तो कुछ ऐंठने के लिए लोग उससे मिलते हैं। पर यहाँ वह बात नहीं है। पाण्डव उस समय मामूली भिखारी थे। उनसे मिलकर कृष्ण का कुछ काम निकलना असम्भव था। मिलकर कृष्ण ने कुछ अपना अभीष्ट सिद्ध किया हो, यह भी देखने में नहीं आता। श्री कृष्ण युधिष्ठिर से विनयपूर्वक वार्त्तालाप और मगंल कामना कर लौट आए। और पाण्डवों का ब्याह हो जाने तक अपने शिविर में बने रहे। ब्याह हो जाने पर उन्होंने ''विवाहित पाण्डवों को विचित्र वैदूर्यमणि, सोने के गहने, अनेक देशों के बहुमूल्य कपड़े, सुंदर शय्याएँ, बहुत तरह की गृहस्थी की चीजें, बहुतेरी दास, दासियाँ, सिखाए हुए हाथी, अच्छे घोड़े, अनगिनत रथ, सोने चाँदी के करोड़ों असबाब भेज दिए।'' पाण्डवों के पास यह सब कुछ न था, क्योंकि उस समय उनकी अवस्था बड़ी खराब थी और वह भिखारी थे। इन वस्तुओं की उन्हें उस समय बड़ी जरूरत हुई, क्योंकि वह राजा की कन्या से विवाह कर गृहस्थ हुए थे। इस लिए युधिष्ठिर ने ''कृष्ण के भेजे हुए पदार्थ सानंद ग्रहण किए।'' पर कृष्ण उनसे और न मिलकर अपने घर चले गए। इसके बाद श्री कृष्ण ने पाण्डवों को फिर नहीं ढूंढा। पाण्डव आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगर बनाकर रहने लगे। कृष्ण पाण्डवों से फिर कैसे मिले, यह पीछे कहूँगा।

आश्चर्य का विषय यही है कि जो कृष्ण इस प्रकार निःस्वार्थ काम करते थे, और दुःखी मात्र की भलाई करना जिनके जीवन का व्रत था उन्हीं को विलायत के मूर्ख तथा उनके शिष्य कुकर्मानुरक्त, दुष्टबुद्धि, क्रूर और पापाचारी कहते हैं। ऐतिहासिक तत्त्व की विश्लेषणशक्ति न होने से या उसमें श्रद्धा न रहने से ऐसा होना ही संभव है। मोटी बात यह है कि जो आदर्श मनुष्य हैं, उनकी और-और सवृत्तियों की तरह प्रीति वृत्ति का भी पूर्ण विकास होना संभव है। श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर के साथ जैसा वर्त्ताव किया था, वैसा पहले की पुरानी बंधुता में करना संभव है। युधिष्ठिर कृष्ण के बंधु थे, कृष्ण के साथ अगर उनका पहले से हेल-मेल और जान पहचान होती तो कृष्ण का व्यवहार केवल शिष्टाचार और भलमानसी समझकर मैं चुप हो जाता। अधिक बोलने की जगह फिर न रहती। पर जो खोजकर अपने अपरिचित, दरिद्र और दुर्दशाग्रस्त भाई-बंदों की सहायता करते हैं और अपना

काम हर्ज करते हैं उनकी ही प्रीति आदर्श प्रीति होती है। कृष्ण का यह काम छोटा सा है सही, पर छोटे-मोटे कामों से ही मनुष्य के चरित्र का पता लगता है। दुष्ट बदमाश भी कोशिश करके एकाध अच्छा काम कर सकते हैं, और करते भी हैं। पर जिनके छोटे-छोटे कामों में धर्मात्मता का परिचय मिलता है, वही यथार्थ धर्मात्मा हैं। इसी से मैं महाभारत की आलोचना में[3] कृष्ण के छोटे-बड़े सब कामों की समालोचना करूँगा। हमारा यह दुर्भाग्य है कि हमने इस ढंग से कृष्ण को समझने की कभी कोशिश न की। कृष्ण चरित्र में से "अश्वात्थामा हत इति गजः" केवल सीख लिया है। अर्थात् जो सत्य और ऐतिहासिक है, उसकी कुछ खोज न कर जो मिथ्या और मगगढ़ंत है उसी को वेदवाक्य मान बैठे हैं। "अश्वथामा हत इति गजः" की[4] कथा मिथ्या है। यह द्रोणवध पर्वाध्याय की आलोचना में सिद्ध करूँगा।

इसी पर्व में श्री कृष्ण के बारे में एक बड़ी मजेदार बात लिखी है। और लोग समझते हैं कि वह व्यासजी की कही हुई है। वह मेरे आलोच्य विषय के अंतर्गत न होने पर भी उसकी थोड़ी सी चर्चा कर देना आश्चयक है। द्रुपद के राजा ने कन्या के पाँच पति होंगे सुनकर आपत्ति की। इस पर वेदव्यासजी राजा को समझाने लगे। समझाने के समय व्यासजी ने एक उपाख्यान सुनाया है। वह बड़ा अद्‌भुत है। उसका सारांश यह है कि इंद्र ने एक बार गंगाजल में रोती हुई एक स्त्री देखी। इंद्र ने उससे पूछा : "तू क्यों रोती है?" इस पर उसने कहा "चलो दिखाती हूँ।" इतना कह कर उसने इंद्र को दिखला दिया कि एक युवा एक युवती के साथ चौपड़ खेल रहा है। उन दोनों ने इंद्र का यथोचित सम्मान नहीं किया, इससे इंद्रजी बिगड़ खड़े हुए। वह युवा स्वयं महादेव था। इंद्र को बिगड़ते देख वह भी बिगड़ उठा। उसने इंद्र से एक गढ्ढे में जाने के लिए कहा। इंद्र ने गढ्ढे में जाकर देखा कि वहाँ उसके जैसे चार इंद्र हैं! अंत में महादेव ने पाँचों इंद्रों को बुलाकर कहा : "तुम पृथ्वी पर जाकर मनुष्य हो।" इस पर उन इंद्रोंने ही महादेव से प्रार्थना की : "इंद्रादि पचंदेवता हमें किसी मानवी के गर्भ से उत्पन्न कर दें।"!!! वही पाँचों इंद्र इंद्रादि के औरस से पंच पाण्डव हुए। महादेव ने बिना अपराध उस स्त्री से कहा : "तू जाकर इनकी स्त्री हो जा।" बस वही आकर द्रौपदी हुई, वह क्यों रोई थी। इसकी कुछ बात ही नहीं है। सबसे बढ़कर दिल्लगी तो यह हुई कि नारायण ने यह बात सुनकर अपने सिर के दो बाल उखाड़ कर फेंक दिए। एक कच्चा और एक पका। पके से बलराम और कच्चे से कृष्ण हुए!!!

बुद्धिमान पाठकों से कहना नहीं होगा कि यह उपाख्यान महाभारत की तीसरी तह के अंतर्गत है। अर्थात् मूल महाभारत से इसका कुछ भी संबंध नहीं है। पहले तो इस उपाख्यान का ढ़ंग आजकल के निम्न श्रेणी के उपन्यास लेखकों के उपन्यासों से भी गया बीता है। महाभारत की पहली और दूसरी तहों के प्रतिभाशाली कवि ऐसे उपाख्यान लिखकर महापाप के भागी नहीं हो सकते थे। दूसरे महाभारत के और अंशों के साथ इसका कोई आवश्यक संबंध नहीं है। यह सारा उपाख्यान निकाल देने से महाभारत की कोई कथा गड़बड़ नहीं होती और न उनका कुछ हर्ज ही होता है। द्रुपद राजा की आपत्ति के खण्डन के लिए भी इसकी कुछ जरूरत नहीं, क्योंकि वह आपत्ति व्यासजी के कहे हुए एक दूसरे उपाख्यान से आप ही खण्डित हो जाती है। दूसरा उपाख्यान इसी अध्याय में है। वह संक्षित और सरल है। वह शायद असली महाभारत का हिस्सा हो भी सकता है। पहला उपाख्यान इसका विरोधी है। दोनों में द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा दो प्रकार से है। इससे एक निस्सन्देह क्षेपक है। ऊपर जो कह आया हूँ उससे पहला उपाख्यान ही क्षेपक मालूम होता है। तीसरे, यह पहला उपाख्यान महाभारत के और अंशों का विरोधी है। महाभारत में सब जगह लिखा है कि इन्द्र एक ही है। यहाँ इंद्र पाँच हो जाते हैं। महाभारत में सर्वत्र लिखा है कि पाण्डव धर्म, वायु, इंद्र, अश्विनीकुमारों के औरस पुत्र हैं। पर यहाँ सब एक इंद्र के हैं, इसी विरोध को मिटाने के लिए लाल बुझक्कड़जी ने फरमाया है कि इंद्रों ने महादेव से प्रार्थना की कि इंद्रादि ही हमे मानवी के गर्भ से उत्पन्न कर दें। यह निश्चित है कि जगत्प्रसिद्ध महाभारत ऐसे गदहों की लेखनी से नहीं निकला है।

इस अश्रद्धेय उपाख्यान को यहाँ देकर मुझे यही दिखलाना था कि मैं किस रीति से महाभारत की तीनों तहों का विभाग करता हूँ और करूँगा, यह उदाहरण देकर समझा दूँ। इसके सिवा एक ऐतिहासिक तत्त्व भी इससे स्पष्ट हो जाता है। वेदों में जो विष्णु, सूर्य की केवल मूर्त्ति विशेष है और जो पुराण-इतिहासों में सर्वव्यापक ईश्वर है, वह पीछे के अभागे लेखकों के हाथ में पड़कर किस तरह दाढ़ी मूछों और कच्चे पके बालों वाला हो गया, यह इन प्रक्षिप्त उपाख्यानों से प्रगट हो जाता है। इन्हीं प्रक्षिप्त उपाख्यानों में हिंदू धर्म की अवनति का इतिहास मिलता है। इससे यहाँ उसका उल्लेख किया है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी कृष्णद्वेषी शैव ने यह उपाख्यान रचकर महाभारत में मिला दिया हो, क्योंकि यहाँ महादेव ही सर्व नियन्ता हैं और कृष्ण नारायण के एक बाल भर हैं। महाभारत की आलोचना में कृष्णभक्त और शैवों के ऐसे बहुतेरे झगड़े मिलते हैं। ये सब

प्रक्षिप्त हैं। प्रक्षिप्त होने के कारण भी मिल जाते हैं। यदि यह बात ठीक हो, तो मानना होगा कि असली महाभारत बनने के बहुत दिनों बाद यह झगड़ा खड़ा हुआ। अर्थात् जब शिवोपासना और कृष्णोपासना की प्रबलता हुई तब झगड़े भी बहुत हुए। महाभारत बनने के समय या उसके बाद इन दोनों की उपासनाओं का जोर नहीं था। उस समय वैदिक देवताओं की प्रबलता थी। दोनों जितना प्रबल होते गए, उतना ही महाभारत का कलेवर भी बढ़ता गया। दोनों पक्षवाले महाभारत की दुहाई दे-देकर अपने-अपने देवता को बड़ा बनाने लगे। शैवगण शिव को महाभारत में मिलाने लगे,[5] तो वैष्णव भी विष्णु या कृष्ण को ही उसमें खूब घुसेड़ने लगे। अनुशासनपर्व में इसके कई अच्छे उदाहरण मिलते हैं। इच्छा हो तो पाठक पढ़कर देख लें। प्रायः सबमें गदहेपन की जरा-जरासी बू है।

III : सुभद्राहरण

द्रौपदी के स्वयंवर के अनंतर कृष्ण के दर्शन सुभद्राहरण के समय मिलते हैं। श्री कृष्ण ने सुभद्रा के ब्याह में जो किया था, वह उन्नीसवीं शताब्दी के नीतिज्ञ उतना पसंद नहीं करेंगे। परंतु उन्नसवीं शताब्दी के नीतिशास्त्र के ऊपर परमात्मा का नीति शास्त्र है। वह सब शताब्दियों में और सब देशों में चलता है। कृष्ण ने जो किया, उसकी जाँच उसी चिरस्थायी, अभ्रांत जगत् की नीति से करनी चाहिए और मैं उसी से करूँगा। यहाँ के बहुत से लोंगों ने 'अकबरी गज' से[6] लाखिराज जमीन पाई थी। जमींदारों ने आजकल के छोटे सरकारी गज से नाप कर उनकी बहुत सी जमीन छीन ली है। उसी तरह उन्नीसवीं सदी का गज भी छोटा हो गया है। मैं यह कई बार कह चुका हूँ कि इस छोटे गज के मारे हम अपनी ऐतिहासिक और पैतृक संपत्तियां खो रहे हैं। मैं फिर वहीं अकबरी गज चलाऊँगा।

कृष्ण भक्त कह सकते हैं कि पहले यह स्थिर हो जाना चाहिए कि यह सुभद्राहरण मूल महाभारत में है या क्षेपक है। यदि क्षेपक हो तो फिर वागाडंबर की आवश्यकता नहीं। इसलिए मुझे कहना पड़ता है कि सुभद्रहरण मूल महाभारत में है और पहली तह के अंतर्गत है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। इसकी चर्चा अनुक्रमणिकाध्याय और पर्वसंग्रहाध्याय में है। इसकी रचना उच्चश्रेणी के कवियों की सी है। दूसरी तहकी रचना भी साधारणतः बड़ी सुंदर है। पर पहली और दूसरी तहों की रचना में बस यही भेद है कि पहली की रचना सरल और स्वाभाविक और दूसरी की आलंकारिक और अत्युक्ति से परिपूर्ण है। सुभद्राहरण की रचना भी सरल और स्वाभाविक है, उसमें अलंकार और अत्युक्ति की उतनी भरमार

नहीं है। इसलिए यह पहली तह की रचना है, दूसरी की नहीं। और असल बात तो यह है कि सुभद्राहरण महाभारत से निकाल देने पर महाभारत अधूरा हो जाता है। सुभद्रा का अभिमन्यु, अभिमन्यु का परीक्षित, और परीक्षित का जनमेजय हुआ। सुभद्रा और अर्जुन के वंशधर ही अनेक दिनों तक भारत के सम्राट् हुए–द्रौपदी के नहीं। द्रौपदी का स्वयंवर छोड़ा जा सकता है, पर सुभद्रा नहीं छोड़ी जा सकती।

साहबों ने द्रौपदी की तरह सुभद्रा को भी उड़ा दिया है। लासेन साहब फरमाते हैं : यादवों का सम्प्रीति रूप जो मंगल है, वही सुभद्रा है। वेबर साहब की आपत्ति इससे बढ़ी-चढ़ी है। वह कृष्ण की बहन सुभद्रा का अस्तित्व क्यों स्वीकार नहीं करते हैं, यह बताने के लिए यजुर्वेद की माध्यदिंनी शाखा के 23वें अध्याय की 18वीं खण्डिका का चौथा मंत्र यहाँ देता हूँ :

हे अंबे! हे अंबिके! हे अंबालिके! देखो, यह अश्व अभी सदैव के लिए सो गया, मैं काम्पिलवासिनी सुभद्रा होकर भी स्वयं इसके समीप (पति बनाने के हतु) आयी हूँ। इस विषय में किसी ने मुझ से नियोग नहीं किया है[7]। इससे वेबर साहव सिद्धांत निकालते हैं कि "Kampila is a town in the Country of the Panchalas, Subhadra, therefore, would seem to be the wife of the King of that district" &.[8] सायणाचार्य कांपिलवासिनी का अर्थ करते हैं "कांपिल शव्देन श्लाध्यो वस्त्र विशेष उच्येते।" पर वेबर साहब सायणाचार्य से अधिक संस्कृत जानने का दावा करते हैं, इसलिए वह उनकी टीका नहीं मानते। नहीं मानते हैं, तो न मानें, पर यह समझ में नहीं आया कि कांपिलवासिनी किसी स्त्री का नाम सुभद्रा था, इसलिए कृष्ण की बहन का नाम सुभद्रा क्यों नहीं हो सकेगा। चाहे जो राजा अश्वमेघ यज्ञ करे, यह मंत्र उसकी रानी को दुहराना ही पड़ेगा, उसे कहना ही होगा कि "मैं कांपिलवासिनी सुभद्रा हूँ।" सामाश्रमी महाशयने सुभद्रा शब्द का अर्थ कल्याणी अर्थात् सौभाग्यवती किया है। महीधर कहते हैं, कंपिल नगर की स्त्रियाँ बड़ी सुंदर और रूपवती होती हैं। इससे इस मंत्र का अर्थ यह है कि "मैं सौभागयवती और सुंदर रूपवती होकर भी इस घोड़े के निकट आयी हूँ।" इसलिए यह समझ में नहीं आता है कि इस मंत्र के सहारे कृष्ण की बहन और अर्जुन की पत्नी सुभद्रा के बदले क्यों पांचाल की एक सुभद्रा की कल्पना करनी पड़ेगी। युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ किया था और उसके बहुत पहले के राजाओं ने भी किया था। महाभारत आदि ग्रंथों में यह बात मिलती है। इससे अश्वमेध यज्ञ के इस मंत्र का कृष्ण और पाण्डवों से पुराना होना ही संभव है। आधुनिक लेखकों के काव्य ग्रंथों से लेकर लोग अपने-अपने पुत्र और कन्याओं

के नाम जैसे प्रमीला, मृणालिनी आदि[9] आजकल रखते हैं, वैसे ही उस समय के लोगों का भी वेदों से अपनी संतानों का नामकरण करना असंभव नहीं है।

इसी मंत्र से लेकर काशीराज ने अपनी तीनों कन्याओं के नाम अंबा, अंबिका और अंबालिका रखे थे। इसी तरह कृष्ण की बहन का भी नाम सुभद्रा रखा गया होगा। इस मंत्र से कृष्ण की बहन सुभद्रा के न होने का अनुमान नहीं होता है। इसलिए अब सुभद्रा-हरण के बारे में लिखता हूँ।

सुभद्रा-हरण नैतिक विचार में प्रवृत्त होने के पहले पाठकों से विनय है कि उन्होंने काशीराम दास की पोथी में इस बारे में जो कुछ पढ़ा है या कथक्कड़ों से या दादी नानी से जो कुछ सुना है, उसे वह कृपा कर भूल जाएँ। अर्जुन को देखकर सुभद्रा का कामवश हो उन्मत्त हो जाना, सत्याभामा का दूती बनना, अर्जुन का सुभद्रा को ले भागना और यादवों से घोर संग्राम करना, सुभद्रा का सारथी हो गगनपथ से रथ चलाना आदि आप भूल जाइए। ये सब बातें मन को मोहनेवाली जरूर हैं, पर मूल महाभारत में नहीं हैं। यह काशीराम दास के दिमाग से निकली हैं या उनके पहले के कथक्कड़ों ने निकाली हैं, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। संस्कृत महाभारत में जो लिखा है, इसका सारांश यों है : द्रौपदी के ब्याह के बाद पाण्डव सुख से इन्द्रपस्थ में राज्य करते थे। किसी कारण से अर्जुन ने बारह वर्ष के लिए इन्द्रप्रस्थ परित्याग कर देश-विदेश में भ्रमण किया। तमाम घूमकर वह द्वारका पहुँचा। यादवों ने उसका बड़ा आदर सत्कार किया। वह कुछ दिन वहीं रह गया। यादवों ने रैवतक पर्वत पर एक बार बड़ा भारी मेला लगाया। उसमें यदुकुल के पुरुष और स्त्रियाँ सब ही इकट्ठी हो आनंद करती थीं। और स्त्रियों के साथ सुभद्रा भी वहाँ गई थी। वह कंवारी बालिका थी। अर्जुन उसे देखते ही मुग्ध हो गया। कृष्ण ने यह भेद जानकर अर्जुन से कहा : ''मित्र, वनचर होकर भी कामशर से चंचल हो गए?'' अर्जुन ने अपराध स्वीकार करके सुभद्रा के पाने का परामर्श कृष्ण से पूछा। कृष्ण ने यह परामर्श दिया :

हे अर्जुन! क्षत्रियों के लिए स्वयंवर ही उचित है, पर स्त्रियों की प्रवृत्ति के बारे में कुछ नहीं कहा जाता, इसलिए इसमें मुझे संदेह है। और धर्मशास्त्रकार भी कहते हैं कि महावीर क्षत्रियों के लिए विवाहार्थ बलपूर्वक कन्या हरण करना भी प्रशंसनीय कार्य है। इसलिए स्वयंवर का समय आने पर तुम मेरी बहन को बलपुर्वक हरण कर ले जाना। क्योंकि स्वयंवर के समय वह किसके ऊपर अनुरक्त होगी, यह कौन कह सकता है?''

इस परामर्श के अनुसार अर्जुन ने पहले तो युधिष्ठिर और कुंती से दूत भेजकर अनुमति माँगी। उन्होंने अनुमति दे दी। एक रोज सुभद्रा रैवतक पर्वतकी प्रदक्षिणा करके जब द्वारका लौट रही थी, तब अर्जुन उसे जबरदस्ती रथ पर बिठाकर चल दिया। आजकल अगर कोई किसी की बेटी को विवाह करने के वास्ते जबरदस्ती उठा ले जाए तो समाज में उसकी निंदा हो और वह राजदण्ड के योग्य हो जाए, इसमें संदेह नहीं। और आजकल कोई किसी से कहे : "महाशय! आपकी इच्छा जब मेरी बहन से ब्याह करने की हुई है, तो मेरी राय है कि आप उसे जबरदस्ती उठा ले जाइए," तो वह भी निस्संदेह समाज में निंदित समझा जाएगा। इसलिए प्रचलित नीतिशास्त्र के अनुसार (इस नीति-शात्र को मैं कुछ दोष नहीं देता) कृष्ण और अर्जुन दोनों ने बड़ी निंदा का काम किया था। लोगों की आँखों में धूल डालकर कृष्ण को बढ़ाना मेरा उद्देश्य होता तो मैं सुभद्राहरण-पर्वाध्याय को क्षेपक कहकर या बातें बनाकर छोड़ देता। पर वह सब करना मैं नहीं चाहता। सत्य के सिवा मिथ्या प्रशंसा से किसी की महिमा नहीं बढ़ सकती है और इससे धर्म की अवनति के अतिरिक्त उन्नति नहीं होती है।

यह बात जरा अच्छी तरह समझ लेनी होगी। कोई किसी की लड़की छीनकर ब्याह कर ले तो दोष क्यों होता है? इसके तीन कारण हैं। पहले तो छीनी हुई लड़की पर अत्याचार होता है। दूसरे, लड़की के माँ-बाप और भाई-बंदों पर अत्याचार होता है। तीसरे, समाज पर अत्याचार होता है। समाज रक्षा का मूलमंत्र यही है कि कोई किसी पर बेकानूनी जुल्म जबरदस्ती न कर सके। जुल्म जबरदस्ती करने से समाज की स्थिति पर धक्का लगता है। विवाहार्थ कन्याहरण को निंदनीय कार्य समझने के यही तीन बड़े कारण हैं। इसके सिवा और कोई चौथा कारण नहीं है।

अब यह देखना है कि कृष्ण के इस कार्य से इन तीनों में किसे कितना अत्याचार सहना पड़ा। पहले, हरण की हुई कन्या को ही लीजिए। कृष्ण उसके बड़े भाई और कुल में श्रेष्ठ थे। सुभद्रा का जिसमें सब तरह भला हो, यही सोचना उनका कर्त्तव्य था, यही उनका धर्म था और उन्नीसवीं शताब्दी की भाषा में यही उनकी ड्यूटी थी। स्त्रियों का भला अच्छा वर पाने में ही है। इसलिए कृष्ण की बड़ी ड्यूटी सुभद्रा को सत्पात्र के हाथ सौंपना था। महाभारत पढ़ने वालों को यह नहीं बताना होगा कि कृष्ण के परिचितों में अर्जुन-सा सत्पात्र और कोई नहीं था। इसलिए अर्जुन के साथ सुभद्रा का ब्याह कर देना ही कृष्ण का कर्त्तव्य था। कृष्ण की जो उक्ति ऊपर दी गई है, उसमें उन्होंने दिखाया है कि बलपूर्वक हरण

के सिवा और ढंग से यह काम हो सकता था या नहीं, इसमें संदेह था। जिस काम का फल चिर-जीवन के लिए मंगल हो, उसमें संदेह हो तो उसे न करना चाहिए। जिससे शुभ फल की सिद्धि निश्चित हो, वही करना चाहिए। इसलिए कृष्ण ने सुभद्रा के चिर-जीवन के लिए परम मंगल कार्य स्थिर कर परम धर्म का ही काम किया था। उस पर कुछ अत्याचार नहीं किया।

इस बात पर दो आपत्तियाँ हो सकती हैं। पहली तो यह कि जो काम मुझे पसंद नहीं है, वह मेरे हित का होने पर भी, मुझसे जबरदस्ती कराने का अधिकार किसी को नहीं है। यजमान अपना सर्वस्व ब्राह्मण को दान कर दे, तो उसका बड़ा कल्याण होगा, यह सोचकर पुरोहितजी यजमान से जबरदस्ती मारपीट कर दान नहीं करा सकते और न ऐसा कराने का उन्हें अधिकार ही है। शुभ उद्देश्य साधने के लिए निंदनीय उपाय का सहारा लेना भी निंदनीय है। उन्नीसवीं सदी की भाषा में इसका उलूथा है– "The end does not sanctify the means"

इसके दो जवाब हैं। पहला तो यह है कि इस बात का पता नहीं है कि सुभद्रा अर्जुन से ब्याह करना नहीं चाहती थी या उससे अप्रसन्न थी। इच्छा, अनिच्छा किसी का भी पता नहीं लगता है। पता लगने की संभावना भी बहुत थोड़ी है। हिंदुओं की कन्याएँ अपनी इच्छा या अनिच्छा जल्दी प्रगट नहीं करती हैं। सच तो यों है कि पुरुष विशेष पर उनकी इच्छा, अनिष्छा होती ही नहीं है। हाँ, स्यानी लड़की घर में कंवारी रखी जाए तो हो भी सकती है। अच्छा, किसी काम पर मेरी इच्छा अनिच्छा कुछ भी नहीं है। पर उससे बड़े लाभ की संभावना हो और विशेष रुचि न होने के कारण या लज्जा के वश या दोनों कारणों से वह काम मैं न करता होऊँ और कोई जबरदस्ती वह काम मुझसे करा दे, तो क्या उसका जबरदस्ती करना अधर्म समझा जाएगा? मान लो, किसी बड़े आदमी के लड़के पर विपत्ति आई है। वह दाने-दाने को मुहताज हो रहा है। नौकरी करने से उसकी रोटी का ठिकाना हो सकता है, पर वह शर्म के मारे नौकरी करना नहीं चाहता है। कोई उसे दबा कर नौकर रखा दे तो वह उज्र भी नहीं करता है, वरंच उसके परिवार का पालन होता है। ऐसी हालत में कोई डरा धमका कर और जुल्म जबरदस्ती करके उसे नौकर रखवा दे, तो क्या यह अत्याचार या अधर्म होगा? कदापि नहीं। सुभद्रा की भी अवस्था ठीक ऐसी थी। हिंदुओं की कुमारी कन्याएँ समझाने-बुझाने से कभी पति के साथ सुसराल जाने को तैयार नहीं होंगी। लाचार उन्हे पकड़कर ले चलने के सिवा उनके मंगल साधन का और उपाय नहीं है।

"जो काम मुझे पसंद नहीं है, वह मेरे हित का होने पर भी, मुझसे जबरदस्ती कराने का अधिकार किसी को नहीं है।" मैं कह चुका हूँ कि इस आपत्ति के दो जवाब हैं। पहला जवाब तो हो चुका है। इसमें मैंने आपत्ति स्वीकार करके उत्तर दिया है। अब दूसरा जवाब सुनिए। वह यह है कि यह बात सब समय ठीक नहीं है। जिस काम से मेरा परम हित है, उसके करने की मेरी इच्छा बिल्कुल नहीं है, तो क्या मुझसे उसके जबरदस्ती करा लेने का अधिकार किसी को नहीं है? है, पर सब जगह नहीं। रोगी के प्राण जाते हैं और वह दवा नहीं खाता है, क्योंकि रोगियों का ऐसा करना स्वाभाविक है, तो क्या उसे बलपूर्वक दवा खिलाने का अधिकार वैद्य या उसके घरवालों को नहीं है? अवश्य है। रोगी अपने जहरीले फोड़े में चीरा लगाना नहीं चाहता है, पर डाक्टर को जोर से उसके चीरने का पूरा अधिकार है। लड़के पढ़ना नहीं चाहते हैं, पर उनके माँ-बाप तथा शिक्षकादि बलपूर्वक उन्हें पढ़ाने का अधिकार है। इस ब्याह को ही लीजिए। नाबालिग लड़के या लड़कियाँ यदि अनुचित ब्याह करने को तैयार हो जाएँ, तो क्या उनके माता-पिता को उन्हें रोकने का अधिकार नहीं है? आज भी यूरोप की सभ्य जातियों में कन्या को जबरदस्ती सत्पात्र के हाथ देने की चाल है। यदि किसी हिंदू की पंद्रह वर्ष की कन्या किसी अच्छे वर से ब्याह करने में उज्र करे, तो क्या उसके माँ-बाप उस समय जबरदस्ती करने में आगा-पीछा करेंगे? कभी नहीं। जबरदस्ती अपनी कन्या सत्पात्र को देने में क्या उनकी निंदा होगी? यदि नहीं, तो सुभद्रा-हरण में कृष्ण की अनुमति निंदनीय क्यों है?

पहली आपत्ति के दोनों उत्तर हो चुके। अब दूसरी आपत्ति की ओर झुकता हूँ। दूसरी आपत्ति यह है : अच्छा, मान लिया जाए कि कृष्ण ने सुभद्रा की भलाई समझकर ही हरण करने का परामर्श दिया था, पर क्या बलपूर्वक हरण के सिवा और किसी तरह उसका ब्याह अर्जुन से नहीं हो सकता था? स्वयंवर में शायद यह डर था कि वह नादान लड़की सुंदर मुख देखकर भूल जाती और किसी कुपात्र को वरमाला पहना देती। पर क्या कोई दूसरा उपाय नहीं था? कृष्ण या अर्जुन वसुदेव आदि के निकट बात चलाकर संबंध पक्का करा लेते और फिर सारा काम मजे में हो जाता। सब यादव कृष्ण के वश में थे। कोई उनकी बात न उठाता। और अर्जुन भी सुपात्र था। कोई चूँ तक न करता। फिर ऐसा क्यों नहीं हुआ? आजकल का समय होता तो यह काम सहज में हो जाता। पर सुभद्रा अर्जुन का ब्याह चार हजार वर्ष पहले हुआ था। उस समय की विवाह प्रणाली आजकल

की सी नहीं थी। वह प्रणाली समझे बिना हम कृष्ण की आदर्श बुद्धि और आदर्श प्रीति भली भाँति नहीं समझ सकेंगे।

मनु ने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस, और पैशाच यह आठ प्रकार के विवाह लिखे हैं। पाठक, विवाहों का यह क्रम स्मरण रखिएगा। इन आठ प्रकार के विवाहों का अधिकार सब वर्णों को नहीं है। अब देखना चाहिए कि क्षत्रियों को किन-किन विवाहों का अधिकार है। मनु के तीसरे अध्याय के 23वें श्लोक में लिखा है :

षड़ानुपूवर्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरो वरान्।

कल्लुकभट्टने इसकी टीका में लिखा है :

क्षत्रियस्य अवरानुपरितनाना सुरादी श्चतुरः।

बस इससे क्षत्रियों के लिए केवल आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच यही चार प्रकार के विवाह वैध और अवैध सिद्ध हुए। परन्तु 25वें श्लोक में यह है :

पैशाचश्चामुरश्चैव न कर्त्तव्यी कदाचन।

पैशाच और आसुर विवाह सबके लिए निषिद्ध हैं। इसलिए क्षत्रियों के लिए केवल गांधर्व और राक्षस विवाह ही विहित हैं। वर और कन्या के परस्पर अनुराग से जो विवाह होता है, उसका नाम गांधर्व विवाह है। यहाँ सुभद्रा के अनुराग का अभाव था इस कारण गांधर्व विवाह असंभव था और फिर यह विवाह 'काम संभव' था, इससे परम नीतिज्ञ कृष्णार्जुन इसे कभी पसंद नहीं कर सकते थे। अतःएव राक्षस विवाह के अतिरिक्त और कोई विवाह शास्त्रविहित नहीं था और न क्षत्रियों के लिए प्रशस्त ही था। बलपूर्वक कन्या को हरण करके विवाह करने का नाम राक्षस विवाह है। वास्तव में क्षत्रियों के लिए यह राक्षस विवाह ही शास्त्रनुसार प्रशस्त है। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय का 24वाँ श्लोक है :

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरा वैष्यशूद्रयोः।।

श्री कृष्ण को भी उसी विवाह के लिए परामर्श देना पड़ा, जो धर्म विहित तथा प्रशस्त था और जिससे बहन, बहनोई और कुल का गौरव बढ़ता था। इसलिए कृष्ण ने अर्जुन को जो परामर्श दिया, उससे उनकी शास्त्रज्ञता, नीतिज्ञता, अभ्रांत बुद्धि झलकती है। और साथ ही यह भी प्रगट होता है कि उन्हें दोनों ओर की मान, रक्षा तथा भलाई का ख्याल था।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ मनु की दुहाई देने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि

महाभारत युद्ध के समय मनुसंहिता थी, इसका क्या प्रमाण है? कहना ठीक है। उस समय मनुसंहिता संगृहीत हुई थी या नहीं, इस पर वाद विवाद हो सकता है। पण्डितों का मत है कि पहले की रीतिनीति का संग्रह ही मनुसंहिता है। यदि ऐसा हो, तो यही सोचा जा सकता है कि युधिष्ठिर के राज्य के समय में ऐसे ही ब्याह की चाल थी। यदि न हो तो महाभारत इस बारे में क्या कहता है, वह देखना चाहिए। बहुत ढूढ़ना नहीं पड़ेगा। पाठकों के आगे जो उत्तर मैं देता हूं, वह स्वयं कृष्ण ने बलदेव को दिया था। अर्जुन सुभद्रा को ले गया, यह सुनकर यादव सब क्रुद्ध हो युद्ध की तैयारी करने लगे। बलदेव बोले, तैयारी पीछे करना पहले कृष्ण से तो पूछो, उसकी क्या राय है—वह चुपचाप है, कुछ बोलता नहीं है। फिर कृष्ण से कहा कि तेरे अर्जुन ने तो आज हमारी नाक काट ली। अब क्या करना चाहिए यह तो कह। इस पर श्री कृष्ण ने उत्तर दिया :

अर्जुन ने हमारी नाक नहीं काटी, बल्कि हमारे गौरव की रक्षा की है। वह तुम सबको धन का लोभी नहीं समझता है। इससे उसने धन देकर सुभद्रा को लेने का प्रयत्न नहीं किया। स्वयंवर में कन्या का पाना बड़ा ही कठिन है। इससे स्वयंवर के लिए सम्मत नहीं हुआ। तेजस्वी क्षत्रियों के लिए कन्या माँग कर ब्याह करना प्रशंसा का काम नहीं है। इसलिए मैं समझता हूँ कि कुंतीपुत्र धनंजय ने सब बातें भली भाँति सोचकर सुभद्रा का हरण किया है। यह संबंध हमारे कुल के उपयुक्त ही है, कुल, शील, विद्या और बुद्धि से संपन्न पार्थ ने सुभद्रा को बलपूर्वक हरण किया है। इससे वह भी निस्संदेह यश का भाजन होगी।

यहाँ श्री कृष्ण ने क्षत्रियों के चार प्रकार के विवाह की बात कही है :

(1) अर्थ (धन) देकर जो ब्याह होता है (आसुर)।

(2) स्वयंवर।

(3) पिता माता की दी हुई कन्या से ब्याह (प्राज्ञापत्य)

(4) बलपूर्वक हरण (राक्षस)

इनमें पहले से कन्या के माता-पिता की बदनामी होती है। दूसरे का फल निश्चित नहीं। तीसरी से वर की बदनामी होती है। इसलिए चौथा ही विहित विवाह है। यह कृष्ण के कथन से ही सिद्ध होता है।

मैं समझता हूँ ऐसा मुर्ख कोई नहीं होगा जो मुझे राक्षस विवाह का पक्षपाती समझ लेगा। राक्षस विवाह बड़ा निंदनीय है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। उस समय के क्षत्रिय इसे अच्छा समझते थे, इसके उत्तरदाता श्री कृष्ण नहीं हैं।

हममें से कितनों का ही कहना है कि 'रिफार्मर' (सुधारक) ही आदर्श मनुष्य हैं। और यदि कृष्ण आदर्श मनुष्य थे तो उन्हें मालाबारी की[10] तरह ही रिफार्मर होना उचित था उन्हें यह कुरीति बढ़ाने के बदले रोकना उचित था। पर मैं मालाबारी का ढंग आदर्श मनुष्य के योग्य नहीं मानता हूँ, इसलिए इसका उत्तर देना अनावश्यक है[11]।

मैं कह चुका हूँ कि कन्या पर, कन्या के बाप-दादों पर और समाज पर अत्याचार होने के कारण ही बलपूर्वक कन्या का हरण करके ब्याह करना निंदनीय है। और यह मैं दिखा चुका हूँ कि कन्या पर कोई अत्याचार नहीं हुआ बल्कि उसका हित साधन ही हुआ है। अब यह देखना चाहिए कि उसके पिता के कुल पर अत्याचार हुआ या नहीं। अब और स्थान नहीं है, इससे संक्षेप में ही कहता हूँ। जो कुछ कह चुका हूँ, उसी में सब बातें आ गई हैं। कन्या के हरण में कन्या के पितृकुल पर दो कारणों से अत्याचार होता है। एक तो अपात्र या अनिच्छित पात्र के हाथों में कन्या के पड़ जाने से। सो यहाँ वैसा नहीं हुआ। अर्जुन न अपात्र था और न अनिच्छित ही था। दूसरे, उनका अपना अपमान होने से। सो यह भी कह चुका हूँ कि इससे यादवों का कुछ अपमान नहीं हुआ। और न इसका कोई कारण ही था। यह बात स्वयं यादवश्रेष्ठ श्री कृष्ण ने ही कही है और उनकी बात न्यायसंगत मानकर यादवों ने बड़ी धूमधाम से सुभद्रा का ब्याह कर दिया। इस वास्ते अब यह कहना वृथा है कि यादवों पर अत्याचार हुआ।

अब समाज पर क्या अत्याचार हुआ, इसका विचार कीजिए। समाज जिस बल को अनुचित बल समझती है, वह बल समाज के किसी व्यक्ति पर प्रयोग किया जाए, तो समाज पर अत्याचार होना कहते हैं। पर जब उस समय की समाज में क्षत्रियों का ऐसा बल प्रयोग विहित और प्रशस्त समझा जाता था, तब यह कहने का किसी को अधिकार नहीं है कि समाज पर अत्याचार हुआ। जो काम समाज सम्मत है उससे उस पर अत्याचार नहीं होता है।

यह विषय इतना विस्तारपूर्वक क्यों लिखा गया, इसका कारण है। कृष्ण के द्वेषियों ने कृष्ण को सुभद्राहरण के लिए कभी गालियाँ नहीं दी हैं। इसलिए कृष्ण का पक्ष समर्थन करने की आवश्यकता नहीं थी। मेरे कहने का मतलब यह है कि विलायत वालों से हम लोगों ने जो छोटा गज माँग लिया है, उससे नापने से हमारे पुरुखों की लासानी जायदाद का ज्यादा हिस्सा जब्त हो जाएगा।[12]

IV : खाण्डवदाह

सुभद्राहरण के बाद श्री कृष्ण के दर्शन खाण्डव दाह के समय मिलते हैं। पाण्डव खाण्डवप्रस्थ में रहते थे। उनकी राजधानी के निकट खाण्डव नाम का एक बड़ा जगंल था। कृष्ण और अर्जुन ने उसे जलाया था।

उसकी कहानी यों है, यद्यपि यह निरी मन गढ़ंत-सी है : प्राचीन समय में श्वेतकी नाम का एक राजा था। वह बड़ा याज्ञिक था। सदा यज्ञ किया करता था। उसके मारे ऋत्विक ब्राह्मण हैरान थे। उन्होंने हार कर जवाब दे दिया। राजा के बहुत तंग करने पर वे बोले : "यह काम हमसे न हो सकेगा, तुम रुद्र के पास जाओ।" राजा रुद्र के पास गया। रुद्र ने कहा : "हम यज्ञ नहीं करते हैं, यह ब्राह्मणों का काम है। दुर्वासा ब्राह्मण है, वह हमारा ही अंश है, हम उससे कहे देते हैं।" रुद्र के अनुरोध से दुर्वासा ने राजा का यज्ञ किया। बड़ा भारी यज्ञ हुआ। बारह वर्ष तक लगातार घी की धारा बहती रही। घी खाते-खाते अग्नि को अजीर्ण हो गया। यह ब्रह्मा के पास जाकर बोला : "बूढ़े बाबा, बड़ी मुश्किल है, खाते-खाते अजीर्ण हो गया, अब क्या करूँ?" ब्रह्मा ने जो उपाय बताया, वह (समं साम्येन शम्यते) ही था। वह बोले : "अच्छा, खाते-खाते अजीर्ण हो गया है, तो और भी खाओं। खाण्डव वन खा जाओ, बस चंगे हो जाओगे।" अग्निदेव सुनते ही खाण्डव वन पहुँचे। वह चारों ओर से जलने लगा। उस वन में बहुत से जीवजंतु रहते थे। वह वन में आग लगते देखकर बुताने लगे। हाथियों ने सूंड़ों से, सापों ने फनों से और पक्षियों ने चोंचों से जल ला- लाकर छिड़कना शुरू किया। बस आग ठंडी पड़ गई। इस तरह सात बार अग्निदेव ने चेष्टा की, पर सातों वार उन्हें नीचा देखना पड़ा। फिर वह ब्राह्मण बनकर कृष्ण, अर्जुन के पास जाकर बोले : "महाराज, मैं बड़ा भकोसू हूँ। क्या आप मुझे भर पेट खिला सकते हैं?" उन्होंने कहा : "हाँ।" तब अग्निदेव ने प्रगट होकर कहा : "मैं खाण्डव वन खाऊँगा। मैं खाने गया था पर इंद्र के मारे न खा सका। वह आकर जल बरसाता है, बस मैं लाचार हो जाता हूँ।" इस पर कृष्ण और अर्जुन अस्त्र ले खाण्डव वन जलाने के लिए गए। इन्द्र आकर जल बरसाने लगा, पर अर्जुन की वाणवृष्टि के आगे इंद्र की कुछ न चली। बाणवृष्टि से जलवृष्टि कैसे बंद हो गई, यह हम कलकत्तावासियों की समझ में नहीं आया। अगर आ जाता, तो अतिवृष्टि से फसल को बचाने का उपाय किया जाता। खैर, इंद्र विगड़कर युद्ध करने लगा। सब देवताओं ने अस्त्र-शस्त्र ले सहायता की। पर अर्जुन किसी तरह हटने वाला न था। इंद्र ने पहाड़ फेंककर मारा, तो अर्जुन

ने अपने वाणों से उसे तोड़-फोड़कर गिरा दिया। (अगर यह विद्या आजकल मालूम होती तो पहाड़ों में रेल की लाइन बनाने में बड़ी सुविधा होती)। अंत में इंद्र ने बज्र चलाना चाहा, तो देववाणी हुई कि कृष्णार्जुन नरनारायण प्राचीन ऋषि हैं।[13]

देववाणी से बड़ा सुभीता है—बोलने वाले का पता नहीं, पर मतलब की बातें सुनायी पड़ जाती हैं। देववाणी सुनते ही देवता सब चल दिए। कृष्ण और अर्जुन बेखटके जंगल जलाने लगे। आग के डर से जो पशु, पक्षी भागते उन्हें वह मार गिराते थे। उनका मेद-माँस खाने से अग्नि देव की मंदाग्नि छूट गई, अर्थात् विष से विष उतर गया। अग्नि देव ने उन दोनों को वर दिया। हारकर भागे हुए देवताओं ने भी आकर वर दिया। सब लोग प्रसन्न होकर अपने-अपने घर गए।

इस प्रकार की मनगढ़ंत कहानियों के भरोसे इतिहास की समालोचना करने से हँसी कराने के सिवा और कोई लाभ नहीं। मेरी समालोचना के विषय, अर्थात् कृष्ण चरित्र की भालाई-बुराई भी इनमें कुछ नहीं है। यदि इसका कुछ ऐतिहासिक अभिप्राय हो तो वह बस इतना ही है कि पाण्डवों की राजधानी के समीप एक वन था। उसमें बहुत से डरावने जानवर रहते थे। कृष्ण और अर्जुन ने जीव-जंतुओं को मार कर तथा जंगल को जलाकर साफ कर दिया थ। अगर ऐसा हुआ हो तो इसमें ऐतिहासिक कीर्त्ति या अकीर्त्ति कुछ भी नहीं है। सुंदर वन को साफ करने वाले नित्य ही ऐसी लीला करते रहते हैं।

मैं मानता हूँ कि यह व्याख्या शेखचिल्ली के ढंग की हुई। पर ऐसा करने को मैं लाचार था। खाण्डवदाह की कथा अधिकतर तीसरी तह की हो सकती है। पर स्थूल घटना का कुछ उल्लेख असली महाभारत में नहीं है, यह कहने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। पर्वसंग्रहाध्याय और अनुक्रमणिकाध्याय में इसकी चर्चा है। इस खाण्डवदाह से सभापर्व की उत्पत्ति है। इसी वन में मयदानव रहता था। वह जब जलने लगा तब अर्जुन की शरण में आया। अर्जुन ने भी शरणागत की रक्षा की। इस उपाकर के वदले मयदानव ने पाण्डवों के लिए एक बड़ा सभा भवन बना दिया था। इसी सभा भवन की कथा सभापर्व में है।

सभापर्व आजकल अठारह पर्वों में से एक पर्व है। महाभारत युद्ध का बीज इसी में है। यह बिल्कुल ही छोड़ा नहीं जा सकता। और अगर नहीं छोड़ा जा सकता तो यह देखना चाहिए कि इसमें कितना ऐतिहासिक तत्व छिपा हुआ है।

सभा और उसके उपलक्ष्य के राजसूय यज्ञ को मौलिक और ऐतिहासिक मानने में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। यदि सभाभवन ऐतिहासिक हुआ, तो उसका बनाने वाला भी जरूर ही कोई होगा। मान लो, उस बनाने वाले या इंजीनियर का नाम मय था। शायद वह अनार्य वंश का था। इससे वह दानव कहलाता था। ऐसा भी हो सकता है कि अर्जुन ने उसके प्राण बचाए थे। उसके बदले उसने सुंदर सभा भवन बना दिया। यदि यह सत्य हो, तो वह किस संकट में पड़ा और अर्जुन ने उसकी रक्षा कैसे की यह खाण्डवदाह की कथा में मिलता है। यह मुझे अवश्य मानना पड़ेगा कि यह सब बातें अंधकार में केवल ढेला फेंकना है। पर साथ ही इसके यह भी कहूँगा कि प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्वों की बहुत सी बातें ऐसी ही हैं। मयदानव की समस्त कथा ही कदाचित् कवि की कल्पना मात्र है। जो हो, यहाँ कवि ने कृष्ण और अर्जुन का जो चरित्र लिखा है, वह बड़ा मनोहर है। यह लिखे बिना नहीं रहा जाता है।

मयदानव की जब प्राण रक्षा हुई तब वह अर्जुन से बोला : "आपने मुझे बचाया है, इसलिए कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" अर्जुन ने कुछ नहीं माँगा, कहा : केवल प्रीति रखना"। वह बहुत हठ करने लगा तब अर्जुन ने कहा : "हे कृतज्ञ! मैंने तुझे मृत्यु से बचाया है इस कारण तू मेरा उपकार किया चाहता है, इससे मैं तुझसे कुछ काम लेना पसंद नहीं करता हूँ।"

इसका नाम निष्काम धर्म है। क्रिस्तानों के यूरोप में यह नहीं है। बाइबल में जो धर्म लिखा है, वह स्वर्ग या ईश्वर की प्रीति चाहता है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम यह धर्म छोड़कर यूरोप के ग्रंथों से धर्म और नीति की शिक्षा लेते हैं। अर्जुन के पिछले वाक्य से निषकम धर्म और भी स्पष्ट हो जाता है। मयदानव अगर कुछ काम करके सुखी हो सके तो अर्जुन उसे सुख से वंचित करना भी नहीं चाहता है। इसलिए वह कहने लगा : "मै यह भी नहीं चाहता कि तेरी इच्छा पूरी न हो। इसलिए तू कृष्ण का कुछ काम कर दे। बस उसी से मेरा प्रत्युपकार हो जाएगा।" अर्थात् अर्जुन ने अपना कुछ काम उससे नहीं कराया कह दिया कि मेरे बदले दूसरे का काम कर।

इस पर मय ने कृष्ण से पूछा। मय दानवों का विश्वकर्मा, यानी चीफ एनजीनियर था। कृष्ण ने भी उससे अपना काम नहीं लिया। उन्होंने कहा : "युधिष्ठिर के लिए एक सभाभवन बना दे जिसकी नकल कोई न कर सके।" यह कृष्ण का काम नहीं था, और था भी। मैं कह चुका हूँ कि कृष्ण के जीवन के बस दो ही उद्देश्य थे—धर्मप्रचार और धर्म-राज्य का संस्थापन। धर्मप्रचार की

बात अभी नहीं आयी है। सभाभवन का निर्माण ही धर्म-राज्यसंस्थापन का श्री गणेश है। यहीं उनकी उस अभिलाषा की गंध मिलती है। युधिष्ठिर का सभाभवन बन जाने पर जो सब घटनाएँ हुई अंत में उनसे ही धर्मराज्य की संस्थापना हुई। धर्मराज्य का संस्थापन जगत् का काम है। किंतु जब वह कृष्ण का उद्देश्य था, तब यह संस्थापन भी उनका ही काम हुआ।

पिछले अध्याय में समाज सुधार की बात उठी थी। मैंने कहा था कि श्री कृष्ण ने समाज सुधारक बनने की चेष्टा नहीं की। उनका उद्देश्य देश का नैतिक तथा राजनीतिक पुनर्जीवन करना, धर्म प्रचार करना और धर्मराज्य का संस्थापन करना था। यह होने से समाज संस्कार आप ही हो जाता है। इसके हुए बिना समाज सुधार किसी तरह नहीं होता है। आदर्श मनुष्य यह जानते हैं कि पेड़ की जड़ न सींचकर डाल सींचने से फल नहीं लगते हैं। हम लोग यह नहीं जानते हैं, इसी से समाजसुधारकों को एक भिन्न वस्तु समझकर गड़बड़ मचाते हैं। नाम की भूख ही इसका कारण है। समाज सुधारक बनने से तुरंत नाम हो जाता है। सुधार का ढंग कहीं अंग्रेजी हो तो बस पाँचों घी में हैं। और जिनके पास कुछ काम नहीं है, उन्हें धूमधड़क्का बहुत पसंद है। सुधार से और चाहे कुछ न हो, पर धूमधड़क्का जरूर हो जाता है। धुमधड़क्का बड़े मजे की चीज है। सुधारकों से प्रश्न है कि धर्म की उन्नति के बिना सुधार किसके सहारे होगा? राजनीतिक उन्नति का भी मूल धर्म की उन्नति है। इसलिए सब कोई मिलकर धर्म की उन्नति में मन लगाओ। धर्मोन्नति हो जाने से फिर सुधार के लिए अलग चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी। इसके बिना समाजसुधार किसी तरह नहीं होगा। इसी से आदर्श मनुष्य ने मालाबारी बनने की चेष्टा नहीं की।

V : कृष्ण की मानविकता

इस कृष्ण चरित्र में मैं कृष्ण की केवल मानुषी प्रकृति की ही आलोचना करता हूँ। वह ईश्वर थे या नहीं, इस विषय में मैं कुछ नहीं कहता। इससे पाठकों का कुछ संबंध नहीं, क्योंकि मैं उन्हें ईश्वर मानता होऊँ तो भी मैं पाठकों से मानने के लिए नहीं कहता हूँ। मानना या न मानना पाठकों की बुद्धि और चित्त पर निर्भर है, यह अनुरोध से नहीं होता है। स्वर्ग जेलखाना नहीं है। मैं यह नहीं मानता कि उसमें एक ही फाटक है। धर्म एक ही है पर उसके पास पहुँचने के बहुत से रास्ते हैं। कृष्ण के भक्त और क्रिस्तान दोनों ही वहाँ पहुँच सकते हैं।[19] इसलिए कोई कृष्ण धर्म ग्रहण न करे, ते मैं उसे पतित नहीं समझूँगा और आशा

है कि कृष्ण के द्वेषी या पुराना वैष्णव संप्रदाय मुझे नरकगामी नहीं समझेंगे।

मेरा कहना यह है कि मैं श्री कृष्ण की केवल मानुषी प्रकृति की आलोचना करता हूँ। मैंने उन्हें आदर्श मनुष्य कहा है। इसलिए मनुष्य शक्ति के बाहर उनका जरा-सा भी कुछ कर बैठना अनुचित है। कह चुका हूँ कि ईश्वर लोगों को शिक्षा देने के लिए आदर्श मनुष्य के रूप में जन्म ग्रहण करे, तो वह जगत् में मनुष्य की शक्ति से ही मनुष्यों के काम करेगा। वह कभी किसी अलौकिक शक्ति से लौकिक या अलौकिक काम नहीं करेगा, क्योंकि मनुष्य के पास कोई अलौकिक शक्ति नहीं है। जिसने अलौकिक शक्ति से काम लिया वह मनुष्य का आदर्श न हो सका। जो शक्ति मनुष्य में नहीं है, उसकी नकल वह किस तरह कर सकेगा?[15]

इसलिए ईश्वर के अवतार होने पर भी श्री कृष्ण का कोई अलौकिक शक्ति प्रगट करना या अमानुषी कार्य करना संभव नहीं। महाभारत में कई ठौर कृष्ण पर अलौकिक शक्ति का आरोप किया गया है। वह सब अमूलक और क्षेपक हैं या नहीं, यह प्रसंगानुसार यथास्थान दिखाऊंगा—अभी कहना यह है कि श्री कृष्ण ने अपने को ईश्वर कहीं नहीं कहा है।[16] और न यही कहा है कि मुझमें अमानुषी शक्ति है। किसी के ईश्वर कहने पर उन्होंने उसका अनुमोदन नहीं किया। और न ऐमा आचरण ही किया, जिससे उनके ईश्वर होने का विश्वास दृढ़ हो जाए। एक जगह तो उन्होंने साफ ही कह दिया है : "मैं यथासाध्य पुरुषकार प्रकाश कर सकता हूँ पर दैव के कामों में मेरा कुछ भी वश नहीं है।"[17]

श्री कृष्ण ने सावधानी से मनुष्योचित आचरण किया है। जिसके मन में देवता बनने की इच्छा होती है, वह मनुष्योचित आचरण से जरा आगे बढ़ जाता है। पर कृष्ण ने ऐसा कहीं नहीं किया है। खाण्डवदाह के बाद द्वारका जाने के समय युधिष्ठिर से विदा हो कर उन्होंने जो आचरण किया, वह अत्यंत मनुष्योचित है। उसका वर्णन यों है :

वैशम्पायन बोले, प्रसन्नचित्त पाण्डवों के बड़े आदर सत्कार में भगवान् वासुदेव खाण्डवप्रस्थ में कई दिन रह गए। पीछे पिता के दर्शन हेतु घर जाने के लिए बड़े ही उत्सुक हुए। पहले धर्मराज युधिष्ठिर से विदा होकर पीछे उन्होंने अपनी फूफी कुंती के चरण छुए। फिर मिलने के लिए अपनी बहन सुभद्रा के पास गए। उन्होंने उसे अर्थ भरी हुई वास्तव में हित की बातें बहुत थोड़े शब्दों में समझायीं। भद्रभाषिणी सुभद्रा ने भी अपनी माता आदि स्वजनों से कहने के लिए कहने योग्य

बातें कहकर बार-बार प्रणाम किया। वृष्णिवंशावतंश कृष्ण सुभद्रा से विदा होकर द्रौपदी और धौम्य से मिले। धौम्य का यथाविधि अभिवादन करके द्रौपदी से सम्भाषण किया। वहाँ से फिर अर्जुन के साथ युधिष्ठिरादि चारों भाइयों के निकट गए। वहाँ भगवान् वासुदेव पाँचों पाण्डवों से वेष्टित हो देवताओं से वेष्टित इंद्र के समान शोभायमान होने लगे।

फिर श्री कृष्ण ने यात्रा के समय के कार्य करने के लिए स्नान करके अलंकार धारण किए। और माला, जप, नमस्कार तथा नाना प्रकार के गंध द्रव्यों से देवता और द्विजों का पूजन किया। धीरे-धीरे सब समयोचित कार्य करके वह बाहर के कमरे में आए। स्वास्तिवाचन करनेवाले ब्राह्मण दधिपात्र, पुष्प और अक्षतादि मङ्गल-द्रव्य हाथों में लिये वहां खड़े थे। वासुदेव ने उन्हें धन दान कर उनकी प्रदक्षिणा की। फिर अति उत्तम तिथि नक्षत्रयुक्त मुहूर्त में गदा, चक्र, धनुषादि अस्त्र- शस्त्र धारण कर वायु के समान द्रुतगामी गरुड़ की ध्वज से युक्त सोने के रथ पर चढ़कर चले। वह ज्यों ही चले त्यों ही युधिष्ठिर स्नेह के मारे दारुक सारथी को अलग कर उसकी जगह पर आप जा बैठा। महाबाहु अर्जुन भी सोने का चमर ले रथ पर जा चढ़ा। महाबली भीमसेन, नकुल, सहदेव, ऋत्विक और पुरोहित संग चलने लगे। उस समय वासुदेव ऐसे शोभायमान थे जैसे शिष्यों के साथ जाते हुए गुरु। वासुदेव अर्जुन से गले मिले, युधिष्ठिर और भीम को उन्होंने प्रणाम किया और नकुल तथा सहदेव से सम्भाष्ण। युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन ने उनका आलिंगन किया और नकुल तथा सहदेव ने अभिवादन। इस प्रकार आध कोस धीरे-धीरे जाने के बाद शत्रुनिसूदन कृष्ण ने युधिष्ठिर के चरण छूए और कहा कि अब आप लौट जाइए। धर्मराज युधिष्ठिर ने पतितपावन कमललोचन कृष्ण का माथा सूंघकार द्वारका जाने की अनुमति दी। फिर भगवान् वासुदेव पाण्डवों के साथ यथाविधि प्रतिज्ञा करके बड़े कष्ट से उन्हें बिदा करके अमरावती जाते हुए इंद्र के समान द्वारका की ओर जाने लगे। जब तक श्री कृष्ण दिखाई दिए तब-तक पाण्डव उन्हें एक टक देखते रहे और मन ही मन उनका अनुगमन करने लगे। कृष्ण को देखकर उनकी परितृप्ति नहीं हुई और कृष्ण आँखों के ओझल हो गए। तब वह लोग निराश होकर कृष्ण की चिंता करते हुए घर लौट आए। देवकीनंदन कृष्ण भी अनुगामी महावीर सात्त्वत और दारुक सारथी के साथ द्रुतगामी गरुड़ की तरह शीघ्र द्वारका आ पहुँचे। धर्मराज युधिष्ठिर भ्राताओं के साथ घर पहुँचने पर भाई-बंद, पुत्रों को विदा करके द्रौपदी के साथ आमोद प्रमोद में समय बिताने लगे। इधर कृष्ण ने भी परम प्रसन्नता से द्वारका पुरी में प्रवेश किया।

उग्रसेन आदि यदुकुल के महापुरुषों ने उनका आदर सत्कार किया। वासुदेव ने घर पहुँचकर पहले आहुक, वृद्ध पिता, यशस्विनी माता, और बलभद्र को प्रणाम किया। पीछे प्रद्युम्न, शाम्ब, निशठ, चारुदे, गद, अनिरुद्ध और भानु को गले लगा कर वृद्धों की आज्ञा लेकर रुक्मिणी के भवन में पहुँचे।

VI : जरासंधवध का परामर्श

इधर सभा बनी और उधर युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ करने का प्रस्ताव हुआ। सबने राय दी, पर श्री कृष्ण की सम्मति लिए बिना युधिष्ठिर कुछ करना नहीं चाहता था, क्योंकि कृष्ण नीतिज्ञ थे। इसलिए उसने कृष्ण को बुला भेजा। कृष्ण भी खबर पाते ही खाण्डवप्रस्थ आ पहुँचे। राजसूय के बारे में युधिष्ठिर श्री कृष्ण से कहता है : "मैंने राजसूय यज्ञ करना विचारा है। यह यज्ञ ऐसा नहीं है कि विचारते ही हो जाए। यह कैसे होता है, यह तुम जानते हो। जिसके लिए सब कुछ संभव है, जिसका सब जगह मान है, और जो समस्त पृथ्वी का अधीश्वर है, वही राजसूय यज्ञ करने के उपयुक्त है।"

युधिष्ठिर को कृष्ण से बस इतना ही पूछना था कि "क्या मैं राजसूय यज्ञ करने के उपयुक्त हूँ? मेरे लिए क्या यह संभव है? मेरा क्या सब जगह मान है? क्या मैं समस्त पृथ्वी का अधीश्वर हूँ?" युधिष्ठिर अपने भ्राताओं के भुजबल से बड़ा राजा हो गया था सही, पर क्या इतना बड़ा हो गया था कि वह राजसूय यज्ञ करता? मैं कितना बड़ा आदमी हूँ, यह कोई स्वयं ठीक नहीं कर सकता। जो दाम्भिक और दुरात्मा हैं वह आप ही अपने बड़प्पन का अंदाज कर लेते हैं। पर युधिष्ठिर जैसा सावधान और सुशील पुरुष का ऐसा करना संभव नहीं। उसने मन में समझा कि मैं बड़ा भारी राजा हो गया हूँ, पर इस पर उसका विश्वास नहीं हुआ। उसने अपने मंत्रियों और भ्राताओं को बुलाकर पूछा : "क्या मैं राजसूय यज्ञ कर सकता हूँ?" उन सबने जवाब दिया : "हाँ, अवश्य कर सकते हैं। आप उसके योग्य पात्र हैं।" धौम्य द्वैपायनादि ऋषियों को बुलाकर पूछा : "क्या मैं राजसूय यज्ञ कर सकता हूँ।" उन्होंने भी कहा : "हाँ कर सकते हैं। आप उसके उपयुक्त पात्र हैं।" पर तो भी[18] युधिष्ठिर को संतोष न हुआ। अर्जुन हों चाहे व्यासजी, उसे किसी का भरोसा नहीं था। वह श्री कृष्ण की सलाह के बिना कोई काम नहीं करता था, क्योंकि वह उन्हें सबसे श्रेष्ठ मानता था। इसलिए उसने 'महाबाहु सर्वलोकोत्तम' कृष्ण से परामर्श करना स्थिर किया। सोचा "कृष्ण सर्वज्ञ और सर्वकृत हैं, वह अवश्य ही मुझे सत्परामर्श देंगे।" इससे उसने कृष्ण को बुलाकर

ऊपर लिखे प्रश्न किए। साथ ही उसने यह जोड़ा : ''मेरे और मित्रों ने यह यज्ञ करने की सम्मति दी है पर मैंने तुमसे पूछे बिना उसका निश्चय नहीं किया है। हे कृष्ण! कोई तो मित्रता के कारण मेरे दोष नहीं बताता, कोई स्वार्थवश मीठी-मीठी बातें कहता है, और कोई अपनी स्वार्थसिद्धि को ही प्रिय समझता है। हे महात्मन, इस पृथ्वी पर ऐसे मनुष्य ही अधिक हैं, इसलिए उनकी सम्मति लेकर कुछ काम नहीं किया जाता। तुम उक्त दोषों से रहित और काम, क्रोध से विवर्जित हो, इस हेतु तुम मुझे यथार्थ परामर्श दो।''

पाठकों, जरा सोचो नित्य का चाल-चलन देखने वाले कृष्ण के फुफेरे भाई कृष्ण को क्या समझते थे[19] और हम उन्हें क्या समझते हैं। वह लोग श्री कृष्ण को काम, क्रोध से विवर्जित, सब से सत्यवादी, सब दोषों से रहित, सर्वलोकोत्तम, सर्वज्ञ और सर्वकृत समझते थे और हम उन्हें लंपट, माखनचोर, कुचक्री, मिथ्यावादी, कापुरुष और सब दोषों की खान समझते हैं। प्राचीन ग्रंथों ने जिसे धर्म का चरमादर्श माना है, उसे जिस जाति ने इतना नीचे गिरा दिया, उसका धर्म लोप हो जाए, तो आश्चर्य ही क्या है?

युधिष्ठिर ने जो सोचा था ठीक वही हुआ। जो अप्रिय सत्य वाक्य किसी ने नहीं कहा था, कृष्ण ने वही कहा। श्री कृष्ण ने मीठे शब्दों में युधिष्ठिर से कहा : ''तुम राजसूय के अधिकारी नहीं हो, क्योंकि सम्राट् के सिवा और किसी को राजसूय करने का अधिकार नहीं है। मगधाधिपति जरासंध सम्राट् है। उसे जीते बिना तुम राजसूय नहीं कर सकते हो और न उसके अधिकारी ही हो सकते हो।'' जो श्री कृष्ण को कुचक्री और स्वार्थी समझते हैं, वह यह बात सुनकर कहेंगे कि ''यह तो कृष्ण के मन की ही बात हुई। जरासंध कृष्ण का पुराना शत्रु था, श्री कृष्ण स्वयं उसका कुछ न कर सके तब यह चाल चले। अपना काम निकालने को उन्होंने यह सलाह दी।''

पर अभी एक बात और बाकी है। जरासंध सम्राट् था, पर वह तैमूरलंग या प्रथम नेपोलियन की तरह अत्याचारी था। पृथिवी उसके अत्याचार से पीड़ित थी। जरासंध ने राजसूय यज्ञ करना विचारा था इसलिए उसने ''बाहुबल से सब राजाओं को जीतकर पहाड़ी किले में इस तरह बंद कर रखा था जिस तरह सिंह हाथियों को पर्वत की कंदराओं में रखता है।'' राजाओं को कारागार में बंद कर रखने का एक और भयानक कारण था। वह यज्ञ के समय महादेव के आगे उनकी बलि देना चाहता था। यज्ञ में पहले कभी कोई नर बलि नहीं देता था, यह इतिहासज्ञ पाठकों को बताना वृथा है।[20] कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं, ''हे भारतकुलप्रदीप!

बलिप्रदान के हेतु लाए हुए नृपतिगण प्रोक्षित और प्रमृष्ट होकर पशुओं की तरह पशुपति के घर में बड़े कष्ट से जीवन धारण कर रहे हैं। दुरात्मा जरासंध शीघ्र ही उनका वध करेगा, इससे मैं उसके साथ युद्ध करने का उपदेश देता हूँ। वह दुष्टात्मा छयासि राजाओं को पकड़ चुका है, सिर्फ चौदह की और कसर है। यह चौदह राजा आ जाने पर एक साथ सौ राजाओं की बलि चढ़ा देगा। हे धर्मराज! इस दुरात्मा जरासंध का यह क्रूर कर्म जो अभी रोक सकेगा उसका यश भूमण्डल में सर्वत्र फैल जाएगा और जो उसे परास्त कर सकेगा वह अवश्य ही सम्राट् होगा।"

इसलिए श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को जरासंध के वध का जो परामर्श दिया, उसमें कृष्ण का कुछ स्वार्थ नहीं था। यद्यपि युधिष्ठिर का स्वार्थ था। वास्तव में इस परामर्श का मुख्य उद्देश्य कैदी राजाओं की भलाई, जरासंध के अत्याचार से पीड़ित भारतवर्ष की भलाई, और सर्वसाधारण की भलाई था। कृष्ण उस समय रैवतक के दुर्ग में रहते थे। वहाँ जरासंध की कुछ नहीं चलती थी। इसलिए जरासंध के वध से उनका कुछ बनता-बिगड़ता न था। अगर कुछ बनता-बिगड़ता भी होता तो ऐसी ही सलाह देना उनका धर्म था जिससे लोगों की भलाई होती। अगर उनकी स्वार्थसिद्धि भी होती तो भी लोकहित के विचार से उन्हें यही सलाह देनी पड़ती। "ऐसे लोकहित काम के लिए परामर्श न देना चाहिए जिसमें अपना भी स्वार्थ हो, क्योंकि ऐसा करने से परामर्श देनेवाले को लोग स्वार्थी समझने लगेंगे," जो ऐसा सोचते हैं, वही यथार्थ में स्वार्थी और अधर्मी हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी मर्यादा का विचार किया, लोकहित का नहीं। जो यह कलंक सादर अपने मस्तक पर धारण करके लोकहित साधन करता है, वही आदर्श धार्मिक है। श्री कृष्ण का आदर्श सर्वत्र ही धार्मिक है।

युधिष्ठिर बड़ा चाकचोबंद था। वह जरासंध से भिड़ने के लिए सहज ही राजी नहीं हुआ। भीमार्जुन के उत्साहपूर्ण वचनों और श्री कृष्ण के परामर्श से युधिष्टिर आखिर राजी हो गया। भीम, अर्जुन ओर श्री कृष्ण यही तीनों जरासंध को जय करने चले। जिसकी अगणित सेना के भय से प्रबल वृष्णिवंशी रैवतक पर्वत में जा छिपे थे, उसे जीतने के लिए केवल तीन मनुष्य चले, यह कैसा परामर्श है? यह कृष्ण का परामर्श था और यह उनके आदर्श चरित्र के अनुसार ही था।

जरासंध दुष्टात्मा था, उसको दण्ड देना जरूरी था। पर उसके सैनिकों का क्या अपराध था, जो उनके मारने के लिए सेना जाती? ऐसे युद्ध में केवल निरपराधियों के प्राण जाते हैं और अपराधी भी कभी-कभी हाथ से निकल जाते हैं। जरासंध की सेना के आगे पाण्डवों की सेना नहीं के बराबर थी। ससैन्य युद्ध

में उससे पार पाना असंभव ही था। पर उस समय के क्षत्रिय द्वैरथ्य युद्ध (दो रथियों का परस्पर युद्ध) के लिए बुलाए जाने पर कभी पीछे पैर नहीं देते थे।[21] इसलिए श्री कृष्ण ने सोचा कि व्यर्थ की हत्या से क्या लाभ, हम तीनों आदमी चलकर जरासंध को ललकारेंगे, बस वह तीनों में किसी एक के साथ अवश्य लड़ेगा। जो बल, साहस और शिक्षा में अधिक होगा वही जीतेगा। इन विषयों में चारों ही पूरे थे। यह विचार कर तीनों स्नातक ब्राह्मण वेष बनाकर चले। वेष बदलकर क्यों चले, यह समझ में नहीं आता है। छिपकर जरासंध को मार डालने का उनका विचार नहीं था। पर वेष बदलकर जाना कृष्ण और अर्जुन के योग्य काम नहीं था। इसके सिवा एक काम और भी है। वह तो उनके बिल्कुल ही अयोग्य था। जरासंध के निकट पहुँचते ही भीम और अर्जुन मौनी बन गए। मौनी को बोलना मना है। इसलिए वह दोनों कुछ न बोले। लाचार श्री कृष्ण को ही बोलना पड़ा। उन्होंने जरासंध से कहा : ''इन दोनों ने मौनव्रत धारण किया है, अभी नहीं बोलेंगे, दोपहर रात बीत जाने पर आपसे बातचीत करेंगे।'' इस पर जरासंध उन्हें यज्ञशाला में टिकाकर महल में चला गया। और आधी रात के समय फिर उनके पास आया।

यह भी एक चतुराई है। यह चतुराई नहीं धूर्त्तता है। यह धर्मात्मा को शोभा नहीं देती है। इस धूर्त्तता का तात्पर्य क्या है? जिन कृष्णार्जुन को हम अब तक धर्म का आदर्श समझते आ रहे हैं, वह अकस्मात् इतना कैसे गिर गए? अगर इस धूर्त्तता का कुछ उद्देश्य हो तो हम समझ लें कि शत्रु के फंसाने के लिए यह चाल चली गयी है। पर ऐसा होने पर हमें कहना पड़ेगा कि ये धर्मात्मा नहीं हैं और न कृष्ण चरित्र को जैसा विशुद्ध समझा था वैसा ही है।

जिसने जरासंध के वध का वृत्तांत आद्योपांत नहीं पढ़ा है, वह कह सकता है कि इस चतुराई का उद्देश्य तो स्पष्ट ही है। आधी रात को जरासंध अकेला आवेगा, तो उसे अचानक आक्रमण कर मार डालना ही इसका उद्देश्य है। इसी से कृष्ण ने आधी रात के समय मिलने का ढकोसला फैलाया। पर वास्तव में न उनका कोई ऐसा उद्देश्य ही था और न उन्होंने ऐसा कुछ काम ही किया। आधी रात गए वह जरासंध से मिले अवश्य थे, पर उन्होंने आक्रमण क्या उसकी चेष्टा भी नहीं की। युद्ध भी दिन को हुआ, रात को नहीं। वह भी चौड़े मैदान में, सब मगधवासियों के सामने, कुछ छिपके नहीं। एक दिन नहीं चौदह दिनों तक यह युद्ध हुआ। तीनों ने मिलकर युद्ध नहीं किया, केवल एक ने किया था। जाते ही अचानक नहीं भिड़ गए, खूब सोच समझकर भिड़े थे। यहाँ तक कि जरासंध अपने पुत्र का राज्याभिषेक तक कर आया था। उसने सोचा, युद्ध में

जाने क्या हो, इसलिए सब तरह से तैयार रहना चाहिए। श्री कृष्णादि निरस्त्र हो जरासंध से मिले थे। इसमें कुछ भी चालाकी न थी। जरासंध के पूछते ही श्री कृष्ण ने सच्चा परिचय दिया था। युद्ध के समय जरासंध के पुरोहित मरहम पट्टी के सामान से लैस होकर आए थे, पर कृष्ण की ओर से ऐसी कुछ भी तैयारी न थी। तो भी इन्होंने उसे 'अन्याययुद्ध' कह कर कुछ आपत्ति नहीं की। युद्ध में भीम के प्रहार से जरासंध जब बहुत व्यथित होने लगा तब दयालु श्री कृष्ण ने भीम को इतना प्रहार करने से रोका था। जिनका ऐसा चरित्र और ऐसा व्यवहार है, वह भला क्यों चालाकी से काम लेने लगे? व्यर्थ की चालाकी क्या उनके लिए संभव है? जो बेवकूफ है, वही बेमतलब चालाकी करेगा। कृष्ण तथा अर्जुन और चाहे जो कुछ हों, पर बेवकूफ नहीं थे। यह विपक्षी भी मानते हैं। फिर यह चालाकी आयी कहाँ से? जिस कथा का इस समस्त जरासंध पर्वाध्याय से मेल नहीं है, वह इसके भीतर कहाँ से आ गयी? क्या यह क्षेपक है? हाँ के सिवा इसका और कुछ उत्तर नहीं है। अच्छा, इस पर जरा अच्छी तरह विचार करना चाहिए।

हम देख चुके हैं कि महाभारत में कहीं एक अध्याय क्षेपक है तो कहीं पर्वाध्याय का पर्वाध्याय है। एक अध्याय या पर्वाध्याय क्षेपक हो सकता है तो किसी अध्याय या पर्वाध्याय का कुछ अंश या कुछ श्लोक क्या क्षेपक नहीं हो सकते हैं? ऐसा होने में कुछ आश्चर्य नहीं है। बल्कि संस्कृत ग्रंथों में तो बराबर ऐसा हुआ है। इसी से वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाएं हैं और रामायणादिके भिन्न-भिन्न पाठ हैं। यहाँ तक कि शकुंतला, मेघदूत आदि इधर के ग्रंथों में भी पाठांतर हैं। सारांश यह कि सब मौलिक ग्रंथों के बीच-बीच में दो-दो चार-चार श्लोक क्षेपक मिलते हैं। फिर महाभारत के मौलिक अंश के भीतर क्षेपक मिलें तो आश्चर्य ही क्या है?

ऐसा मत समझिए कि जो श्लोक मेरे सिद्धांत के विपरीत होंगे उन्हें ही मैं क्षेपक समझकर छोड़ दूंगा। कौन क्षेपक है, कौन नहीं है, इसकी परीक्षा करनी होगी। जिसे मैं क्षेपक कहूँगा उसमें मुझे क्षेपक के लक्षण दिखाने पड़ेंगे।

जो बहुत पुराने समय में प्रक्षिप्त हुआ है, उसके खोज निकालने का उपाय आभ्यंतरिक प्रमाण के सिवा और कुछ नहीं है। आभ्यंतरिक प्रमाणों में उत्तम प्रमाण है असंगति, अनैक्य। अगर किसी पुस्तक की एक बात से उसकी सारी बातों का विरोध हो, तो समझना होगा कि रचयिता या लिखने वाले की भूल है या क्षेपक है। भूल तथा क्षेपक को पहचान लेना सहज है। अगर रामायण की किसी कापी में लिखा हो कि राम ने उर्मिला से ब्याह किया तो तुरंत मालूम हो जाएगा

कि यह लिखने वाले की भूल है। और अगर लिखा हो कि राम ने उर्मिला से ब्याह किया इससे रामलक्ष्मण में लड़ाई हो गयी, पीछे रांम ने लक्ष्मण को उर्मिला देकर मेल कर लिया, तो यह रचयिता या लेखक की भूल नहीं कही जाएगी। इसे क्षेपक कहना पड़ेगा। अभी मैं दिखा चुका हूँ कि जरासंधवध-पर्वाध्याय की जिन कई बातों पर विचार हो रहा है, उनका मेल उस पर्वाध्याय की और सब बातों में बिल्कुल नहीं है। और यह भी स्पष्ट है कि वह रचयिता और लिखने वाले की भूल हो नहीं सकती। इसलिए इन्हें प्रक्षिप्त कहने का मुझे अधिकार है।

पाठक इस पर कह सकते हैं कि क्षेपक लिखने वाला ऐसी असंगत बात क्यों लिखेगा? इससे उसका क्या मतलब निकलेगा? इसका जवाब सुनिए। मैंने कई बार कहा है कि महाभारत की तीन तहें हैं। तीसरी तह कई आदमियों की बनाई है। पहली तह एक मनुष्य की और दूसरी दूसरे मनुष्य की बनाई हुई है। यह दोनों ही अच्छे कवि थे। पर इनकी रचना-प्रणाली में भेद है। यह देखते ही मालूम हो जाता है। दूसरी तह के कवि का ढंग ही और है। उसके कलम की करतूत युद्ध पर्वों में अधिकता से मिलती है। इन पर्वों का अधिकांश इनका ही लिखा है। इनकी आलोचना के समय यह अच्छी तरह समझाया जाएगा। इनकी लिखावट की सबसे बड़ी पहचान यह है कि यह कृष्ण को चतुर चूड़ामणि बनाने के बड़े प्रेमी हैं। सब गुणों से बढ़कर यह बुद्धि का ही आदर करते हैं। ऐसे लोगों का अभाव आजकल भी नहीं है। आज भी ऐसे अनेक सुशिक्षित, उच्च श्रेणी के मनुष्य हैं जो चतुर और बुद्धिमान को ही मनुष्यत्व का आदर्श मानते हैं। यूरोप में यही आदर्श बड़ा प्यारा है। इसी से आजकल की कूट विद्या उत्पन्न हुई है। बिस्मार्क[22] एक समय जगत् का प्रधान मनुष्य था। थेमिस्टोक्लिस के[23] समय से लेकर आज तक जो इस कूट विद्या में पटु हुए उनका ही यूरोप में मान हुआ—इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट के रचयिता को कौन पहचानता है? दूसरी तह के कवि का चरमादर्श भी ऐसा ही था। और कृष्ण के ईश्वरत्व पर उनका पूर्ण विश्वास था, इसी से आपने पुरुषोत्तम भगवान को चतुर चूड़ामणि बनाया है। आपने ही द्रोण की हत्या का झूठा किस्सा गढ़ा है। जयद्रथ वध में सुदर्शन चक्र से सूर्य को छिपाना, कर्ण अर्जुन के युद्ध में अर्जुन के रथ के पहिए को पृथिवी में धसाना और घोड़े को बिठाना, इत्यादि कृष्ण की करामातों के लिखने वाले भी आप ही हैं। अब इतना ही कहना यथेष्ट है कि जरासंध वध पर्वाध्याय में जो असंगत और व्यर्थ की चतुरता है, वह क्षेपक है और इसके लिखने वाले भी आप ही जान पड़ते हैं। आप ही उसके कर्त्ता हैं, तो फिर उद्देश्य के बारे में प्रश्न करना व्यर्थ

है। कृष्ण को चतुर चूड़ामणि बनाना ही आपका उद्देश्य है। अगर मुझे इन्हीं कथाओं का भरोसा होता, तो मैं इतना तूल न देता पर अभी आपकी करतूत जरासंध वध में और भी है।

VII : कृष्ण-जरासंध-संवाद

जरासंध ने आधी रात को यज्ञशाला में स्नातकवेशधारी तीनों मनुष्यों का आदर सत्कार किया। यहाँ यह कुछ भी नहीं लिखा है कि उन्होंने उसका आदर सत्कार ग्रहण किया या नहीं। पर दूसरी जगह लिखा है। मूल की मरम्मत करने के कारण ही यह गड़बड़ हुई है।

शिष्टाचार के अनुसार जरासंध बोला : "हे विप्रों! मैं जानता हू, स्नातक ब्राह्मण सभा में जाने के सिवा कभी माला[24] या चंदन नहीं लगाते हैं। आप लोग कौन हैं? आप लोगों के कपड़ें लाल हैं, शरीर फूलों की मालाओं और अनुलेपन से सुशोभित हैं। भुजाओं पर ज्याके चिन्ह दीखते हैं। डीलडौल से आप लोग साफ क्षत्रिय जान पड़ते हैं। पर आप अपने को ब्राह्मण कहते हैं। सच कहिये आप लोग कौन हैं? राजा के सामने सच बोलने में ही प्रशंसा है। आप लोग किस लिए द्वार से न आकर चेतक पर्वत के श्रृंग को तोड़कर बेखटके चले आए? ब्राह्मण वचनों से अपनी वीरता प्रगट करते हैं पर आप लोगों ने कार्य से वह प्रकाश कर विरुद्धाचरण किया है। आप मेरे यहाँ आए, मैंने आपकी पूजा की, पर आप उसे क्यों नहीं ग्रहण करते हैं? कहिए, आप लोग यहाँ किस लिए आए हैं?"

श्री कृष्ण ने मधुर पर गंभीर शब्दों में[25] उत्तर दिया : "हे राजन्! तुम हमें स्नातक ब्राह्मण समझते हो, पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह तीनों वर्ण स्नातक-व्रत ग्रहण करते हैं। इनके विशेष और अविशेष दोनों नियम हैं। क्षत्रिय विशेष नियमी होने से संपत्तिशाली होते हैं। पुष्पधारी निश्चय ही श्रीमान् होता है इसी से हमने पुष्प धारण किए हैं। क्षत्रिय बाहुबल से ही बलवान होता है, वाग्बल से नहीं इसी से उनके लिए प्रगल्भ वाक्यों का प्रयोग करना निर्द्धारित है।"

ये बातें शास्त्रों और चतुरों की सी अवश्य हैं, पर कृष्ण के योग्य नहीं—सत्यप्रिय धर्मात्मा की सी नहीं हैं। पर जिसने कपट वेष धारण किया है, वह अवश्य ही ऐसी बातें कहेगा। कपट वेष यदि दूसरी तरह के कवियों की कल्पना हो तो ऐसी बातों के लिए वही दोषी होंगे। उन्होंने श्री कृष्ण को जैसा चतुर जानने की चेष्टा की है, वैसा ही यह उत्तर है। जो हो, कृष्ण को ब्राह्मण बताकर छल करने की कुछ जरूरत नहीं जान पड़ती है। वह तो स्वयं क्षत्रिय होना स्वीकार कर रहे हैं।

केवल यही नहीं, वह खुले शब्दों में युद्ध की याचना कर रहे हैं, वह कहते हैं : "विधाता ने क्षत्रियों की बाहों में ही बल दिया है। हे राजन्! यदि तुम्हें हमारा बाहुबल देखने की इच्छा हो तो आज ही निस्संदेह देख लोगे। हे वृहद्रथनंदन! धीर मनुष्य शत्रुओं के घर छिपकर और मित्रों के घर खुले मैदान जाते हैं। हे राजन्! हम अपना काम निकालने के लिए शत्रु के घर आकर उसकी पूजा ग्रहण नहीं करते, हमारा यही नित्य व्रत है।"

एक बात भी गोल मटोल नहीं है, सब बातें साफ हैं। यहीं अध्याय समाप्त होता है और साथ ही कपट वेष का बखेड़ा भी मिट जाता है। मालूम हो गया कि यहाँ कपट वेष का कुछ प्रयोजन न था। इसके बाद के अध्याय में श्री कृष्ण जो कुछ कहते हैं, वह बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का है। अब तक उनका जो उन्नत चरित्र देखते आए हैं, यह उसी के योग्य है। इन दोनों अध्यायों के कृष्ण चरित्र में इतना बड़ा भेद है कि हम उन्हें दो मनुष्यों का लिखा कह सकते हैं।

कृष्ण ने जरासंध के घर को शत्रु का घर कहा। इस पर जरासंध कहता है : "मैंने कब तुम्हारे साथ शत्रुता की या तुम्हारी बुराई की, यह मुझे याद नहीं है। फिर बिना अपराध तुम मुझे अपना शत्रु क्यों समझते हो?"

इस पर श्री कृष्ण ने जरासंध के साथ जो असली झगड़ा था, उसकी बात कही। अपने झगड़े की चर्चा नहीं की। कृष्ण अपने झगड़े के कारण किसी से शत्रुता नहीं कर सकते थे, क्योंकि वह समदर्शी थे, शत्रुमित्र को एक दृष्टि से देखते थे। सब लोगों का यही विश्वास है कि श्री कृष्ण पाण्डवों के मित्र और कौरवों के शत्रु थे। पर वास्तव में वह धर्म के मित्र और अधर्म के शत्रु थे। उनको किसी का पक्षापक्ष नहीं था। अच्छा, अभी यह बात रहे। अभी यहाँ यह देखना है कि कृष्ण ने उपयाचक होकर अपना परिचय जरासंध को दिया, पर अपने झगड़े के कारण उसे शत्रु नहीं समझा। बात यह है कि मनुष्य जाति का जो शत्रु है, वही कृष्ण का शत्रु है, क्योंकि आदर्श पुरुष सब जीवों में ही अपने को देखते हैं। उनका आत्मज्ञान इसके सिवा दूसरा नहीं है। इसी से जरासंध के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने अपनी बात न कह कर सर्वसाधारण की बात कही। उन्होंने कहा कि तुमने महादेव के आगे बलि देने के लिए राजाओं को कैद कर रखा है। इससे हम लोग युधिष्ठिर की ओर से तुम्हारे पास आए हैं। जरासंध को समझाने के लिए श्री कृष्ण और भी खुलासा कर के कहते हैं—"हे वृहद्रथनंदन, हम लोगों को भी **तुम्हारे पाप से पापी होना पड़ेगा, क्योंकि हम लोग धर्माचारी और धर्म रक्षा में समर्थ हैं।"**

पाठक उक्त वाक्यों की ओर विशेष ध्यान दें। इसीसे उन्हें मैंने मोटे अक्षरों

में दे दिया है। यह बात पुरानी होने पर भी बड़ी गूढ़ है। जो धर्म की रक्षा में और पाप के दमन में समर्थ होकर भी कुछ नहीं करता, वह उस पाप का सहकारी है। इसलिए इस लोक में शक्ति के अनुसार पाप रोकने का प्रयत्न न करना अधर्म है। "मैं तो कुछ पाप करता नहीं, दूसरे करते हैं, इसमें भला मेरा क्या दोष?" जो ऐसा सोचकर निश्चिंत रहते हैं, वह भी पापी हैं। धर्मात्मा लोग भी बहुधा यही सोचकर कानों में तेल डाले बैठे रहते हैं। इसलिए संसार में जो सब महात्मा उत्पन्न होते हैं, वह धर्म रक्षा और पाप निवारण का व्रत ग्रहण करते हैं। गौतम बुद्ध, ईसा मसीह आदि इसके उदाहरण हैं। यह वाक्य ही उनके जीवन चरित्र का मूल मंत्र है। श्री कृष्ण का भी वही व्रत था। यह महावाक्य स्मरण रखे बिना उनका जीवनचरित्र समझ में नहीं आवेगा। जरासंध, कंस और शिशुपाल का वध, महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सहायता आदि कृष्ण के कार्य इसी मूल मंत्र के सहारे समझ में आवेंगे। इसे ही पुराण वालों ने "पृथिवी का भार उतारना" कहा है। इसा मसीह ने किया हो, बुद्ध ने किया हो, चाहे कृष्ण ने ही किया हो, इस पापनिवारण व्रत का ही नाम धर्म प्रचार है। धर्म प्रचार दो तरह से हो सकता है और होता है। एक तो वचनों से अर्थात् धर्मोपदेश करके और दूसरा कार्य से अर्थात् धर्माचरण करके। ईसा मसीह, शक्यसिंह और कृष्ण ने इन दोनों से ही काम लिया था। पर गौतम और मसीह का धर्म प्रचार उपदेशप्रधान था और कृष्ण का कार्य-प्रधान। इसमें कृष्ण की ही प्रधानता है क्योंकि कहना सहज, पर करना कठिन होने पर भी अधिक फल देने वाला है। जो केवल मनुष्य हैं, उनसे यह काम भली-भाँति हो सकता है या नहीं, यह विचारने का समय अभी नहीं है।

यहाँ एक बात का विचार हो जाना अच्छा है। कृष्ण ने कंस, और शिशुपाल को मारा, यह मैं कह चुका हूँ। और यह भी कहता हूँ कि वह जरासंध को मारने के लिए आए हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या पापियों को मारना आदर्श मनुष्य का काम है? जो समदर्शी हैं, सब जीवों को एक दृष्टि से देखते हैं, वह पापात्मा को भी अपना समझ कर उसकी भलाई क्यों नहीं चाहेंगे? यह सच है कि जगत् में पापियों के रहने से जगत् का कल्याण नहीं है, पर क्या उनको मार डालने के सिवा जगत् के उद्धार का और कुछ उपाय नहीं है? पापियों को पाप से रोककर धर्म में लगाना क्या मार डालने से अच्छा उपाय नहीं है? इससे जगत् और पापी दोनों का ही एक साथ कल्याण होगा। आदर्श मनुष्य को क्या यही करना उचित नहीं है? मसीह, बुद्ध और चैतन्य ने तो इसी तरह पापियों के उद्धार की चेष्टा

की थी। इसके दो उत्तर हैं। पहला तो यह कि कृष्ण चरित्र में इस धर्म का भी अभाव नहीं है। पर जैसा क्षेत्र था वैसा फल हुआ। कृष्ण ने इस बात की उचित चेष्टा की थी, जिससे दुर्योधन और कर्ण मारे न जाकर धर्म के पथ पर चलें और उनका राज्य बना रहे। इस बारे में उन्होंने कहा भी था कि पुरुषार्थ से जो हो सकता है, वह मैं कर सकता हूँ, पर दैव मेरे अधीन नहीं है। कृष्ण मनुष्य की शक्ति से ही काम लेते थे। जो काम साधारणतः मनुष्य की शक्ति के बाहर था, उसके लिए प्रयत्न करके भी वह कभी भी कृतकार्य नहीं होते थे। शिशुपाल के भी सौ अपराध उन्होंने क्षमा किए थे। इस क्षमा की बात अलौकिक उपन्यास के घटाटोप के नीचे आ गई है। इसका तात्पर्य यथास्थान बताऊँगा। कंस वध की कथा पहले बता चुका हूँ।

पाइलेट को[26] क्रिस्तान बनाना मसीह के लिए जितना संभव था कंस को धर्मपथ पर लाना कृष्ण के लिए उतना ही था। जरासंध के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। तो भी इस विषय में कृष्ण और जरासंध की कुछ बातचीत हुई थी। जरासंध श्री कृष्ण से क्या धर्मोपदेश सुनता, उसने स्वयं उन्हें सुनाया था। जैसे : "देखो, धर्म और अर्थ की विकृति ही मन में पीड़ा होती है परंतु जो क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर धर्मज्ञ होकर भी निरपराध लोगों का धर्मार्थ घात करता है, उसका यहाँ भला नहीं होता है, और वह नरक में जाता है, इसमें संदेह नहीं," इत्यादि। इन मौकों पर धर्मोपदेश से कुछ नहीं होता है। जरासंध को ठीक राह पर लाने का उपाय नहीं था, यह मेरी बुद्धि में नहीं आता है। मनुष्य-शक्ति के बाहर कुछ कर दिखाने का ढोल पीटने से रंग कुछ जम सकता था। और धर्म प्रचारक लोग तो बराबर ऐसा करते हैं, पर श्री कृष्ण इसके विरोधी थे। उन्होंने भूत उतार के या रोग चंगार के या जादू के जोर से धर्म का प्रचार नहीं किया और न अपने को ईश्वर ही सिद्ध किया।

हाँ, इतना समझ सकता हूँ कि जरासंध को मार डालना कृष्ण का उद्देश्य नहीं था। धर्म की रक्षा करना, अर्थात् निर्दोष और दुःखित राजाओं को मुक्त करना ही उनका उद्देश्य था। वह जरासंध को बहुत समझाकर बोले : "मैं वसुदेव का पुत्र कृष्ण हूँ, और ये दोनों वीर पाण्डु के पुत्र हैं। हम तुम्हें युद्ध के लिए ललकारते हैं, अब राजाओं को छोड़ दो या युद्ध करके यमपुर सिधारो।" अर्थात् जरासंध राजाओं को छोड़ देता तो कृष्ण उससे कुछ न कहते। पर जरासंध ने राजाओं को छोड़ना पसंद नहीं किया। लाचार युद्ध की ठहरी। जरासंध लड़ाई के सिवा यों बातों से मानने वाला जीव न था।

दूसरा उत्तर यह है कि मसीह या बुद्धदेव ने पतितों के उद्धार के लिए जितना प्रयत्न किया, उतना कृष्ण ने नहीं किया। यह मैं मानता हूँ। ईसा मसीह या बुद्धदेव का व्यवसाय ही धर्म प्रचार था। कृष्ण ने धर्म का प्रचार अवश्य किया, पर यह उनका व्यवसाय नहीं था। यह आदर्श पुरुष के आदर्श-जीवन के बहुत से कार्यों में एक है। कोई यह न समझ ले कि मैं ईसा और बुद्ध के धर्म प्रचार की निंदा करता हूँ। नहीं, मैं ईसा और बुद्ध दोनों को ही मनुष्यश्रेष्ठ समझकर भक्ति करता हूँ और उनके चरित्र का मनन कर के ज्ञान लाभ करने की आशा रखता हूँ। धर्म प्रचार का व्यवसाय[27] और व्यवसायों से मैं उत्तम मानता हूँ। पर वह आदर्श मनुष्य का व्यवसाय नहीं हो सकता। मनुष्य के करने योग्य जितने काम हैं वह सब ही उसके करने योग्य हैं। कोई काम उसका 'व्यवसाय' नहीं अर्थात् और कामों में एक काम प्रधान नहीं हो सकता। ईसा या बुद्ध आदर्श पुरुष नहीं, वह पुरुषश्रेष्ठ थे। मनुष्यों के श्रेष्ठ कार्य ही उनके योग्य थे और वही करके उन्होंने लोकहित साधन किया है।

मालूम होता है कि हमारे सब शिक्षित पाठकों ने यह बात नहीं समझी। इसका एक कारण है। बहुतेरे शिक्षित पाठक 'आदर्श' का उलथा 'आइडिअल' करेंगे। उलथा दूषित नहीं होगा। पर बात यह है कि ईसाइयों का भी एक आदर्श है। ईसाइयों का आदर्श पुरुष ईसा है। हम लोगों ने बचपन से ईसाइयों का साहित्य पढ़कर ईसाइयों का आदर्श हृदयगंम कर लिया है। आदर्श पुरुष की बात आते ही हमें वही आदर्श स्मरण आता है। जो आदर्श उस आदर्श से नहीं मिलता, उसे हम ग्रहण नहीं कर सकते। ईसा पतितों का उद्धार करने वाला था। किसी दुष्ट को न उसने मारा और न मारने की उसमें सामर्थ थी। बुद्ध या चैतन्य में हम यही गुण पाते हैं। इसलिए इन्हें आदर्शपुरुष मानने के लिए हम तैयार हैं। परंतु श्री कृष्ण का नाम पतितपावन होने पर भी इतिहास में वह विशेषकर पतित-विनाशी ही प्रसिद्ध हैं। इससे उन्हें हम आदर्शपुरुष के नाम से एकाएक नहीं पहचान सकते हैं। अच्छा, अब हमें एक बात विचारना चाहिए। यह ईसाई आदर्श क्या सचमुच मनुष्यता का आदर्श है? सब जातियों का जातीय आदर्श क्या ऐसा ही होगा?

इस प्रश्न के साथ और एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या हिंदुओं का भी जातीय आदर्श है? क्या हिंदू आइडिअल भी है? यदि है, तो वह कौन है? शिक्षित हिंदुओं से यदि कोई यह प्रश्न करे तो वह अवश्य ही सिर खुजलाकर रह जाएँगे।

शायद कोई जटा बल्कलधारी शुभ्रश्मश्रु सुषोभित व्यास, वशिष्ठादि ऋषियों को पकड़कर खेचेंगा और कोई कह उठेगा, नहीं कुछ नहीं है। सचमुच कुछ नहीं है। अगर होता, तो हमारी ऐसी दुर्दशा क्यों होती? पर एक दिन था, जब हिंदू पृथ्वी की श्रेष्ठ जाति थी। वह आदर्श हिंदू कौन है? इसका उत्तर जैसा मैंने समझा, वह पहले ही दे चुका हूँ। रामचंद्रादि क्षत्रिय हिंदुओं के पौने सोलह आने आदर्श हैं, पूरे सोलह आने श्री कृष्णचंद्र ही हैं। वही मनुष्यता के यथार्थ आदर्श हैं। ईसा आदि का वैसा होना संभव नहीं।

क्यों नहीं संभव है, वह बतलाता हूँ। मनुष्यत्व क्या है, यह "धर्मतत्व" में समझा चुका हूँ। मनुष्य की सब वृत्तियों का पूर्ण विकास और सामंजस्य ही मनुष्यत्व है। जिसकी वृतियों का परम विकास और सामंजस्य हुआ है, वही आदर्श मनुष्य हैं। ईसा में यह बात नहीं है। कृष्ण में है। रोम का सम्राट् ईसा को यदि यहूदियों का शासन भार दे देता, तो क्या वह अच्छी तरह शासन कर सकता? कभी नहीं, क्योंकि राजकाज के लिए जिन वृत्तियों की अवाश्यकता होती है, उसकी वे वृत्तियाँ अनुशीलित नहीं हुई थीं। ऐसे धर्मात्मा शासनकर्त्ता हों तो समाज का मंगल ही है। यह सब जानते हैं कि श्री कृष्ण परम नीतिज्ञ थे, महाभारत में वह बारंबार उत्तम नीतिज्ञ कहे गए हैं। उग्रसेन और युधिष्ठिर उनकी सलाह बिना राज्यशासन का कोई बड़ा काम नहीं करते थे। इस प्रकार श्री कृष्ण ने स्वयं राजा ने होकर भी प्रजा का बहुत कुछ हितसाधन किया था। जरासंध के बंदी राजाओं को छुड़वाना इसका एक उदाहरण है।

अच्छा और सुनिए। अगर यहूदी रोम वालों के अत्याचार से दुःखी होकर स्वाधीनता के लिए खड़े होते और ईसा को सेनापति बनाते तो ईसाजी क्या करते? उनकी लड़ने की न इच्छा थी और न शक्ति ही थी। वह यह कह कर चल देते कि "कैसर का पावना कैसर को दो"[28]। कृष्ण का भी झुकाव लड़ाई की ओर नहीं था पर धर्मार्थ युद्ध के लिए वह सदा तैयार रहते थे। युद्ध में वह सदा विजयी होते थे। ईसा अशिक्षित थे पर कृष्ण सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। और गुणों में भी यही दशा थी। दोनों धार्मिक और धर्मज्ञ थे। इसलिए कृष्ण ही वास्तविक आदर्श मनुष्य थे। ईसाई आदर्श से हिंदू आदर्श श्रेष्ठ है।

ऐसा सर्वगुणसंपन्न आदर्श मनुष्य कार्य विशेष में जीवन अर्पण नहीं कर सकता है। ऐसा करने से और काम अच्छे कैसे नहीं उतरते हैं। मनुष्य चरित्रभेद, अवस्थाभेद और शिक्षाभेद के कारण भिन्न-भिन्न कर्मों और भिन्न-भिन्न साधनों का अधिकारी है। आदर्श मनुष्य का सब तरह के लोगों का आदर्श होना उचित

है। इसलिए बुद्ध, ईसा या चैतन्य की तरह संन्यासी बनकर धर्म प्रचार को व्यवसाय बनाना श्री कृष्ण के लिए असंभव था। कृष्ण संसारी, गृही, राजनीतिज्ञ, योद्धा, दण्डप्रणेता, तपस्वी, और धर्म प्रचारक थे। वह संसारी गृहस्थी के, राजाओं के, योद्धाओं के, राजपुरुषों के, तपस्वियों के, धर्मवेत्ताओं के और फिर संपूर्ण मनुष्यों के एक साथ ही आदर्श हैं। जरासंध आदि का वध आदर्श राजपुरुष और दण्डप्रणेताओं के अनुकरणयोग्य है। यही हिंदू आदर्श है। ईसाई और बौद्ध धर्म अधूरे हैं। उनके आदर्श को अपना आदर्श मानने से हम सर्वांगसुंदर धर्म के आदर्शपुरुष को पहचान न सकेंगे। और पहचानने की बड़ी जरूरत है, क्योंकि इसके भीतर एक और अचरजभरी बात है। क्या यूरोप के ईसाई, क्या भारतवर्ष के हिंदू सब ही आदर्श के विपरीत कर्म कर रहे हैं? ईसाइयों के आदर्श पुरुष विनीत, निरीह, निर्विरोधी और संन्यासी थे, पर आजकल के ईसाई ठीक इसके उलटे हैं। यूरोप इस समय ऐहिक-सुख-रत सशस्त्र योद्धाओं का विस्तृत शिविर मात्र बन गया है। इधर हिंदू धर्म के आदर्श पुरुष सर्वकर्मकृत थे पर आजकल के हिंदू सब कामों में निकम्में हो गए हैं। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि दोनों देश वाले अपना-अपना पुराना आदर्श भूल गए हैं। किसी समय दोनों देशों में ही अपने-अपने आदर्श का अच्छा प्रभाव था। पुराने ईसाइयों की धर्मपरायणता और सहिष्णुता तथा हिंदू राजा और राजपुरुषों की सर्वगुणवत्ता इसका प्रमाण हैं। जबसे हम हिंदू अपने आदर्श को भूल गए और हमने कृष्ण चरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी। जयदेव के कृष्ण की नकल करने में सब लग गए, पर महाभारत के कृष्ण को कोई याद भी नहीं करता है। अब फिर उसी आदर्श पुरुष को जातीय हृदय में बिठाना होगा। आशा है, इस कृष्ण चरित्र से इस काम में कुछ सहायता मिलेगी।

जरासंध वध के संबंध में इन सब बातों के कहने की जरूरत न थी। पर बात पर बात निकल ही आई। यह बातें कहीं न कहीं कहनी ही पड़तीं। इसलिए पहले से कह रखने में लेखक और पाठक दोनों का ही सुबीता है।

VIII : भीम-जरासंध युद्ध

महाभारत में यहाँ तक तो श्री कृष्ण विष्णु नहीं माने गए हैं। न किसी ने उन्हें विष्णु कह कर संबोधन किया और न विष्णु सम उनसे बातचीत ही की। वह भी मनुष्य शक्ति के बाहर कुछ भी करते अब तक नहीं देखे गए। मैं यह बारंबार

कह चुका हूँ कि वह विष्णु के अवतार हों चाहे न हों, पर उनका चरित्र साधारण तौर से मनुष्यका-सा है, देवताका-सा नहीं।

पर अब वह ठौर-ठौर विष्णु माने गए हैं। कोई विष्णु कह कर उन्हें संबोधन करता है और कोई विष्णु समझकर उनकी उपासना करता है। वह भी अलौकिक शक्ति से काम लेते देखे गए हैं। जो बातें पहले नहीं देखीं, वह अब देखने में आती हैं। यह दोनों बातें आपस में एक-दूसरी के विरुद्ध हैं या नहीं? यदि कोई कहे कि नहीं, क्योंकि जब दैवीशक्ति के विकास का प्रयोजन नहीं होता है, तब काव्य या इतिहास में मनुष्य भाव दिखाया जाता है और जब दैवी शक्ति का प्रयोजन होता है तब देवभाव दिखाया जाता है, तो मैं कहूँगा कि यह उत्तर ठीक नहीं। क्योंकि अनेक समय देवभाव का प्रकाश व्यर्थ ही देखा जाता है। इस जरासंध वध से ही इस के दो एक उदाहरण देता हूँ।

जरासंध वध के बाद कृष्ण, भीम और अर्जुन जरासंध के रथ पर चढ़ कर चले। यह रथ देवताओं का बनाया था। इसमें किसी वस्तु का अभाव न था। तो भी कृष्ण ने ख्वाहमख्वाह गरुड़ का स्मरण किया। बस फिर क्या था, गरुड़जी तुरंत आकर रथ के सिरे पर बैठ गए। बस इसके सिवा गरुड़ ने और कुछ नहीं किया। गरुड़जी की वहाँ जरूरत न थी, पर कृष्ण का विष्णुत्व सिद्ध करने के लिए वह बुलाए गए। जरासंध का वध करने के समय दैवी शक्ति की आवश्यकता नहीं हुई, पर रथ पर चढ़ने के समय हो गई।

युद्ध के पहले की भी ऐसी ही एक कथा है। जरासंध ने लड़ने का पक्का इरादा कर लिया, तो कृष्णचंद्र पूछते हैं : "हे राजन्! हम तीनों में से किस के साथ तुम लड़ना चाहते हो? कहो, कौन लड़ने के लिए तैयार हो?" इस पर जरासंध ने भीम से लड़ना पसंद किया। पर इसके दो पंक्ति आगे लिखा है कि कृष्ण ने जरासंध का स्वयं वध नहीं किया, क्योंकि ब्रह्माकी आज्ञा नहीं थी और वह यादवों का अवध्य था। ब्रह्माकी क्या आज्ञा थी, यह महाभारत में नहीं है। पीछे के ग्रंथों में है। इससे क्या यह नहीं मालूम होता कि यह मूल महाभारत में पीछे जोड़ा गया है? और इसका उद्देश्य क्या कृष्ण को चुपके-चुपके विष्णु बनाना नहीं है? पहली तह में कृष्ण और विष्णु का कुछ भी संबंध नहीं दिखाया गया है, क्योंकि कृष्ण चरित्र मनुष्य का चरित्र है, देवताओं का नहीं। दूसरी तह वाले कृष्णोपासक कवियों के हाथों में यह आया, तो उन्हें यह बड़ी भारी भूल मालूम हुई। पीछे के कवियों की कल्पनाएँ उन्हें मालूम थीं। बस, उन्होंने तुरंत अभाव पूरा कर दिया।

इसी प्रकार कैद से छूटे हुए राजा जहाँ कृष्ण को धर्मरक्षा के लिए धन्यवाद

देते हैं, वहाँ भी व्यर्थ ही राजाओं से कृष्ण को 'विष्णु' कहलाया गया है। इसके पहले वह विष्णु या विष्णु अर्थ के किसी नाम से नहीं पुकारे गए। अगर पुकारे गए होते तो मैं मान लेता कि वह विष्णु माने जाते थे। इसी से राजाओं ने भी उन्हें विष्णु कहकर संबोधित किया। यदि यहाँ कृष्ण कुछ ऐसा अलौकिक कार्य कर डालते जो देवताओं के सिवा मनुष्यों से नहीं हो सकता था, तो मैं यहाँ 'विष्णु' शब्द का प्रयोग उचित मान लेता। पर यहाँ वह सब कुछ नहीं है। सबके सामने भीम ने जरासंध को मारा था। कृष्ण ने कुछ नहीं किया। हाँ, उनकी सलाह से काम जरूर हुआ था। पर कैदी राजा इस बारे में कुछ नहीं जानते थे। इसलिए राजाओं का अचानक कृष्ण को विष्णु कह बैठना कदापि ऐतिहासिक या मौलिक नहीं हो सकता। पर इस कथन की संगति स्मरण करते ही गरुड़ के आने से और ब्रह्मा की आज्ञा स्मरण होने से हो सकती है। पर जरासंधवध के किसी अंश से इसका मेल नहीं है। यह तीनों बातें एक ही मनुष्य की करतूत हैं। और तीनों ही बेजड़ हैं। शायद पाठकों ने इसे भली-भाँति समझ लिया होगा।

जिन्होंने नहीं समझा, उन्हें कृष्ण चरित्र की आलोचना से और कुछ फल नहीं होगा। क्योंकि इस बारे में और किसी प्रमाण के मिलने की सम्भावना नहीं है। और जिन्होंने समझ लिया, उनसे प्रश्न है कि जब कृष्ण का विष्णु होना क्षेपक है, तब जरासंध वध पर्वाध्याय में कृष्ण का कपटाचार क्यों नहीं क्षेपक है? दोनों बातें एक ही प्रमाण पर निर्भर हैं। यह दोनों बातें मिलाकर देखने से ठीक मालूम हो जाता है कि जरासंधवध पर्वाध्याय पीछे के कवियों ने लिखा है। इसी से उसमें असंगत बातें पायी जाती हैं। इसमें दो कवियों की लिखावट है, इसका और एक प्रमाण देता हूँ। यह मैं पहले कह आया हूँ कि कृष्ण ने जरासंध का पूर्व वृत्तांत युधिष्ठिर से कहा था। कंस को मार डालने के कारण जरासंध से जो विरोध खड़ा हुआ था उसकी भी बात उस समय उन्होंने कही थी। वह अंश उद्धृत कर चुका हूँ। वह भी सुन लीजिए : वैशम्पायन बोले, ''वृहद्रथ राजा दोनों भार्याओं के संग तपोवन में बहुत दिन तप करके स्वर्ग चला गया। वे लोग जरासंध और चण्डकौशिक के वर पाकर निष्कण्टक राज करने लगे। उसी समय भगवान वासुदेव ने कंस का संहार किया। कंस को मार डालने के कारण कृष्ण और जरासंध में शत्रुता खड़ी हो गयी।''

यह सब तो कृष्ण विस्तारपूर्वक कह चुके हैं, फिर वही बात क्यों दुहराई गइ? इसका कारण है। मूल महाभारत के प्रणेता अद्‌भुत रस के प्रेमी नहीं हैं—उन्होंने कृष्ण से अलौकिक घटनाओं का वर्णन नहीं कराया। यह बड़ी भारी कसर थी,

अब वह पूरी कर दी गई। वैशम्पायन कहते हैं : "महाबली पराक्रमी जरासंध ने पहाड़ों के बीच में कृष्ण को मारने के लिए एक बड़ी गदा निन्नानवे बार घुमाकर फेंक दी। वह गदा मथुरा के अद्भुत कर्मवीर वासुदेव से निन्नानवे योजन दूर जा गिरी। पुरवासियों ने कृष्ण से गदा के गिरने की बात जाकर कही। उसी समय से मथुरा के समीप का वह स्थान, जहँ गदा गिरी थी, गदावसान के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"

अब भी जिनका यह विश्वास हो कि समस्त वर्त्तमान जरासंधवध पर्वाध्याय मूल महाभारत के अंतर्गत है, एक ही व्यक्ति का रचा है और कृष्णादि सचमुच कपट रूप बनाकर जरासंध के पास गए थे, उनसे निवेदन है कि वह हिंदुओं के इतिहास-पुराणों में ऐतिहासिक तत्त्व ढूढ़ने के बदले किसी और शास्त्र की आलोचना करें। क्योंकि इधर कुछ नहीं मिलेगा।

अब जरासंधवध की शेष बातें लिखकर इस पर्वाध्याय का उपसंहार करूँगा। बातें बड़ी सहज हैं। जरासंध ने युद्ध के लिए भीम को पसंद किया। पीछे वह यशस्वी ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन करा क्षात्रधर्म के अनुसार वर्म और किरीट उतारकर भिड़ गया। "उस समय पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वनिता, वृद्ध सब युद्ध देखने को वहाँ इकट्ठे हुए। युद्धस्थल दर्शकों से परिपूर्ण था। चौदह दिन तक युद्ध हुआ।"[29] चौदहवें दिन "वासुदेव ने जरासंध को थका हुआ देखकर भीमकर्मा भीम सेन से पुकारकर कहा, हे कौंतेय! थके हुए शत्रु को पीड़ित करना उचित नहीं। अधिक सताने से मर जाएगा। अब इसे मत सताओ। हे भरतर्षभ! इसके साथ बाहु युद्ध करो।" अर्थात् जिस शत्रु का वध धर्म युद्ध में करना है, उसे भी सताना न चाहिए। पर भीम ने सताकर जरासंध को मारा। भीम का धर्म-ज्ञान कृष्ण का-सा नहीं हो सकता।

जरासंध मारे जाने पर कृष्ण और अर्जुन ने बंदी राजाओं को मुक्त किया, जरासंधवध का यही मुख्य उद्देश्य था। इसलिए राजाओं को मुक्त कर के उन्होंने और कुछ नहीं किया, और वह सीधे अपने घर चले गए। वह हड़पू[30] नहीं थे, पिता के अपराध पर पुत्र का राज्य नहीं छीनते थे। उन्होंने जरासंध को मारकर उसके पुत्र सहदेव को राज्य सिंहासन पर बिठा दिया। सहदेव ने कुछ भेंट चढ़ाई। वह उन्होंने ले ली। कैद से छूटे हुए राजाओं ने कृष्ण से पूछा : "हम सेवकों को क्या आज्ञा होती है।" कृष्ण ने कहा : "राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, आप उन्हीं साम्राज्य चाहने वाले धर्मात्मा की सहायता कीजिए।"

युधिष्ठिर को प्रधान मानकर धर्मराज्य स्थापित करना इस समय कृष्ण के

जीवन का उद्देश्य हो गया था। इसी से वह पद-पद पर इसके लिए उद्योग कर रहे हैं।

इस जरासंधवध में कृष्ण चरित्र की जो विशेष महिमा प्रगट हुई है, वह पीछे के कवियों की दुष्टता के मारे चौपट हो गई है। इसके बाद शिशुपालवध है। उसमें तो और भी लबड़धोंधों हुई हैं।

IX : अर्घाभिहरण

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ आरंभ हुआ। देश देशांतरों के राजाओं, ऋषियों तथा और-और लोगों से सारा नगर भर गया। पाण्डवों ने अपने नातेदारों को अलग-अलग एक-एक काम सौंप दिया जिसमें यज्ञ भली भाँति संपन्न हो जाए। भोजन विभाग का अधिकारी दुःशासन हुआ, सेवा शुश्रूषा का काम संजय को दिया गया। रत्नों की रक्षा और दान-दक्षिणा कृपाचार्य के जिम्मे हुई। भेंट पूजा लेना दुर्योधन के हाथ में रहा। इसी प्रकार सब लोग एक-एक काम पर नियत किए गए। श्री कृष्ण को कौन सा काम मिला था? ब्राह्मणों के चरण धोने का काम।

यह बात समझमें नहीं आई। भृत्यों का काम श्री कृष्ण को क्यों मिला? उनके योग्य क्या और कुछ काम नहीं था? या ब्राह्मणों के पैर धोना ही सबसे बड़ा काम है? क्या आदर्श पुरुष होने के कारण वह रसोइया ब्राह्मणों के भी पैर धोते फिरेंगे? अगर ऐसा ही हो तो मैं मुक्त कण्ठ से कहूँगा कि वह आदर्श पुरुष नहीं हैं। इस बात की मरम्मत कई तरह से की जा सकती है। ब्राह्मणों तथा आजकल के लोगों का कहना है कि श्री कृष्ण ने ब्राह्मणों का गौरव बढ़ाने के लिए ही सब काम छोड़कर उनके पैर धोना स्वीकार किया था। पर यह बात मानने योग्य नहीं है। श्री कृष्ण और क्षत्रियों की तरह ब्राह्मणों का यथा योग्य सम्मान अवश्यक ही करते थे पर उन्हें ब्राह्मणों का गौरव बढ़ाने में विशेष तत्पर कहीं नहीं देखा। बल्कि कहीं-कहीं उन्हें इसके विपरीत करते देखा है। यदि वनपर्व का दुर्वासा का आतिथ्य वृत्तांत मौलिक महाभारत के अंतर्गत समझ लिया जाए तो मानना होगा कि उन्होंने ब्राह्मण देवताओं को पाण्डवों के आश्रम से निकालकर बाहर किया था। वह बड़े साम्यवादी थे। गीता का धर्म यदि कृष्ण का कहा हुआ है तो ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, और चंडाल को एक तरह देखना चाहिए। फिर कब संभव है कि वह ब्राह्मणों का गौरव बढ़ाने के लिए उनके पाँव धोते?

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैवश्वपाकेच पण्डिताः समदर्शिनः।।

कोई यह कह सकता है कि कृष्ण आदर्श पुरुष थे, इससे आदर्श नम्रता दिखाने के लिए उन्होंने यह काम किया था। अगर यही बात हो तो केवल ब्राह्मणों के ही पैर क्यों धोते? वयोवृद्ध क्षत्रियों के क्यों नहीं धोए? और फिर ऐसी नम्रता आदर्श नम्रता मानी भी नहीं जा सकती है। यह नम्रता क्या है?

और कोई यह कहे कि कृष्ण चरित्र समय के उपयोगी है। उस समय ब्राह्मणों पर लोगों की बड़ी भारी भक्ति थी और कृष्ण भी बड़े धूर्त्त थे। इससे उन्होंने नाम के लिए अलौकिक ब्रह्मभक्ति का यह ढोंग रचा था। मैं कहता हूँ कि यह सब कुछ नहीं, यह श्लोक ही क्षेपक है, क्योंकि इसी शिशुपाल वध पर्वाध्याय के चौआलीसवें अध्याय में देखता हूँ कि कृष्ण ने भूदेवों के चरण न धोकर क्षत्रियोचित और वीरोचित कार्य ही किया था। उसमें लिखा है: "महाबाहु वासुदेव ने शंख, चक्र, और गदा धारण कर यज्ञ की समाप्तिक रक्षा की।" शायद यह दोनों बातें ही प्रक्षिप्त हो सकती हैं। इसके लिए विशेष आंदोलन की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है, क्योंकि ये कुछ वैसी गुरुतर बातें नहीं हैं। कृष्ण चरित्र के विषय में ऐसी बातें महाभारत में बहुत मिलती हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। यही दिखलाने के लिए इसकी चर्चा यहाँ कर दी है। कई मनुष्यों के हाथ लगने के कारण ही यह गड़बड़झाला है।

इस राजसूय यज्ञ की महासभा में कृष्ण ने शिशुपाल नाम के प्रवल पराक्रांत महाराज को मारा था। पाण्डवों के साथ रहकर कृष्ण ने बस यहीं अस्त्र धारण किया था। मैं खाण्डवदाह का युद्ध मौलिक नहीं मानता हूँ, यह पाठकों को शायद याद होगा। शिशुपाल वध पर्वाध्याय में बड़ा भारी ऐतिहासिक तत्त्व निहित है। ऐसा ऐतिहासिक तत्त्व महाभारत में और कहीं नहीं है। यह हम देख चुके हैं कि जरासंध वध के पहले श्री कृष्ण मौलिक महाभारत में कहीं भी देवता या अवतार नहीं माने गए हैं। जरासंध वध में वह दबी जबान से ईश्वर कहे गए हैं। इसी शिशुपाल वध में ही उस समय के लोगों ने उन्हें पहले-पहल ईश्वर माना है। कुरुवंश के उस समय के नेता भीष्म ही इसके प्रचारक थे।

अब इतिहास की दृष्टि से यह स्थूल प्रश्न होता है कि जब श्री कृष्ण अपने जीवन के पहले अंश में ईश्वर नहीं माने गए, तब वह पहले-पहल कब माने गए? क्या वह अपनी जीवित दशा में ही ईश्वर माने गए थे? शिशुपाल वध के समय तथा उसके बाद महाभारत में तो कई जगह वह ईश्वर माने गए हैं। पर यह सब प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर देने में कौन सा मत माना जाए?

इस बात का उत्तर अभी कुछ नहीं दिया जाएगा। धीरे-धीरे आप ही इसका

उत्तर मिल जाएगा। हाँ, कहना यह है कि शिशुपाल वध पर्वाध्याय यदि मौलिक महाभारत का अंश है, तो यह समझा जा सकता है कि कृष्ण उस समय ईश्वर माने जा रहे थे। उस समय उनके पक्षी और विपक्षी दोनों ही थे। उनके पक्षवालों में भीष्म और पाण्डव ही प्रधान थे। विपक्षियों का एक नेता शिशुपाल था। शिशुपाल वध के वृत्तांत का सारांश यह है कि उस सभा में भीष्मादि ने कृष्ण को प्रधान बनाना चाहा। शिशुपाल ने इसका विरोध किया। इस पर बड़ा झगड़ा हुआ चाहता था। इतने में श्री कृष्ण ने उसे मार डाला। बस वहीं सारा बखेड़ा तय हो गया। यज्ञ का विघ्न नाश होने से यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया।

इन बातों में सचमुख कुछ ऐतिहासिकता है या नहीं, यह विचारने के पहले देखना होगा कि यह शिशुपाल वध पर्वाध्याय मौलिक है या नहीं? इसका उत्तर सहज नहीं है। शिशुपाल वध के साथ महाभारत की स्थूल घटनाओं का कुछ विशेष संबंध है, यह नहीं कहा जा सकता है। पर संबंध न होने से यह क्षेपक हो जाएगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि इसके पहले कई ठौर शिशुपाल नाम के एक प्रबल पराक्रांत राजा की कथा मिलती है। पर पीछे नहीं। पाण्डवों की सभा में कृष्ण के हाथ से वह मारा गया। इसके विरुद्ध कोई कथा नहीं मिलती है। अनुक्रमणिकाध्याय और पर्वसंग्रहाध्याय में शिशुपाल वध की कथा है। और रचनाप्रणाली भी देखने से वह मौलिक महाभारत का अंश जान पड़ती है। मौलिक महाभारत के और कई अंशों की तरह नाटकांश में इसका बड़ा उत्कर्ष है। इसलिए इसे अलौकिक समझकर छोड़ भी नहीं सकता हूँ।

पर साथ ही इसके यह भी साफ दिखाई देता है कि जरासंध वध पर्वाध्याय में जैसे दो तरह की लिखावट है, वैसे ही इसमें भी है। बल्कि उससे इसमें अधिक अंतर है। इससे मुझे यह सिद्धांत निकालना पड़ता है कि शिशुपाल वध स्थूलरूप से मौलिक तो है, पर इसमें दूसरी तह के कवियों की या पीछे के लेखकों की कलम अच्छी तरह चल गई है।

अब शिशुपाल वध की कथा पूरे तौर से कहता हूँ। बंगाल में यह चलन है कि जब कभी किसी बड़े आदमी के घर सभा होती है तो उसमें जो सबसे प्रधान होता है, उसकी पूजा फूल, चंदन से की जाती है। इसका नाम 'मालाचंदन' है। आजकल भी यह होता है। पर अब गुण देखकर नहीं कुल देख कर 'मालाचंदन' दिया जाता है! कुलीन के घर में गोष्ठीपति को ही मालाचंदन दिया जाता है क्योंकि कुलीनों के लिए गोष्ठीपति का वंश ही बड़ा मान्य है[31]। कृष्ण के समय और चाल थी। उस समय सभा के सर्वप्रधान व्यक्ति को अर्घ दिया जाता था। कुल

नहीं, गुण देखकर मान होता था। युधिष्ठिर की सभा में अर्घ का उपयुक्त पात्र कौन था? भारतवर्ष के समस्त राजा उसमें उपस्थित हुए थे। उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन था? बस यही विचारना है। भीष्म ने कहा : "कृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ हैं। बस उन्हें ही अर्घ दो।"

भीष्म ने यह बात श्री कृष्ण को देवता समझकर कही थी, यह कुछ प्रगट नहीं होता है। उन्होंने कृष्ण को "बल, तेज, और पराक्रम में श्रेष्ठ" समझकर ही अर्घ के योग्य बताया। क्षात्रगुण में वह क्षत्रियों से श्रेष्ठ थे, इसी से उन्हें अर्घ देने कहा था। इससे जाना जाता है कि भीष्म ने श्री कृष्ण का मनुष्यचरित्र ही देखा था।

इस कथा के अनुसार कृष्ण को अर्घ दिया गया और उन्होंने उसे ग्रहण किया। शिशुपाल से यह नहीं देखा गया। उसने लगे हाथ भीष्म, कृष्ण और पाण्डवों को फटकारते हुए एक व्याख्यान झाड़ दिया। यह व्याख्यान अगर विलायत की पालिर्यामेण्ट महासभा में होता तो उसकी जैसी चाहिए वैसी कदर होती। व्याख्यान का पहला भाग तो बड़ा विशुद्ध और तीव्र है। उसने कहा कि कृष्ण राजा नहीं हैं, फिर इतने राजाओं के रहते उन्हें अर्घ क्यों दिया गया? अगर वृद्ध समझकर कृष्ण की पूजा की गई तो उसके बाप वसुदेव की पूजा क्यों नहीं हुई? क्या आपका नातेदार और हित चाहने वाला समझकर तुमने पूजा की है? तो फिर ससुर द्रुपद के रहते उसकी पूजा क्यों की? कृष्ण को क्या आचार्य[32] समझा है? फिर द्रोणाचार्य के रहते उसकी पूजा क्यों? क्या ऋत्विक समझकर उसे अर्घ दिया है? तो वेदव्यास के[33] रहते उसे क्यों? इत्यादि-इत्यादि।

शिशुपाल बोलते-बोलते और वक्ताओं के तरह जोश में आ गया। फिर वह तर्क छोड़कर अलंकार में आ गया, विचार छोड़कर गालियाँ बकने लगा। पाण्डवों को छोड़कर कृष्ण पर हाथ साफ करने लगा। उसने पहले तो 'प्रियचिकीर्षु', 'अप्राप्तलक्षण' आदि कहकर मीठी चुटकी ली पीछे 'धर्मभ्रष्ट', 'दुरात्मा' आदि तक कह डाला। अंत में 'घी चाटने वाले कुत्ते', और 'ब्याहे हिजड़े'[34] तक की नौबत पहुँची। क्षमा के परमाधार, परम योगी आदर्श पुरुष श्री कृष्ण ने सुनकर कुछ उत्तर नहीं दिया। उनमें ऐसी शक्ति थी जिससे वह उसी समय उसका कचुमर निकाल देते : यह आगे चलकर पाठकों को मालूम हो जाएगा। कृष्ण ने पहले कभी ऐसे कड़े वचन नहीं सुने थे। पर तो भी उन्होंने इस तिरस्कार की ओर भ्रूक्षेप भी नहीं किया। यूरोप वालों की तरह उन्होंने पुकारकर नहीं कहा : "शिशुपाल! क्षमा बड़ा धर्म है, इसलिए मैं तुझे क्षमा करता हूँ।" चुपचाप उन्होंने

उसे क्षमा किया।

युधिष्ठिर निमंत्रित राजाओं को क्रुद्ध होते देखकर उनकी सांत्वना की, क्योंकि घर का मालिक ऐसा करता ही है। वह मीठे वचनों से उसे समझाने लगा। बूढ़े भीष्म का मिजाज कड़ा था। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने साफ-साफ कह दिया : "कृष्ण की पूजा जिसे नहीं भायी उसे समझाना या उसकी खुशामद करना उचित नहीं है।" फिर कुरु-वृद्ध भीष्म अर्थयुक्त वाक्यों से कृष्ण के पूजे जाने के कारण बताने लगे। उन वाक्यों का मर्म यहाँ देता हूँ। पर इनके भीतर एक रहस्य है, वह पहले बता देता हूँ। कई वाक्यों का यही तत्पर्य है कि मनुष्यों के, विशेषकर क्षत्रियों के, जो गुण हैं उनमें कृष्ण ही सबसे श्रेष्ठ हैं। इससे वह अर्घ के योग्य हैं। यहाँ कुछ वाक्य ऐसे भी हैं जिनमें भीष्म कहते हैं कि कृष्ण स्वयं जगदीश्वर हैं, इस हेतु वह सबके पूजनीय हैं। मैं दोनों प्रकार के वाक्य अलग-अलग लिखता हूँ, पाठक उनका अभिप्राय समझने की चेष्टा करें।

भीष्म ने कहा : "राजाओं की इस महासभा में ऐसा एक भी राजा दिखाई नहीं देता, जिसे कृष्ण ने पराजय न किया हो।"

यह तो हुआ मनुष्यत्ववाद। अब देवत्ववाद सुनिए : "अच्युत केवल हमारे ही पूज्य नहीं, वह तीनों लोकों के पूज्य हैं। उन्होंने युद्ध में असंख्य क्षत्रियों को पराजित किया है और अखण्ड ब्रह्माण्ड उनमें ही प्रतिष्ठित है।"

फिर मनुष्यत्ववाद लीजिए : "कृष्ण ने जन्म से जो सब काम किए हैं लोगों ने वह मुझसे बारं-बार कहा है। उनके बालक होने पर भी, हम उनके कामों की आलोचना करते रहते हैं। कृष्ण की शूरता, वीरता, कीर्त्ति और विजय आदि सब जानकर..."

साथ ही देवत्ववाद भी देखिए : "प्राणियों को सूख देने वाले जगन्मान्य उस अच्युत की पूजा करने को कहा है।"

अब फिर स्पष्ट मनुष्यत्व लीजिए :

"कृष्ण के पूज्य होने दो दो कारण हैं, वह निखिल वेद-वेदांग के पारदर्शी और अधिक बलशाली हैं इसलिए मनुष्य लोक में उनसा बलवान और वेद-वेदांग का जानने वाला दूसरा मनुष्य मिलना बड़ा कठिन है। दान, दक्षिण्य, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्त्ति, बुद्धि, विनय, अनुपम श्री, धैर्य, और संतोष आदि सब गुण कृष्ण में सदा विराजमान हैं। इसलिए आचार्य, पिता, और गुरु के समान पूज्य सर्वगुणसंपन्न कृष्ण को क्षमा प्रदर्शन करना तुम्हारा सब तरह से कर्त्तव्य है। वह ऋत्विक गुरु, नातेदार, स्नातक, राजा और प्रिय पात्र हैं। इसी हेतु अच्युत अर्चित

हुए हैं।''[35]

देवत्व फिर आ पहुँचा : ''कृष्ण ही इस चराचर विश्व के सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्त्ता हैं। यही अव्यक्त प्रकृति, सनातन, कर्त्ता और सब प्राणियों के स्वामी होने के कारण परम पूजनीय हैं, इसमें और क्या संदेह है? बुद्धि, मन, महत्तत्व, पृथिव्यादि पंचभूतों का समुदाय कृष्ण में है। चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, दिक्-विदिक् सब ही कृष्ण में हैं''—इत्यादि।

भीष्म ने कृष्ण के पूज्य होने के दो कारण बताए हैं—एक तो यह कि वह बल में सबसे श्रेष्ठ हैं। और दूसरे, उनके समान वेद-वेदांग-पारदर्शी दूसरा कोई नहीं है। उनके अद्वितीय पराक्रम के प्रमाण इस पुस्तक में बहुत दिए गए हैं। और उनके वेदज्ञ होने का प्रमाण गीता है। जिसे हम गीता समझकर पाठ करते हैं, वह कृष्ण की बनाई नहीं है। यह व्यास की बनाई 'वैयासिकी संहिता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचने वाले व्यासजी हों चाहे और कोई हो, पर रचने वाले ने श्री कृष्ण के मुँह से निकली हुई बातें नोट करके यह गीता नहीं रची है। मुझे तो यह मौलिक महाभारत का अंश भी नहीं मालूम होती है। पर इसे मैं कृष्ण के धर्म-विचार का संग्रह मानता हूँ। कृष्ण के किसी मनीषी मतानुयायी ने संग्रह करके महाभारत में मिला दिया है। यही संगत भी जान पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीतोक्त धर्म जिसका कहा हुआ है, वह अवश्य ही अद्वितीय वेदज्ञ विद्वान था। वह धर्म के विषय में वेदों को सबसे ऊँचा स्थान नहीं देता था। बल्कि कभी-कभी उनकी निंदा कर देता था। जो हो अद्वितीय वेदज्ञ के बिना किसी दूसरे का बनाया यह गीतोक्त धर्म नहीं है। जो गीता और वेद दोनों पढ़ते हैं, वह यह बात अनायास ही समझ सकते हैं।

जो पराक्रम और पाण्डित्य में, वीरता और शिक्षा में, कर्म और ज्ञान में, नीति और धर्म में, दया और क्षमा में, समान ही सबसे श्रेष्ठ है, वही आदर्श पुरुष है।

X : शिशुपाल वध

भीष्म ने अंत में शिशुपाल से फटकार कर कह दिया : ''कृष्ण का पूजा जाना यदि तुम्हे अच्छा न लगता हो तो तुम्हारी जो इच्छा हो वह करो।'' अर्थात् उठ जाओ। इसके बाद जो कुछ हुआ वह महाभरत में यों लिखा है : कृष्ण को पूजे जाते देखकर सुनीथ नाम का एक महाबली वीर पुरुष क्रोध से काँपता हुआ आँखें लाल-लाल करके सब राजाओं से बोला : ''मैं पहले सेनापति था, अब यादवों और पाण्डवों का वंश संहार करने के लिए आज ही समर-सागर में कूदूँगा।'' चेदी

का राजा शिशुपाल राजाओं के अविचलित उत्साह से उत्साहित हो यज्ञ में विघ्न डालने के लिए उनके साथ मंत्रणा करने लगा। युधिष्ठिर का यज्ञ और कृष्ण की पूजा जिसमें न हो, बस यही चेष्टा वह कर रहा था। कृष्ण ने राजाओं को आत्मग्लानि से क्रोध के वशीभूत हो परामर्श करते देखकर समझ लिया कि यह युद्ध के लिए गुट बांध रहे हैं।''

राजा युधिष्ठिर ने राजाओं के क्रोध को समुद्र की तरह उमड़ते देखकर सबसे धीमान् भीष्म पितामह से कहा : ''सब राजा बिगड़ खड़े हुए हैं, अब क्या करना चाहिए, कहिए।'' यदि शिशुपाल मारा न जाता, तो वह राजाओं से मिलकर यज्ञ नष्ट कर देता। बस इसी से वह मारा गया था।

शिशुपाल ने फिर कृष्ण और भीष्म को गालियाँ दीं। इस बार की गालियाँ और भी तीखी थीं। यथा, 'दुरात्मा' जिससे बालक भी घृणा करता है, 'गोपाल' अर्थात् ग्वाला और दास इत्यादि। परम योगी श्री कृष्ण पुनः क्षमा करके चुप रहे। कृष्ण जैसे बल के आदर्श हैं, वैसे क्षमा के भी हैं। भीष्म पहले तो कुछ नहीं बोले पर भीम गुस्से में आकर शिशुपाल की ओर झपटा। भीष्म उसे रोककर शिशुपाल की पूर्व कथा सुनाने लगे। यह कथा असंभव, और अनैसर्गिक होने के कारण विश्वास के योग्य नहीं है।

यह कथा यों है : ''शिशुपाल जब हुआ था, तब उसके तीन आँख और चार हाथ थे और वह गदहे की तरह चिल्लाया था। उसके माता-पिता ने पुत्र के यह कुलक्षण देखकर उसे फेंक देना चाहा। इतने में आकाशवाणी हुई। (उस समय जो लोग किस्से गढ़ते थे उनका काम देववाणी का सहारा लिए बिना नहीं चलता था।) आकाशवाणी हुई कि : ''यह बड़ा अच्छा लड़का है, इसे मत फेंको, इसे भली भाँति पालो-पोसो, यम भी इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, पर हाँ, इसका मारने वाला पैदा हो गया है।''

इस पर मां-बाप जरूर ही पूछेंगे और उन्होंने पूछा भी कि 'आकाशवाणीजी, नाम तो बता दो, कौन मारेगा?'' आकाशवाणी इतना बक गई पर उसने नाम नहीं बताया। अगर नाम बता देती तो किस्से की बंदिश की दिलचस्पी चली जाती। इसलिए आकशवाणीजी ने यही कहा कि ''जिसकी गोद में जाने से इसके फालतू दोनों हाथ गिर पड़ेंगे और फालतू आँख बंद हो जाएगी, वही इसे मारेगा।''

बस फिर क्या था। शिशुपाल का बाप जबरदस्ती सबकी गोद में बेटे को बिठाने लगा। पर न हाथ झड़े और न आँख बंद हुई। कृष्ण और शिशुपाल शायद एक ही उम्र के थे, क्योंकि दोनों ही रुक्मिणी के उम्मीदवार हुए थे। और

आकाशवाणी ने भी कहा था कि ''इसका मारने वाला पैदा हो गया है।'' पर तो भी कृष्ण ने द्वारका से चेदी जाकर शिशुपाल को गोद में लिया। बस गोद में लेते ही उसके फालतू दोनों हाथ और एक आँख गायब हो गयी।

शिशुपाल की माता कृष्ण की फूफी थी। वह कृष्ण की बहुत आरजू मिन्नत करके बोली : ''बेटा! मेरे बच्चे को मत मार डालना।'' कृष्ण ने कहा, ''अच्छा, वध के योग्य सौ अपराध क्षमा करूँगा।''

अस्वाभाविक बातों पर मेरा विश्वास नहीं है। शायद पाठकों का भी न होगा। किसी इतिहास में अस्वाभाविक घटना देखने से लोग उसके लेखक की या उसके पूर्वजों की कल्पना मान लेंगे। जो क्षमा और कृष्ण चरित्र का महत्त्व नहीं जातना है, उसने शिशुपाल को क्षमा कर देने का कारण लोगों को समझाने के लिए यह किस्सा गढ़ डाला है, पर वास्तव में वह स्वयं कृष्ण की अद्‌भुत क्षमाशीलता नहीं समझ सका है। अंधा अंधे को समझाता है कि हाथी मूसल के समान है। असुरों के वध के लिए जिन कृष्ण का अवतार हुआ वह असुरों का अपराध देख क्षमा कर देंगे, यह बात संगत नहीं जान पड़ती है। कृष्ण असुरों के वध के निमित्त अवतीर्ण हुए थे, यह मानने पर उनके इस क्षमागुण का रहस्य भी समझ में नहीं आता है और न कोई दूसरा गुण ही समझ में आता है। परंतु उन्हें आदर्शपुरुष मानने पर, मनुष्यत्व के आदर्श के विकास के लिए ही वह अवतीर्ण हुए मान लेने पर, उनके सब काम भलीभाँति समझ में आ जाते हैं। कृष्ण चरित्ररूपी रत्नभण्डार के खोलने की कुंजी यह आदर्श पुरुषतत्व ही है।

शिशुपाल की दो-चार गालियां सह लेने के कारण ही कृष्ण के क्षमागुण की प्रशंसा करता हूँ, यह मत समझिए। शिशुपाल ने इसके पहले कृष्ण पर बड़े-बड़े अत्याचार किए थे। कृष्ण जब प्राग्ज्योतिषपुर गए थे तब मौका पाकर द्वारका में आग लगाकर वह भग गया था। शायद भोजराज के रैवतक पर विहार के लिए जाने पर उसने कई यादवों को मारा और कैद कर दिया था। वसुदेव के अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया था। उस समय के क्षत्रिय इसे बड़ा भारी अपराध मानते थे। कृष्ण ने यह सब अपराध क्षमा किए थे। उन्होंने केवल शिशुपाल के ही अपराध क्षमा किए थे, ऐसा मत समझिए। जरासंध ने उन्हें बहुत तंग किया था। यह मैं दिखा चुका हूँ कि कृष्ण स्वयं या दूसरे की सहायता से जरासंध का संहार कर सकते थे। पर जब तक वह राजाओं को कैद कर के पशुपति के आगे बलि देने को तैयार नहीं हुआ तब तक उन्होंने उसके विरुद्ध कुछ नहीं किया। युद्ध करने से व्यर्थ प्राणियों की हत्या होगी, यह सोच कर वह स्वयं टल गए

और रैवतक पर किला कर बना कर रहने लगे। इसी तरह शिशुपाल भी अब तक उन्हें ही तंग करता रहा, वह चुपचाप सहते रहे। पर जब उसने पाण्डवों के यज्ञ में और धर्मराज्य संस्थापन में विघ्न डालने को सिर उठाया, तब उन्होंने उसे मार डाला। आदर्श पुरुषों की क्षमा क्षमापरायणता का आदर्श है। इस हेतु कृष्ण अपने अनिष्ट करने वाले को कुछ नहीं कहते थे। पर आदर्श पुरुष दण्डदाताओं के भी आदर्श हैं, इस हेतु समाज के अनिष्ठकर्त्ता को वह दण्ड देते थे।

कृष्ण की क्षमाशीलता की बात उठने पर कर्ण और दुर्योधन पर उन्होंने जो क्षमा की है, उसका उल्लेख किए बिना नहीं रहा जाता। यह उद्योगपर्व की कथा है। अंभी इसके बारे में कुछ नहीं कहूंगा। कर्ण और दुर्योधन ने जिस अवस्था में श्री कृष्ण को फंसाने का उपाय किया था उसमें पड़कर ईसा के सिवा शायद और कोई अपने शत्रु को क्षमा नहीं करता, पर श्री कृष्ण ने उन्हें क्षमा कर दिया और पीछे भाई की तरह कर्ण से वार्तालाप किया। महाभारत के युद्ध में भी उनके ऊपर कभी शस्त्र नहीं उठाया।

भीष्म ओर शिशुपाल में ठांय-ठांय हो गई। भीष्म ने कहा : "शिशुपात कृष्ण के तेज से ही तेजस्वी बन रहा है। अभी वह तेज हरण करेंगे।" शिशुपात ने भीष्म को बहुत ऊँची-नीची सुनाकर कहा : "तुम्हारा जीवन इन भूपालों के हाथ में है। वे चाहें तो अभी तुम्हारा संहार कर सकते हैं।" भीष्म उस समय के क्षत्रियों में श्रेष्ठ योद्धा थे। वह बोले : "मैं इन्हें एक तिनके के समान भी नहीं समझता हूँ।" सुनते ही भूपाल सब चिल्ला उठे : "भीष्म को पशु की तरह मार डालो या आग में जला दो।" भीष्म ने उत्तर दिया कि "जो मन से आवे करो, मैं तुम्हारे सिर पर लात मारता हूँ।"

बूढ़े बाबा से बातों और बल में पार पाना कठिन था। उन्होंने राजाओं को झगड़ा तय करने का सहज उपाय बता दिया। बोले : "अच्छ, कृष्ण की पूजा से आप लोग नाराज हैं, तो झगड़े की क्या जरूरत है, वह सामने बैठे हैं उनसे दो-दो हाथ हो जाए। जिसकी इच्छा मरने की हो वह उन्हें ललकार कर देख ले।" यह सुनकर भला शिशुपाल कब चुप रहने वाला था। वह कृष्ण को पुकार कर बोला : "आओ, हो जाए सफाई।"

अब कृष्ण ने मुँह खोला। पर वह शिशुपाल से कुछ न बोले। कृष्ण क्षत्रिय थे। क्षत्रिय युद्ध के लिए ललकारे जाने पर कभी पीछे पैर नहीं देता है। इसलिए अब कृष्ण को भी टालमटोल करने की जगह न रही और धर्म के विचार से भी युद्ध आवश्यक हुआ, तो बस कृष्ण ने सब का संबोधन कर शिशुपाल के अपराधों

को एक-एक कर कह सुनाया और कहा : ''अब तक क्षमा करता आया, पर अब नहीं करूँगा।''

यहाँ कृष्ण की बातों से यह भी प्रगट होता है कि उन्होंने अपनी बूआ के अनुरोध से शिशुपाल के अपराध क्षमा किए थे। यहाँ पाठक कह सकते हैं कि यह कथा प्रक्षिप्त है। शायद हो, पर मैं प्रक्षिप्त होने का कुछ कारण नहीं देखता हूँ। इसमें कुछ भी अनैसर्गिकता नहीं है, वरंच यह पूर्णरूप से स्वाभाविक और संभव है। शिशुपाल दुष्ट और कृष्ण का शत्रु था। कृष्ण जबरदस्त थे। वह अनायास ही शिशुपाल को मक्खियों की तरह मार सकते थे। ऐसी हालत में फूफी का भतीजे से लड़के के बचाव के लिए अनुरोध करना नितांत संभव है। क्षमापरायण कृष्ण अपने स्वभाववश शिशुपाल को क्षमा करने पर भी अपनी फूफी का अनुरोध स्मरण रखें, यह भी संभव है। फूफी के बेटे को मार डालना निंदा का काम है। कहने वाले यह भी कह सकते हैं कि कृष्ण ने अपनी फूफी का कुछ भी मुलाहजा न किया। पर इसका कुछ कारण भी दिखालाना चाहिए। कृष्ण का यह करना बहुत संगत है।

इसके बाद फिर एक अस्वाभाविक लीला है। श्री कृष्ण ने शिशुपाल के वध के लिए अपने चक्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह उनके हाथ में आ पहुँचा। और श्री कृष्ण ने उससे शिशुपाल का सिर काट डाला। शायद पाठक इस अस्वाभाविक घटना को ऐतिहासिक नहीं मानेंगे। जो यह कहेंगे कि कृष्ण अवतार हैं, ईश्वर के लिए सब ही संभव है, उनसे प्रश्न है कि यदि चक्र से शिशुपाल का वध करना था तो फिर कृष्ण को मनुष्य शरीर धारण करने की क्या जरूरत थी? चक्र तो जीवनधारियों की तरह आज्ञानुसार चल फिर सकता है, बस विष्णु शिशुपाल के वध के लिए उसे ही वैकुण्ठ से भेज देते। इन कामों के लिए मनुष्य शरीर धारण की क्या आवश्यकता थी? ईश्वर क्या अपने स्वाभाविक नियम से या केवल अपनी इच्छा के अनुसार किसी मनुष्य को मार नहीं सकता, जो उसे इतने से काम के लिए मनुष्य बनना पड़ेगा? और मनुष्य बनने पर भी वह क्या ऐसा बलहीन हो जाएगा कि एक मनुष्य से भी मुकाबला न कर सकेगा और उसे दैवी शक्ति से दैवी अस्त्र बुलवाना पड़ेगा? यदि ईश्वर की शक्ति इतनी कम हो, तो मनुष्य से उसका अंतर बहुत कम हो जाएगा। मैं भी कृष्ण को ईश्वर मानता हूँ—पर मेरी समझ से वह मनुष्य की शक्ति के सिवा दूसरी शक्ति से काम नहीं लेते थे। वह मनुष्य शक्ति से ही सब काम करते थे। चक्र का स्मरण करके बुलाना अस्वाभाविक, अलीक तथा क्षेपक है। कृष्ण ने शिशुपाल को युद्ध में मारा

था, यह महाभारत से ही प्रमाणित होता है।

उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र शिशुपाल वध का वृत्तांत यों कहता है : "राजसूय यज्ञ में चेदी का राजा और करुषक, आदि नरपति सब प्रकार से प्रस्तुत हो कर से वीरों को लेकर एकत्र हुए थे। उनमें चेदी का राजकुमार सूर्य के सदृश प्रतापशाली, श्रेष्ठ धनुर्धर और युद्ध में अजेय था। भगवान् कृष्ण ने उसे क्षण भर में ही पराजय कर क्षत्रियों का उत्साह भंग कर दिया था। करुषक के राजा ने तथा और क्षत्रिय राजाओं ने शिशुपाल को आसमान पर चढ़ाया था, वह सिंह सदृश कृष्ण को रथ पर बैठे देख कर मृगछौने की तरह चंपत हो गए। कृष्ण ने अनायास शिशुपाल को मार कर पाण्डवों का यश ओर मान बढ़ा दिया।"

यहाँ तो चक्र की कुछ भी चर्चा नहीं है। मनुष्य की तरह रथ पर सवार हो लड़ने गए और उन्होंने वहाँ शिशुपाल तथा उसके साथियों को मनुष्य की तरह लड़कर परास्त किया। जहाँ एक ही घटना का वर्णन दो प्रकार से हो, एक तो स्वाभाविक और दूसरा अस्वाभाविक, तो वहाँ अस्वाभाविक को छोड़ कर स्वाभाविक वर्णन को ही ऐतिहासिक समझना युक्तिसंगत है। जो पुराणों और इतिहास में सत्य का अनुसंधान करते हैं, वह यह सीधी-सी बात याद रखें नहीं तो सब परिश्रम वृथा हो जाएगा।

शिशुपाल वध में स्थूल ऐतिहासिक तत्व यह मिला है : राजसूय की महासभा में सब क्षत्रियों की अपेक्षा श्री कृष्ण श्रेष्ट माने गए। इस पर शिशुपाल आदि क्षत्रिय बिगड़ उठे। यज्ञ विध्वंस करने की इच्छा से उन्होंने युद्ध छेड़ा। कृष्ण ने युद्ध में सबको परास्त कर शिशुपाल को मार डाला। पीछे यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ।

श्री कृष्ण को युद्ध से प्रायः बचते देखा है। फिर अर्जुन आदि वीरों के रहते यज्ञ में विघ्न डालने वालों से वह क्यों भिड़ गए? इसका कारण यह है कि यज्ञ का भार श्री कृष्ण के ऊपर था, यह पहले ही कह चुका हूँ। जिसके ऊपर जिस काम का भार रहता है, उसके लिए वह कर्त्तव्य कर्म हो जाता है। अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही श्री कृष्ण ने युद्ध में शिशुपाल का वध किया था।

XI : पाण्डवों का वनवास

राजसूय यज्ञ हो जाने पर कृष्ण द्वारका वापिस गए। सभापर्व में वह कहीं नहीं मिलते। एक जगह उनका नाम मिला है।

युधिष्ठिर जूए में द्रौपदी को हार गया। इसके बाद द्रौपदी की चोटी खसोटी

गयी और चीर खेंचा गया। महाभारत में इस स्थान की जैसी सुंदर काव्यरचना है, वैसी संसार के और किसी साहित्य में दुर्लभ है। यहाँ काव्य की आलोचना नहीं करनी है। देखना यह है कि इसका ऐतिहासिक मूल्य कुछ है या नहीं। दुःशासन सभा में द्रौपदी का चीर पकड़कर खेंचने लगा तो निरूपाय होकर द्रौपदी ने मन ही मन कृष्ण को पुकारा :

गोविंद द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।

इस विषय में जो कुछ कहना था, वह पहले ही कह चुका हूँ।

फिर वनपर्व है। वनपर्व में केवल तीन बार श्री कृष्ण से भेंट होती है। पहले तो पाण्डवों का वन जाना सुनकर वृष्णि-भोज उनसे मिलने आए थे, कृष्ण भी उनके साथ थे। यह संभव है। पर जिस भाग में इसका वर्णन है, वह महाभारत की न पहली तह है और न दूसरी ही है। इसकी बिल्कुल बेमेल लिखावट है। चरित्र की समता तो कुछ भी नहीं है। कृष्ण को गुस्सा होते कभी नहीं देखा, पर यहाँ तो युधिष्ठिर के पास आते ही बिना कारण वह बेतरह लाल पीले हो गए। न कोई शत्रु वहाँ था और न किसी ने कुछ कहा था। दुर्योधनादि को मार डालना होगा, बस इसीलिए यह नाराजी थी। युधिष्ठिर ने बहुत समझा बुझाकर उन्हें ठंडा किया। जिस कवि ने लिखा है कि कृष्ण ने महाभारत में अस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा की है, उसने निश्चय ही यह भाग नहीं लिखा है। पीछे घुसड़पँच दुःखी कृष्ण से यह बुलवाया है : "मेरे रहते क्या यह होने पाता? मैं घर नहीं था।" युधिष्ठिर ने पूछा : "तब तुम कहाँ थे?" इस पर शाल्व-वध की कथा निकली। कृष्ण का शाल्व के साथ युद्ध हुआ था उसका वर्णन है। यह अद्भुत कथा है। शाल्व की राजधानी का नाम सौभ था। वह आकाश में उड़ा करती थी। शाल्व वहीं से युद्ध करता था। कृष्ण का भी उससे सामना हुआ। युद्ध के समय कृष्ण बहुत रोए धोए। शाल्व ने माया का वसुदेव बनाकर कृष्ण के सामने उसके दो टुकड़े कर डाले। बस कृष्ण देखकर रोते-रोते मूर्छित हो गए। यह ईश्वर का चरित्र नहीं है और न मनुष्य का ही है। अनुक्रमणिकाध्याय और पर्वसंग्रहाध्याय में इसका कुछ भी उल्लेख नहीं है। इसलिए इन किस्सों की आलोचना करना वृथा है। मैं समझता हूँ पाठकों की भी यही राय होगी।

इसके बाद दुर्वासा ऋषि सशिष्य मोजूद हैं। यह कथा बिल्कुल ही अस्वाभाविक है। अनुक्रमणिकाध्याय में होने पर भी इसका कुछ ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। इसलिए यह भी आलोचना के योग्य नहीं है। वनपर्व के मार्कण्डेय-समस्या पर्वाध्याय में

जाकर कृष्ण फिर मिलते हैं। पाण्डव काम्यक वन में आए हैं, सुनकर कृष्ण उनसे मिलने आए। अबके वह अकेले नहीं थे साथ में छोटी रानी को भी लेते आए थे। मार्कण्डेय-समस्या पर्वाध्याय को एक बड़ी पुस्तक कह सकते हैं। पर महाभारत से संबंध रखने वाली उसमें एक बात भी नहीं है। वह सारे का सारा क्षेपक ही जान पड़ता है। पर्वसंग्रहाध्याय में मार्कण्डेय-समस्या पर्वाध्यायकी कथा है पर अनुक्रमणिकाध्याय में नहीं है। महाभारत की पहली और दूसरी तहों से इसका कुछ भी मेल नहीं है। पर मौलिक महाभारत का यह अंश है या नहीं, इसके विचारने का कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि कृष्ण ने यहाँ कुछ नहीं किया है। आकर युधिष्ठिर और द्रौपदी से दो चार मीठी-मीठी बातें भर की हैं। फिर मार्कण्डेय ऋषि से कहानियाँ सुनीं।

इसके बाद द्रौपदी और सत्यभामा में बातचीत हुई। पर्वसंग्रहाध्याय में द्रौपदी-सत्यभामा संवाद है, पर अनुक्रमणिका में नहीं है। यह पहले ही कह चुका हूँ कि यह क्षेपक है। फिर विराटपर्व है। इसमें कृष्ण के दर्शन नहीं होते। हाँ, अंत में उत्तरा के विवाह के समय आप आ पहुँचते हैं। आकर आपने जो कुछ कहा, वह उद्योगपर्व में है। उद्योगपर्व में श्री कृष्ण की बहुत सी बातें हैं। धीरे-धीरे सबकी आलोचना होगी।

संदर्भ

1. पहले ही कह चुका हूँ कि महाभारत के पर्वसंग्रहाध्याय में लिखा है कि वेदव्यास ने महाभारत का संक्षिप्त वृतांत अनुक्रमणिकाध्याय के 150 श्लोकों में लिख दिया है। इस अनुक्रमणिका के संक्षिप्त विवरण में द्रौपदी के स्वयंवर की कथा है। पर पाँचों पाण्डवों के साथ उसका ब्याह हुआ था, यह नहीं है। अर्जुन ने ही उसे प्राप्त किया था, बस इतना ही उसमें है :

   समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्त्तुः स्वयंवराम्।
   प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्मा सुदुष्करम्।।125।।
2. बंगला महाभारत के रचयिता। हिंदी के जैसे सबलसिंह चौहान। भाषांतरकार।
3. हरिवंश तथा पुराणों में विश्वास योग्य बातें नहीं मिलती हैं।
4. यह पीछे दिखाऊँगा कि यह वाक्य महाभारत में नहीं है। यह कथक्कड़ों की संस्कृत है।
5. इसी कारण मूर आदि विलायती विद्वानों ने कृष्ण को शैव ठहराया है।
6. यह नवाबों के जमाने में बंगाल में जारी था। यह अंगरेजी गज से बड़ा है। भा. का.
7. श्रीयुत सत्यव्रत सामश्रमीकृत भाषांतरसे।
8. अर्थात् कम्पिला पाँचाल देश का एक शहर है। इसलिए सुभद्रा उस जिले के राजा की रानी मालूम होती है। आज कल भी कम्पिल नामका स्थान फर्रुखाबाद जिले में है। भा. का.

9. हिंदीभाषाभाषियों में चंद्रकांता आदि। भाषांतरकार।
10. 'इंडियन स्पेकटेटर' के संपादक मिस्टर बहरामजी मालावारी बड़े कट्टर सुधारक थे। पारसी होने पर भी हिंदुओं के सामाजिक सुधार के लिए उधार खाए बैठे रहते थे। राज कर्मचारियों में इनका बड़ा सम्मान था। बंबई के लाट की कौन कहे बड़े लाट तक इनसे मिलने इनके घर जाते थे। यह उपाधियों को सदा व्याधि समझते थे। इससे इन्होंने एक नहीं दो बार 'नाइट' बनने से इनकार करके अपने नाम के आगे 'सर' न लगने दिया। भाषांतरकार
11. महाभारत के अनुशासनपर्व में जो विवाहतत्त्व है, उसका उल्लेख मैंने नहीं किया, क्योंकि वह क्षेपक है। भीष्म ने उसमें राक्षस ब्याह को निंदित और निषिद्ध कहा है। पर वह स्वयं कर्त्तव्याकर्त्तव्य स्थिर करके काशी के राजा की तीनों कन्याएँ हर लाए थे। इसलिए भीष्म का राक्षस विवाह को निंदित ओर निषिद्ध समझना सम्भव नहीं। भीष्म चरित्र से प्रगट होता है कि वह निंदित और निषिद्ध कर्म प्राणांत होने पर भी नहीं करते थे। जिस कवि ने उनका चरित्र लिखा है, उसने उनके मुँह से ऐसी बातें कभी नहीं कहलायीं।
12. वंकिम बाबू ने और सब शंकाओं का तो समाधान किया पर इसके बारे में कुछ नहीं कहा कि अर्जुन का ब्याह सुभद्रा से कैसे हो गया, क्योंकि वह उसकी ममेरी बहन थी। भाषांतरकार।
13. पाठकों ने देखा! कृष्ण एक और तो विष्णु के बाल थे और यहाँ प्राचीन ऋषि हो गए। अब आगे विष्णु के अवतार होंगे। इस बात के खण्डन-मण्डन की आवश्यकता नहीं। मुझे तो कृष्ण चरित्र की आलोचना करनी है।
14. ''धर्म के असंख्य हाथ हैं। धर्म का अनुष्ठान चाहे जैसे करो, वह निष्फल नहीं जाता है।'' महाभारत शांतिपर्व, 74 अध्याय।
15. Sermon by Dr. Brookly, dellivered at Trinity Church, Boston, March 25, 1885.
    मैं श्री कृष्ण के विषय में ठीक यही बात कहता हूँ।
16. दो चार ठौर जहाँ उन्होंने ऐसा कहा है वह क्षेपक है, यह यथास्थान सिद्ध करूँगा।
17. अहं हितत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः
    दैवं तु न मया शक्यं कर्मं कर्तु कथंचन।
    उद्योग पर्व 78 अध्याय।
18. बुद्धिमान् समालोचक पाँचों पाण्डवों के चरित्र की आलोचना करके देखेंगे कि युधिष्ठिर का प्रधान गुण सावधानता था। भीम दुःसाहसी 'गँवार' था, अर्जुन अपने बाहुबल का गौरव जानकर निर्भय और निश्चिंत रहता था। इस संसार में सावधानता ही अनेक स्थानों में धर्म समझी गई है। इसका यहाँ प्रसंग नहीं था तो भी इसे आवश्यक समझ कर लिखा है। इस सावधानता के रहते युधिष्ठिर का जुआ खेलना कितना संगत है यह बताने का यहाँ स्थान नहीं है।
19. युधिष्ठिर ने ठीक यही बात कही और किसी ने उसे ज्यों का त्यों लिख लिया, ऐसा नहीं है। मौलिक महाभारत में श्री कृष्ण का चरित्र कैसा है, यही मेरी आलोचना का विषय है।
20. कोई कभी कदाचित् नरबलि दे देता था, पर सामाजिक प्रथा नहीं थी। श्री कृष्ण एक स्थान पर कहते हैं : ''मैंने कभी नरबलि नहीं देखी है।'' धार्मिक व्यक्ति

यह भयानक कार्य कभी नहीं करते थे।

21. कालयवन क्षत्रिय नहीं था।
22. जर्मनी का प्रधान मंत्री प्रिंस बिसमार्क। इसके ही समय जर्मनी की वह उन्नति हुई जो आज देखी जाती है। भाषांतरकार।
23. यह ईसवी सन की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूनान का सबसे बड़ा सिपाही और राजनीतिज्ञ था। भाषांतरकार।
24. लिखा है कि कृष्णदिने किसी माली से माला छीन ली थी। जिनके पास इतना ऐश्वर्य था और जो राजसूय करना चाहते थे उनके पास तीन मालाएँ खरीदने के लिए पैसे न हों, यह असंभव है। जो कपट के जूए में हारा हुआ राज्य धर्म के अनुरोध से छोड़ बैठे थे वह तीन मालाएं जबरदस्ती लूट लेंगे, यह भी असंभव है। असल बात यह है कि रचना दूसरी तह की है। दबंग क्षत्रियों के वर्णन में ऐसी बातें बड़ी सुंदर लगती हैं।
25. असली महाभारत में कृष्ण को चंचल और रुष्ट होकर बोलते कभी नहीं देखा। शत्रु उनके वश यों ही हो जाते थे।
26. यह जूडिया का रोमन गवर्नर था। इसी की आज्ञा से मसीह का विचार हुआ और उसे प्राणदण्ड मिला था। भाषांतरकार
27. व्यवसाय का अर्थ यहाँ वह काम है जिसमें हम सदा लगे रहते हैं!
28. Give unto Ceaser what is Ceaser's due यह इसी का उल्था है : ''योग्य योग्य ने याजयेत्''। भाषांतरकार
29. यदि सत्य हो तो जरूर ही चौदह रोज तक लगातार युद्ध नहीं हुआ होगा।
30. हड़पू अर्थात् दूसरे का राज्य को हड़पने वाला। भाषांतरकर।
31. बंगाल में कुलीन ब्राह्मणों का बड़ा मान है। अन्यान्य ब्राह्मण कुलीन को ही अपनी बेटियां देना चाहते हैं। इससे एक-एक कुलीन के दस-दस बारह-बारह व्याह तक हो जाते थे। जिसने कई बेटियाँ कुलीनों के घर ब्याही हैं वह गोष्ठीपति कहाता था, क्योंकि कुलीनों को कन्या देने से उसका गौरव बढ़ जाता था। भा. का.
32. कृष्ण ने अभिमन्यु, सात्यकि आदि महारथियों को यह विद्या सिखायी थी।
33. इससे सिद्ध हुआ कि कृष्ण प्रसिद्ध वेदज्ञ थे।
34. कृष्ण निःसांत नहीं थे, पर लंपट जितेंद्रियों को यही कहकर गालियाँ देते हैं।
35. पहले अध्याय में कहा है कि अनुशीलन धर्म के चरमादर्श श्री कृष्ण हैं। भीष्म की उक्ति मेरे कथन को पुष्ट कर रही है।

अध्याय 5

उपप्लव्य

I : महाभारतय युद्ध का उद्योग

अव उद्योगपर्व की समालोचना करता हूँ।

समाज में अपराधी हैं। मनुष्य आपस में एक-दूसरे का सदा अपराध करते हैं। इस अपराध का दमन करना समाज का एक मुख्य काम है। राजनीति, राजदंड, व्यवस्थाशास्त्र, धर्मशास्त्र, आईन, अदालत, सबका मुख्य उद्देश्य यही है।

अपराधी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस पर नीति शास्त्र में दो मत हैं। एक तो दंड देकर, अर्थात् वल प्रयोग कर के अपराध वंद करना और दूसरा क्षमा कर के। वल और क्षमा यह दोनों परस्पर विरोधी हैं। इसलिए दोनों मत यथार्थ नहीं हो सकते। और दोनों में से एक विलकुल छोड़ा भी नहीं जा सकता है। सब अपराध क्षमा करने से समाज चौपट हो जाएगा। और सब अपराधों में दंड देने से मनुष्य पशु हो जाते हैं। इसलिए वल और क्षमा का सामंजस्य करना नीतशास्त्र का बड़ा कठिन तत्त्व है। आजकल के सुसभ्य यूरोपवासी वल और क्षमा के सामंजस्य तक नहीं पहुँच सके हैं। यूरोप का ईसाई धर्म सब अपराधों को क्षमा करने को कहता है। और उनकी राजनीति सब अपराधों में दंड देने को कहती है। यूरोप में धर्म से राजनीति का बल अधिक है। इस हेतु वहाँ क्षमा लुप्तप्राय है। और बल का प्रताप प्रबल है।

वल और क्षमा का यथार्थ सामंजस्य करना ही इस उद्योग पर्व का प्रधान तत्त्व है। श्री कृष्ण ही इसकी मीमांसा करने वाले हैं और वही उद्योग पर्व के प्रधान नायक हैं। वल और क्षमा के प्रयोग के विषय में उन्होंने जो आदर्श अपने कार्यों से दिखाया है, वह पहले ही कहा जा चुका है। जो उनका अनिष्ठ करता है, उसे वह क्षमा करते हैं। जो समाज का अनिष्ठ करता है, उसे वह दंड देते हैं। पर ऐसे कई अवसर आ पड़ते हैं, जहाँ ठीक इस नियम से काम नहीं चलता है, अथवा इस नियम के अनुसार दंड देना या क्षमा करना चाहिए, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। मान लो किसी ने मेरी संपत्ति छीन ली। उसका उद्धार करना सामाजिक धर्म है। यदि सब लोग अपनी-अपनी संपत्ति यों ही छोड़ दें तो

थोड़े ही दिनों में समाज छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इसलिए छीनी हुई संपत्ति को छुड़ाना जरूरी है। आजकल की सभ्य समाजों में हम लोग आईन-अदालतों की सहायता से अपनी- अपनी संपत्तियों का उद्धार कर सकते हैं। पर जहाँ आईन-अदालत की मदद न मिल सकती हो, वहाँ बल प्रयोग करना धर्म संगत है यह नहीं? बल और क्षमा के सामंजस्य के बारे में यही सब कूटतर्क उठा करते हैं। देखने में प्रायः यही आता है कि जो बलवान् है, वह बल प्रयोग की ओर झुकता है, जो दुर्वल है वह क्षमा की ही ओर ढलता है। पर जो बलवान् होकर भी क्षमावान् है, उसे क्या करना चाहिए? इसका उत्तर उद्योगपर्व के आरंभ में श्री कृष्ण देते हैं।

यह सब ही पाठक जानते हैं कि पाँचों पांडव जूए में शकुनी से यह बचन हारे थे कि हम राजपाट दुर्योधन को दे कर बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करेंगे। इसके साथ यह भी शर्त थी कि अज्ञातवास के समय यदि दुर्योधन को पांडवों का पता लग जाएगा, तो वह राज्य नहीं पावेंगे और उन्हें फिर बारह वर्ष वनवास करना पड़ेगा। और यदि दुर्योधन को पता न लगे, तो उनका राजपाट उन्हें मिल जाएगा। पांडवों ने बारह वर्ष वन में बिताकर अब विराट के राजा के यहाँ एक वर्ष का अज्ञातवास भी पूरा कर लिया। उनके वहाँ रहने का पता किसी को नहीं लगा। अब वह धर्म और ईमान से अपना राजपाट पाने के अधिकारी हैं। पर क्या दुर्योधन राज्य लौटा देगा? ऐसी संभावना तो नहीं है। अगर न दे, तो क्या करना चाहिए? युद्ध में उन्हें मारकर राजपाट ले लेना कर्त्तव्य है या नहीं।

अज्ञातवास का समय पूरा हो जाने पर पांडवों ने विराट को अपना परिचय दिया। विराट उनका परिचय पा कर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपनी कन्या उत्तरा का ब्याह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया। इसी ब्याह में अभिमन्यु के मामा श्री कृष्ण और बलदेव तथा और-और यदुवंशी आए थे। पाण्डवों के ससुर द्रुपद तथा और नातेरिश्तेदार भी आये थे। विराट राजा की सभा में सबके एकत्र होने पर दुर्योधन के हाथ से पांडवों का राज्य निकालने की बात उठी तो "सब लोग श्री कृष्ण की ओर देख कर चुप हो रहे।" श्री कृष्ण ने जो कुछ हुआ था, वह राजाओं को समझाकर कहा : "अब कौरव-पांडवों के लिए आप लोग जो उचित और अच्छा समझें वही सोचिए, जिसमें दोनों की भलाई और कीर्त्ति हो।"

कृष्ण ने यह नहीं कहा कि चाहे जैसे हो राज्य वापिस लेना चाहिए। क्योंकि

जो राज्य हित, धर्म और यश से अलग हैं, उसे वह किसी के लेने योग्य नहीं समझते हैं। इसी से वह फिर समझा कर कहते हैं कि "धर्मराज युधिष्ठिर अधर्म का साम्राज्य देवताओं पर भी नहीं चाहते, पर धर्म का राज्य एक गाँव भर का अधिक पसंद करते हैं।" पहले ही मैं कह चुका हूँ कि आदर्श मनुष्य संन्यासी होने से नहीं बनेगा—उसे गृहस्थ्य भी होना पड़ेगा। गृहस्थों का यही सच्चा आदर्श है। आदर्श मनुष्य अधर्म के सुर-साम्राज्य की भी इच्छा नहीं करते, पर धर्म से जिस पर उनका अधिकार है उसकी एक रत्ती भी वह दुष्टों को नहीं लेने देते हैं। जो अपना वाजिब हक बेईमानों को लेने देता है, वह अकेले ही दुःखी नहीं होगा बल्कि सारी समाज को चौपट कर डालेगा और इसका पाप उसे लगेगा।

फिर श्री कृष्ण ने राजाओं से अनुरोध किया कि कौरवों का लोभ और दुष्टता, युधिष्ठिर की भलमनसी और ईमानदारी तथा इन दोनों का परस्पर संबंध विचार करके आप लोग बतावें कि अव क्या करना चाहिए। उन्होंने अपना अभिप्राय भी प्रगट कर दिया कि कोई धार्मिक मनुष्य दूत होकर दुर्योधन के पास जाए और संधि करके युधिष्ठिर को आधा राज्य दिलवा दे। कृष्ण संधि चाहते हैं, युद्ध नहीं। वह युद्ध के इतने विरोधी थे कि उन्होंने केवल आधा राज्य लेकर ही संधि करने की सम्मति दे दी। और जब युद्ध किसी तरह न रुक सका, तब उन्होंने स्वयं अस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा कर ली।

बलदेव ने जुए के कारण युधिष्ठिर की कुछ निन्दा करके कृष्ण की हाँ में हाँ मिलाई और कहा कि संधि से प्राप्त धन ही सुख देने वाला होता है, पर जो धन लड़ाई से मिलता है, वह धन ही नहीं है। सुरापाई बलदेव की यह उक्ति सोने के अक्षरों में लिखकर यूरोप के घर-घर में रख देने से मनुष्य जाति की कुछ भलाई हो सकती है।

बलदेव की वात समाप्त होने पर सात्यकी ने खड़े होकर अपना अभिप्राय प्रगट किया। सात्यकी स्वयं वीर योद्धा और कृष्ण का शिष्य था। महाभारत युद्ध में पांडवों के तरफदारों में अर्जुन और अभिमन्यु के बाद सात्यकी का ही नाम है। कृष्ण के मुँह से संधि का प्रस्ताव सुनकर सात्यकी कुछ बोल न सका, पर बलदेव को उसका समर्थन करते देख कर वह आग बगूला हो गया और उसने क्लीव, कापुरुष आदि शब्दों से उनकी पूरी खबर ली। बलदेव ने युधिष्ठिर पर द्यूतक्रीड़ा का जो दोष लगाया था, उसका प्रतिवाद कर सात्यकी ने कहा कि अगर पांडवों का सारा राज्य कौरव न लौटा दें, तो उन्हें समूल नष्ट कर देना चाहिए।

इसके बाद द्रुपद की वक्तृता हुई। इनकी और सात्यकी की एक राय थी।

इन्होंने युद्ध की तैयारी करने और मित्र राजाओं के यहाँ दूत भेजकर सेना संग्रह करने की सम्मति पांडवों को दी। पर साथ ही दुर्योधन के यहाँ दूत भेजने के लिए भी कहा। अंत में फिर श्री कृष्ण की वक्तृता हुई। द्रुपद बूढ़े तथा नाते में बड़े थे इस कारण कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में उनका विरोध नहीं किया। पर यह कह दिया कि युद्ध होने पर उसमें सम्मिलित होने की मेरी इच्छा नहीं है। वह बोले : "कौरव पांडवों से मेरा समान संबंध है। उन लोगों ने मर्यादा का लंघन करके हमारे साथ कभी अशिष्ट व्यवहार नहीं किया। हम यहाँ ब्याह के न्योते में आए हैं। और आप भी आए हैं। विवाह हो गया, अब हम लोग राजी खुशी अपने-अपने घर चलें।" बूढ़े-बड़ों के लिए इससे बढ़कर और क्या फटकार हो सकती थी? कृष्ण और भी बोले : "यदि दुर्योधन संधि न करे तो पहले और लोगों के पास दूत भेजना, पीछे हम लोगों को बुलाना।" अर्थात्, इस युद्ध में हमारी आने की वैसी इच्छा नहीं है, यह कह कृष्ण द्वारका चल दिए।

कृष्ण युद्ध के बिलकुल विपक्ष में थे, यहाँ तक कि उन्होंने पांडवों को आधा राज्य लेने को कहा पर युद्ध के लिए राय नहीं दी। वह कौरव, पांडव किसी के भी पक्ष में न थे। दोनों से उनका समान संबंध था, यह वह स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। इसके बाद जो कुछ हुआ, उससे यही दो बातें और भी भली-भाँति सिद्ध होती हैं।

इधर दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं। फौजें इकट्ठी होने लगीं और भिन्न राजाओं के यहाँ दूत भेजे जाने लगे। कृष्ण को युद्ध का न्योता देने के लिए अर्जुन द्वारका गया। दुर्योधन भी वहाँ पहुँचा। दोनों एक ही रोज, एक ही समय कृष्ण के पास पहुँचे।

फिर जो हुआ वह महाभारत से उद्धृत किए देता हूँ : "वासुदेव उस समय सोए थे। दुर्योधन पहले वहाँ पहुँचकर कृष्ण के सिरहाने अच्छे आसन पर जा बैठा। इंद्रनंदन अर्जुन पीछे पहुँचा और हाथ जोड़ बड़े विनीत भाव से श्री कृष्ण के पायताने बैठ गया। वृष्णिनंदन कृष्ण ने जागकर पहले धनंजय और पीछे दुर्योधन को देखा। उन्होंने दोनों का स्वागत करके आदर के साथ आगमन का कारण पूछा। दुर्योधन ने हँसते हुए कहा : "हे यादव, इस युद्ध में आपको सहयता देनी होगी। यद्यपि आपके साथ हम दोनों का समान संबंध और समान मित्रता है, तथापि मैं पहले आया हूँ। साधुगण पहले आने वाले का ही पक्ष ग्रहण करते हैं। आप साधु पुरुषों में श्रेष्ट और माननीय हैं, इसलिए आज आप उसी सदाचार का प्रतिपालन कीजिए।" कृष्ण बोले : "हे कुरुवीर, आप पहले आए, इसमें संदेह नहीं। पर मेरी दृष्टि

पहले कुंतीकुमार पर पड़ी है, इसलिए मैं आप दोनों की सहायता करूँगा। लोग कहते हैं कि पहले बालक की ही सहायता करनी चाहिए। इसलिए पहले कुंतीकुमार की ही सहायता करनी उचित है। यह कह कर भगवान यदुनंदन ने धनंजय से कहा : "हे कौंतेय, पहले तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करूँगा। एक ओर मेरे समान एक अरब नारायण नामक गोप योद्धा हैं और दूसरी ओर मैं हूँ–लेकिन मैं अभी कहे देता हूँ कि मैं न तो अस्त्र छूऊँगा और न युद्ध करूँगा। अब इन दोनों में जो तुम्हें पसंद हो, चुन लो।"

धनंजय ने यह सुनकर भी कि जनार्दन युद्ध नहीं करेंगे, उनको ही पसंद किया। राजा दुर्योधन एक अरब नारायणी सेना पाकर और श्री कृष्ण युद्ध न करेंगे सुनकर फूले अंग न समाया।"

उद्योग पर्व के इस अंश की आलोचना कर के हम कई बातें समझ सकते हैं। पहली–यद्यपि कृष्ण का मत अपना धर्मार्थ युक्त अधिकार नहीं छोड़ने का है, तथापि वह बल से क्षमा को अधिक पसंद करते थे, यहाँ तक कि बल प्रयोग के बदले वह आधा राज्य छोड़ देना भी अच्छा समझते थे।

दूसरी–कृष्ण सर्वत्र समदर्शी थे। सर्वसाधारण का यही विश्वास है कि वह पांडवों के पक्ष में और कौरवों के विपक्ष में थे। पर उद्धृत अंश देखने से जान पड़ता है कि वह किसी के पक्ष में न थे।

तीसरी–वह स्वयं अद्वितीय वीर होकर भी लड़ना पंसद नहीं करते थे। उन्होंने पहले ऐसी राय दी जिसमें लड़ाई न हो, पर जब लड़ाई ठन ही गई तब लाचार हो उन्हें एक तरफ होना पड़ा। पर अस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। ऐसी महिमा और किसी क्षत्रिय की नहीं देखी जाती है। जितेंद्रिय और सर्वत्यागी भीष्म की भी नहीं है।

इसके वाद भी युद्ध रोकने के लिए कृष्ण ने वहुत प्रयत्न किए। यह आश्चर्य का विषय है कि जो क्षत्रियों में युद्ध के प्रधान विरोधी थे और जो सब जगह अकेले ही समदर्शी थे उन्हें ही लोग महाभारत युद्ध का मूल और प्रधान परामर्शदाता समझते हैं और पांडवों की ओर का प्रधान कुचक्री कहते हैं। इसी हेतु कृष्ण चरित्र की विस्तृत आलोचना आवश्यक हुई है।

कृष्ण ने युद्ध में अस्त्र न छूने की प्रतिज्ञा की थी। अर्जुन सोचने लगा कि उनसे कौन-सा काम लेना चाहिए। बहुत सोच विचार कर के अर्जुन ने श्री कृष्ण से अपना सारथी बनने के लिए अनुरोध किया। सारथी बनना क्षत्रियों के लिए नीच काम है। कर्ण ने जब मद्र के राजा शल्य से सारथी बनने के लिए निवेदन

किया तव वह बहुत बिगड़ उठा था। परंतु आदर्श पुरुष अहंकारशून्य होते हैं। इसलिए कृष्ण ने अर्जुन का सारथी बनना तुरत स्वीकार कर लिया। वह सब दोषों से शून्य और सब गुणों से संपन्न थे।

II : संजयप्रयान

इधर दोनों में लड़ाई की तैयारियाँ होती रहीं, उधर द्रपुद के परामर्श के अनुसार युधिष्ठिरादि ने द्रुपद के पुरोहित को संधि के लिए धृतराष्ट्र के पास भेजा। पर कुछ लाभ नहीं हुआ, क्योंकि दुर्योधन बिना युद्ध के उतनी भी भूमि देना नहीं चाहता था, जितनी में सूई की नोंक गड़ सके। और इधर भीम, अर्जुन और कृष्ण को[1] याद कर के धृतराष्ट्र की नानी मर रही थी। इसलिए अपने अमात्य संजय को भेजा।

"तुम्हारा राज्य भी हम बेईमानी से ले लेंगे, पर तुम युद्ध मत करना, यह काम अच्छा नहीं है," ऐसी बात निर्लज्ज के सिवा और कोई नहीं कह सकता है। पर दूत को लज्जा कैसी? संजय ने आकर पांडवों की सभा में विस्तृत भाषण झाड़ दिया। उसके कथन का मर्म यह था कि "युद्ध बड़ा भारी अधर्म है, तुम वही अधर्म करना चाहते हो, इसलिए तुम बड़े अधर्मी हो!"

युधिष्ठिर ने इसके जवाब में बहुत सी बात कहीं। उनमें जो हमारे काम की हैं उन्हें नीचे उद्धृत करता हूँ। "हे संजय, इस पृथ्वी पर देवताओं के भी माँगने योग्य जो धन संपत्ति है, वह तथा प्रजापत्य स्वर्ग और ब्रह्म लोक भी मैं अधर्म से लेना नहीं चाहता हूँ। जो हो, महात्मा कृष्ण धार्मिक नीतिमान और ब्राह्मणों के उपासक हैं। वह कौरव-पांडव दोनों के हितैषी हैं। वह बहुत से महाबली राजाओं पर शासन करते हैं। अब वही कहें कि मुझे क्या करना चाहिए, यदि संधि तोड़ दूँ तो मेरी निंदा होती है और युद्ध न करूँ तो धर्म जाता है। प्रतापशाली शिविर, नप्ता और चेदी, अंधक, वृष्णि, भोज, कुक्कुर, संजय, वासुदेव की बुद्धि से ही शत्रुओं का दमन करके मित्रों को प्रसन्न रखते हैं। इंद्र, कल्प, उग्रसेन, आदि वीर और महाबली मनस्वी सत्यपरायण यादव सदा कृष्ण के उपदेश सुना करते हैं। कृष्ण जैसे रक्षक और कर्ता पाकर ही काशी के नृप वभ्रु ने उत्तम श्री पाई है। ग्रीष्म के अंत में मेघ जिस प्रकार प्रजाओं को जल देते हैं, उसी प्रकार वासुदेव काशी के राजा को इच्छित धन प्रदान करते हैं। कर्मवीर केशव ऐसे गुणी हैं। वह बड़े साधु और हमारे प्रिय हैं। मैं कदापि उनकी बात न उठाऊँगा।"

वासुदेव बोले : "हे संजय, मैं सदा पांडवों की वृद्धि-समृद्धि और हित तथा

पुत्रों सहित राजा धृतराष्ट्र का अभ्युदय चाहता हूँ। कौरव-पांडवों में संधि हो जाए बस यही मेरी इच्छा है। मैं इसके सिवा और कुछ परामर्श इन्हें नहीं देता हूँ। अन्यान्य पांडवों के सामने युधिष्ठिर से मैंने कई बार संधि की बात सुनी है, पर महाराज धृतराष्ट्र और उनके पुत्र बड़े ही अर्थलोभी हैं। पांडवों के साथ उनकी संधि होनी बड़ी ही कठिन है। इसलिए विवाद धीरे-धीरे बढ़ जाएगा, इसमें आश्चर्य ही क्या है? हे संजय मैं और धर्मराज युधिष्ठिर धर्म से कदापि विचलित नहीं हुए, यह जानकर भी तुमने क्यों अपना कार्य साधन करने वाले उत्साही, स्वजन परिपालक राजा युधिष्ठिर को अधर्मी कहा?''

इतना कह कर श्री कृष्ण धर्म की व्याख्या करने लगे। कृष्ण चरित्र के लिए यह बहुत आवश्यक है। कह चुका हूँ कि कृष्ण के जीवन के दो उद्देश्य थे—धर्मराज्य की स्थापना और धर्म का प्रचार। उनके धर्मराज्य स्थापना का पूरा वर्णन महाभारत में है। किन्तु उनके प्रचारित धर्म की बातें भीष्म पर्व के अंतर्गत गीता-पर्वाध्याय में विशेषकर हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में जो धर्म कहा गया है, वह गीताकार ने कृष्ण के मुँह से जरूर कहलाया है, पर वह कृष्ण का कहा हुआ है या अन्य का, इसका क्या प्रमाण है? सौभाग्य की बात है कि गीता-पर्वाध्याय के अतिरिक्त महाभारत के और-और स्थानों में भी कृष्ण के कहे हुए धर्मोपदेश मिलते हैं। गीता में जिस नवीन धर्म का वर्णन है तथा महाभारत के अन्यान्य स्थानों में कृष्ण ने धर्म की जो व्याख्या की है, इन दोनों में यदि एकता हो तो वही कृष्ण का कहा और फैलाया धर्म कहा जा सकता है। महाभारत की ऐतिहासिकता यदि मानी जाए और महाभारतकार ने जो धर्म व्याख्या स्थान-स्थान पर कृष्ण के मुख से कराई है वह यदि सर्वत्र एक सी हो और प्रचलित धर्म से भिन्न प्रकार की न हो, तो यह कृष्ण का ही प्रचारित धर्म कहा जाएगा। और फिर गीता में जिस धर्म का पूर्ण रूप से और विस्तारपूर्वक वर्णन है, उससे कृष्ण के यहाँ कहे हुए धर्म से मेल हो तो गीतोक्त धर्म अवश्य ही कृष्ण कथित है।

अच्छा अब यहाँ देखना चाहिए कि कृष्ण संजय से क्या कहते हैं? ''शास्त्रों में यह विधि रहने पर भी कि ब्राह्मण पवित्र और पालक होकर वेदाध्ययन करते हुए कालयापन करें, वे वहुतेरी बातों में वुद्धि लड़ाया करते हैं। कोई कर्म करते हुए और कोई कर्म त्याग कर केवल वेदज्ञान को ही मोक्ष मान बैठे हैं। पर जैसे भोजन के विना तृप्ति नहीं होती है, वैसे ही कर्म न करके केवल वेदज्ञ हो जाने से व्राह्मण कदापि मोक्ष नहीं पाते हैं। जिन विद्याओं से कर्मों का साधन होता है, वही फल देने वाली हैं, जिनसे कर्मों का अनुष्ठान नहीं होता, वे नितांत निष्फल

हैं। इसलिए जल पीते ही प्यास जाती है उसी तरह इस समय जिस कर्म से प्रत्यक्ष फल मिले वही करना चाहिए। हे संजय, कर्म के वश ही इस प्रकार विधि हुई है, इसलिए कर्म ही सबसे प्रधान है। जो मनुष्य कर्म से किसी और वस्तु को उत्तम समझता है, उसके सब कर्म ही निष्फल होते हैं।

देखो देवता कर्म के बल से प्रभावशाली हुए हैं। वायु कर्म-बल से सदा बहती रहती है। सूर्य कर्म बल से आलस्यरहित हो अहोरात्र परिभ्रमण करता है, चंद्रमा कर्म बल से नक्षत्र मंडली से परिवृति हो पंद्रह दिन उदय होता है। अग्नि कर्म बल से प्रजागण का कर्म संशोधन करके निरंतर उत्ताप प्रदान करता है। पृथ्वी कर्म बल से अत्यंत भारी बोझ सहज ही ढोती है। नदियाँ सब कर्म बल से प्राणियों को तृप्त कर जल धारण करती हैं, अमित बलशाली देवराज इंद्र ने देवताओं में प्रधानता प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य धारण किया था। इंद्र उसी कर्म बल से दसों दिशाओं और नभोमंडल को प्रतिध्वनित कर जल बरसाता है और उसने विवेक से भोगाभिलाप और प्रिय वस्तुएँ छोड़कर श्रेष्ठता प्राप्त की है तथा दम, क्षमा, समता, सत्य, और धर्म की रक्षा कर के देवताओं के राज्य पर अधिकार जमा रखा है। भगवान् वृहस्पति ने इंन्द्रिय निरोध करके ब्रह्मचर्य धारण किया था। इसी से वह देवताओं के आचार्य हुए। रुद्र, आदित्य, यम, कुबेर, गन्धर्व, यक्ष, और नक्षत्र कर्म के प्रभाव से विराजमान हैं। ब्रह्मविद्या, ब्रह्मचर्य और अन्यान्य क्रियाओं का अनुष्ठान करके महर्षियों ने श्रेष्ठता पायी है।''

कर्मवाद कृष्ण के पहले भी प्रचलित था, पर प्रचलित मत के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड ही उस समय कर्म माना जाता था। उस समय के प्रचलित धर्म में कर्म शब्द से मनुष्य जीवन के समस्त कर्त्तव्य कर्म, जिन्हें अंग्रेज ड्यूटी कहते हैं, नहीं समझे जाते थें। गीता में ही कर्म शब्द का पूर्व प्रचलित अर्थ बदल गया है—कर्त्तव्य, अनुष्ठेय, ड्यूटी का ही नाम साधारण रीति पर कर्म हो गया है। और अभी हो रहा है। भाषागत भेद बहुत है, पर धर्मार्थ एक ही है। जो यहाँ वक्त है, वही सचमुच गीता में भी है, यह बात मानी जा सकती है।

कर्त्तव्य कर्म के यथाविहित निर्वाह का दूसरा नाम स्वधर्म पालन है। गीता के आरंभ में ही श्री कृष्ण ने अर्जुन को स्वधर्म-पालन का उपदेश किया है। यहां भी श्री कृष्ण उसी स्वधर्मपालन का उपदेश करते हैं यथा : ''हे संजय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सबका धर्म भली भाँति जानकर भी कौरवों के भलाई के विचार से पाण्डवों को हानि पहुँचाने की क्यों चेष्टा करते हो? धर्मराज युधिष्ठिर वेदज्ञ हैं। अश्वमेध और राजसूय यज्ञ करना उनका कर्त्तव्य है। वह युद्ध विद्या में पारदर्शी

हैं और हाथी, घोड़े तथा रथ चलाने में निपुण हैं। इस समय पाण्डव यदि कौरवों का संहार न करके भीमसेन को समझा बुझा लें और राज्य पाने का कुछ और उपाय कर सकें तो धर्म रक्षा और पुण्य दोनों हों। या यह लोग क्षत्रिय धर्म का प्रतिपालन करके अपना काम निकालें और फिर काल के गाल में समा जाएँ तो वह भी अच्छा ही है। जान पड़ता है तुम संधि करना ही उत्तम समझते हो। पर पूछना यह है कि क्षत्रियों की धर्मरक्षा युद्ध करने से होती है या नहीं करने से? इन दोनों में तुम जिसे अच्छा कहोगे, मैं वही करूँगा?

इसके उपरांत श्री कृष्ण ने चारों वर्णो का धर्म बताया है। गीता के अठारहवें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का जो धर्म लिखा है, ठीक वही यहाँ भी है। महाभारत में इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि गीतोक्त धर्म और महाभारत में अन्यत्र लिखा हुआ कृष्णोक्त धर्म एक ही है। इसलिए यह एक तरह से सिद्ध है कि गीता का धर्म कृष्ण का कहा हुआ है—वह कृष्ण के नाम से केवल प्रसिद्ध ही नहीं है, बल्कि यथार्थ में कृष्ण का रचा हुआ भी है।

कृष्ण ने संजय से और भी बहुत सी वातें कहीं। उनमें से दो एक यहाँ लिखता हूँ : "दूसरे का राज्य छीन लेने की अपेक्षा यूरोप वालों के लिए और कुछ भी गौरव का काम नहीं है। दूसरे का राज्य लेने का नाम अंग्रेजी में है विजय, यश, साम्राज्य विस्तार इत्यादि। अंग्रेजी की तरह यूरोप की अन्यान्य भाषाएँ भी इसका गुणनुवाद करती हैं। केवल Gloire (यश) शब्द के मोह में फँसकर प्रशिया का राजा द्वितीय फ्रेड्रिक तीन बार यूरोप में युद्धाग्नि भड़का कर लाखों मनुष्यों के सर्वनाश का कारण हुआ था। खून के प्यासे राक्षसों के सिवा और लोग इस तरह के Gloire और तस्करता में सहज ही कुछ भेद नहीं समझेंगे। पराए का राज्य छीनने वाला बड़ा चोर तथा और चोर छोटे चोर हैं[2]। पर यह कहना बड़ा कठिन है, क्योंकि दिग्विजय में भी ऐसी कुछ मोहिनी शक्ति है कि आर्य क्षत्रिय भी इसके मोह में फँसकर प्रायः धर्माधर्म भूल जाते थे। यूरोप में केवल डायोजिनिज ने महावीर अलकजेंडर (सिकंदर) से कहा था कि "तू एक बड़ा डाकू है, और कुछ नहीं।" भारतवर्ष में भी श्री कृष्ण ने परराज्य लोलुप राजाओं को यही बात कही थी—उनका कहना था कि छोटा चोर लुक छिपकर चोरी करता है और बड़ा चोर डंके की चोट करता है। श्री कृष्ण के अपने ही शब्दों में : "चोर छिपकर चोरी करे या खुले मैदान, दोनों अवस्थाओं में वह निन्दा के योग्य है। इसलिए दुर्योधन का काम भी पक तरह से चोरों का सा काम कहा जा सकता है।"

इन तस्करों के हाथ से अपने सर्वस्व की रक्षा करना कृष्ण परम धर्म समझते

थे। आजकल के नीतिज्ञों की भी यही राय है। छोटे-मोटे चोर के हाथ से अपनी संपत्ति के बचाने को अंग्रेजी में Justice (न्याय) और बड़े चोर के हाथ से बचाने को Patriotism (देशानुराग) कहते हैं। अपनी भाषा में इन दोनों का नाम स्वधर्म पालन है। कृष्ण कहते हैं : "इस काम के लिए प्राण भी देने पड़ें, तो वह भी प्रशंसा का काम है। पर पैतृक राज्य के उद्धार से पीछे पैर देना कदापि उचित नहीं है।"

संजय को धर्म का ढकोसला करते देखकर कृष्ण ने उचित फटकार भी बताई थी। उन्होंने कहा : "तुम अभी राजा युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश देना चाहते हो, पर उस समय (जब दुःशासन ने सभा में द्रौपदीपर अत्याचार किया था) सभा में दुःशासन को तुमने धर्मोपदेश नहीं किया था।" कृष्ण यों तो बराबर प्रियवादी थे, पर दोष दिखलाने के समय स्पष्ट ही बोलते थे। वह सत्य को ही सदा प्रिय मानते थे।

संजय को फटकार बताने के बाद कृष्ण ने कहा कि कौरव-पाण्डवों के हित साधन के लिए मैं स्वयं हस्तिनापुर जाऊँगा। बोले : "जिसमें पाण्डवों की अर्थहानि न हो और कौरव भी संधि के लिए सम्मत हो जाएँ, इसके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। इससे बड़ा पुण्य होगा और कौरवों की भी प्राण रक्षा हो सकती है।"

लोगों की भलाई के लिए, असंख्य मनुष्यों की प्राण रक्षा के लिए, कौरवों की रक्षा के लिए, कृष्ण स्वयं इस दुष्कर कर्म में लग गए। दुष्कर इसलिए कि कृष्ण पाण्डवों की ओर हो चुके थे, इसलिए कौरव उनके साथ शत्रु का सा बर्ताव कर सकते थे। पर उन्होंने लोकहित साधने के लिए निरस्त्र होकर शत्रुओं की पुरी में चले जाना ही श्रेय समझा।

III : यानसंधि

यहीं संजययान-पर्वाध्याय समाप्त होता है। इसके अंतिम-भाग में देखा जाता है कि कृष्ण हस्तिनापुर जाने की प्रतिज्ञा करके वहाँ गए। किंतु संजययान-पर्वाध्याय और भगवद्यान-पर्वाध्याय के बीच में और तीन पर्वाध्याय हैं जिनके नाम 'प्रजागर' 'सनत्सुजात' और 'यानसंधि' हैं। पहले दो तो क्षेपक हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। उनमें महाभारत की कुछ कथा नहीं है, धर्म और नीति की बड़ी सुंदर कथाएँ हैं। कृष्ण की कुछ चर्चा भी उनमें नहीं है। इसलिए इन दोनों पर्वाध्यायों से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं।

यानसन्धि पर्वाध्याय में संजय का हस्तिनापुर लौटकर आना, धृतराष्ट्र से सब बातें कह सुनाना, और फिर धृतराष्ट्र, दुर्योधनादि कौरवों का वादानुवाद है। सबकी लंबी-लंबी वक्तृताएं हैं। उनमें पुनरुक्ति और व्यर्थ बातों की भरमार है। दो स्थानों में कृष्ण का जिक्र है। पहले अट्ठावनवें अध्याय में धृतराष्ट्र संजय से अर्जुन की बातें विस्तारपूर्वक सुनकर हठात् पूछ बैठता है : "वासुदेव और अर्जुन ने जो कहा वह सुनने को मैं उत्सुक हूँ, इसलिए वही कहो।" इसके उत्तर में सभा में जो कुछ हुआ था वह न कहकर संजय ने एक मनगढ़ंत कहानी आरंभ कर दी। कहने लगा कि मैं दबे पाँव अर्थात् चोरों की तरह पाण्डवों के अंतःपुर में घुस गया, जहाँ अभिमन्यु आदि भी नहीं जा सकते थे। वहाँ जाकर कृष्ण और अर्जुन को देखा। दोनों मदिरा पीकर उन्मत्त हो रहे थे। द्रौपदी और सत्यभामा के पाँवों पर पाँव रखे अर्जुन बैठा था। नई बातचीत कुछ नहीं हुई। कृष्ण ने घमण्ड के साथ कहा कि मैं जब सहाय हूँ, तब अर्जुन सबको मार डालेगा। अर्जुन ने क्या कहा, वह यहाँ कुछ नहीं है, हालाँकि धृतराष्ट्र वही सुनना चाहता था।

अट्ठावनवें अध्याय के अंत में है कि "अनंतर महावीर किरीटी कृष्ण के वचन सुनकर रोमांचित करने वाले वाक्य बोलने लगा।" इससे यह मालूम होता है कि अर्जुन ने जो कुछ कहा, वह उनसठवें अध्याय में हैं, पर ऐसा नहीं है। वहाँ कुछ मामला ही और है। उनसठवें अध्याय में धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को जरा दबाकर संधि करने के लिए कहा। साठवें में दुर्योधन ने कड़क कर जवाब दिया। इकसठवें में कर्ण ने आकर बीच-बिचाव किया और एक व्याख्यान झाड़ दिया। भीष्म ने कर्ण को खरी खोटी सुना दी। बस दोनों में चखचख हो गई। बासठवें अध्याय में भीष्म और दुर्योधन की ठायं-ठायं हुई। तिरसठवें में भीष्म का भाषण है। चौसठवें में फिर बाप-बेटे की कहासुनी है। इतनी देर के बाद फिर धृतराष्ट्र अकस्मात् पूछता है कि अर्जुन ने क्या कहा? इस पर संजय अट्ठावनवें अध्याय की टूटी हुई लड़ी ठीक कर के अर्जुन की बातें कहने लगा। जान पड़ता है कि अब किसी पाठक को यह मानने में संदेह नहीं होगा कि उनसठवाँ, साठवाँ, इकसठवाँ, बासठवाँ, तिरसठवाँ और चोसठवाँ अध्याय क्षेपक हैं। इन कई अध्यायों में महाभारत की क्रिया एक पद भी आगे नहीं बढ़ती है। यह अध्याय स्पष्ट रूप से क्षेपक हैं इसी से इनका उल्लेख किया गया।

जिन कारणों से ये छः अध्याय क्षेपक कहे जा सकते हैं, उन्हींसे अट्ठावनवाँ अध्याय भी कहा जा सकता है। उसके बाद के अध्याय पर क्षेपक पर क्षेपक हैं। अट्ठावनवें अध्याय के बारे में यह भी कहा जा सकता है कि यह केवल अप्रासंगिक

ही नहीं, वरचं कृष्ण के पूर्वोक्त वचन का बिल्कुल विरोधी है। अनुक्रमणिका या पर्वसंग्रहाध्याय में इन बातों की गंध भी नहीं है। मालूम होता है कोई रसिक लेखक असुर संहारी विष्णु और सुरसंहारिणी सुरा दोनों का भक्त था—उसी ने अपने दोनों उपास्य देवताओं को एकत्र देखने के लिए यह अट्ठावनवाँ अध्याय रच डाला है।

यानसंधि-पर्वाध्याय की यह हुई कृष्ण के विषय में पहली बात। अब दूसरी सुनिए। यह सड़सठवें अध्याय से सत्तरवें तक चार अध्यायों में है। इनमें धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय कृष्ण की महिमा वर्णन करता है। संजय ने पहले जिन्हें मद्य से उन्मत्त बताया था, यहाँ उसे ही जगदीश्वर बताया है। यह भी क्षेपक ही जान पड़ता है। फिर क्षेपक हो या न हो इससे मेरा कुछ मतलब नहीं। यदि और कारणों से हम कृष्ण को ईश्वर मानते हों तो फिर संजय के वचनों की आवश्यकता क्या है? और यदि न मानते हों तो संजय के वाक्य ऐसे नहीं जिनसे हम मानने लग जाएँ। इसलिए संजय की वाक्यावली की आलोचना वृथा है। कृष्ण के मनुष्य चरित्र की एक भी बात उसमें नहीं मिली। और यही मेरा अलोच्य विषय है।

IV: श्रीकृष्ण के हिस्तनापुर जाने का प्रस्ताव

श्री कृष्ण अपने प्रतिज्ञानुसार संधि के लिए हस्तिनापुर जाने को तैयार हुए। जाने के समय पाण्डव और द्रौपदी सबने ही उनसे कुछ-कुछ कहा। उन्होंने सबकी ही बातों का जवाब दिया। यह बातें अवश्य ही ऐतिहासिक नहीं मानी जाएँगी। पर कवियों और इतिहासवेत्ताओं ने जो बातें कृष्ण से कहलाई हैं, उनसे मालूम हो जाता है कि वे लोग कृष्ण को कैसा समझते या जानते थे। उनकी बातों का सरांश यहाँ लिखता हूँ :

युधिष्ठिर की बातों का जवाब श्री कृष्ण एक ठौर देते हैं : "हे महाराज, क्षत्रियों के लिए ब्रह्मचर्यादि विधेय नहीं हैं। समस्त आश्रमों के लोग क्षत्रियों को माँगने से मना करते हैं। विधाता ने संग्राम में विजय प्राप्त करना या प्राण त्याग करना क्षत्रियों का नित्य धर्म स्थिर कर दिया है। इसलिए क्षत्रियों के लिए दीनता बड़ी ही निंदनीय है। हे शत्रुनाशक युधिष्ठिर, यदि आप दीनता को अपने पास आने देंगे तो अपना राज्य कभी प्राप्त न कर सकेंगे। इसलिए आप भुजबल के प्रकाश से शत्रुओं का विनाश कीजिए।"

गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन से यही बात कही है। इससे जो सिद्धांत निकलता है, वह पहले ही कहा जा चुका है। भीम की बात का वह जवाब देते हैं : "मनुष्य पुरुषकार छोड़कर केवल दैव के भरोसे या दैव को छोड़कर केवल पुरुषकार के

भरोसे नहीं रह सकता है। इसलिए जो व्यक्ति इस प्रकार निश्चय करके कर्म करता है, वह कार्य सिद्ध न होने से दुःखित, या सिद्ध होने से संतुष्ट नहीं होता है।" गीता में भी यही कहा है[3]। श्री कृष्ण के शब्दों में :

उपजाऊ भूमि यथानियम जोती और बोई जाने पर भी वर्षा के बिना अन्न नहीं उपजा सकती है। कोई अपने पुरुषार्थ से उसमें जल भी सींचे तो भी दैवप्रभाव से वह सूख सकता है। इसलिए प्राचीन महात्माओं ने निश्चय किया है कि प्रारव्ध और पुरुषार्थ दोनों के बिना कार्य सिद्ध नहीं होता है। मैं यथासाध्य पुरुषार्थ कर सकता हूँ, पर प्रारव्ध पर मेरा कुछ वश नहीं।

इस बात का उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ । कृष्ण ने अपना ईश्वर होना यहाँ एकदम अस्वीकार किया है। क्योंकि वह मानवशक्ति ही काम में लेते थे। ईश्वरी शक्ति से ही काम लेने का अभिप्राय ईश्वर का हो तो फिर अवतार लेने की जरूरत नहीं रहती।

और लोगों की बात पूरी होने पर द्रौपदी बोली। उसके मुँह से एक ऐसी बात निकली जो औरतों के मुँह से निकलना आश्चर्य की बात है। द्रौपदी ने कहा, "अवध्य को वध करने से जो पाप लगता है वही वध्य को वध न करने से लगता है।" यह बात औरतों के मुँह से भले ही अनूठी मालूम पड़े, पर कई साल पहले मैंने 'बंगदर्शन' नामक मासिक पत्र में द्रौपदी के चरित्र का जो चित्र खेंचा था उसके लिए यह बहुत ही ठीक है। स्त्रियों के मुँह से यह बात अच्छी लगे या न लगे, यह मैं जरासंधवध की आलोचना में तथा अन्यत्र समझा चुका हूँ। द्रौपदी की इस वक्तृता के उपसंहार में कविता का अपूर्व कौशल है। वह अंश यों है :

यह सुनकर द्रुपदनंदिनी जिसका वर्ण श्याम था और जिसके बाल घूँघुरवाले, बड़े सुंदर, सुवासित, सब लक्षणों से युक्त और काले नाग से थे, नेत्रों में आँसू भरकर दीनता के साथ फिर कृष्ण से कहने लगी : "हे जनार्दन, दुष्ट दुःशासन ने मेरे यही बाल खेंचे थे। शत्रु संधि के लिए कहीं तो इन बालों की याद कर लेना। भीम और अर्जुन तो दीन हो संधि के लिए तैयार बैठे हैं। इसमें मेरी कुछ हानि नहीं है। मेरे वृद्ध पिता अपने महारथी पुत्रों सहित शत्रुओं से लड़ेंगे और मेरे पाँचों लड़के अभिमन्यु को आगे कर शत्रुओं का नाश करेंगे। दुष्ट दुःशासन की श्यामल भुजाएँ कट कर जब तक धरती पर लोटते मैं न देखूँगी, तब तक मुझे शांति कहां? मैं अपने हृदय में क्रोध की धधकती हुई आग रखे तेरह वर्ष से बैठी हूँ। अब तेरह वर्ष बीत जाने पर भी उसके ठंढ़ी करने का कुछ भी उपाय होते नहीं देखती हूँ। आज फिर धर्म पथ पर चलने वाले वृकोदर के वाक्यशल्यों से मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है।

निविड़नितंबिनी, विशालनयनी कृष्णा यह कहकर काँपती हुई रोने लगी। उसके गर्म आँसुओं से उसके दोनों स्तन भीग गए। महाबाहु वासुदेव उसे समझा कर बोले : "हे, कृष्णे तुम थोड़े ही दिनों में कौरवों की स्त्रियों को रोती हुई देखोगी। जिस तरह तुम रो रही हो, वैसे ही कौरवों की स्त्रियाँ अपने भाई-बंदों के मारे जाने पर रोएँगी। मैं युधिष्ठिर के नियुक्त करने पर भीम, अर्जुन और नकुल के साथ कौरवों के वध में लगूँगा। धृतराष्ट्र के लड़के काल की प्रेरणा से मेरी बात न मानेंगे और शीघ्र ही कुत्तों और स्यारों के आहार बनकर धरती पर लेटेंगे। यदि हिमालय पर्वत चले, पृथ्वी उतरावे, आकाशमण्डल ताराओं के सहित गिर पड़े, तथापि मेरी बात असत्य नहीं होगी। हे कृष्णे, रोओ मत, मैं सत्य कहता हूँ, तुम शीघ्र ही अपने पतियों को शत्रुओं का संहार कर राज्य प्राप्त करते देखोगी।"

यह उक्ति रक्त के प्यासे हिंसक स्वभाव वालो की नहीं है और न क्रोधियों की है। यह ऐसे मनुष्य की केवल भविष्यवाणी है जो अपनी सर्वत्रगामी और सर्वकाल व्यापी बुद्धि के प्रभाव से भविष्य में क्या होगा, प्रत्यक्ष देखते थे। कृष्ण भली भाँति जानते थे कि दुर्योधन राजपाट लौटाकर कदापि संधि नहीं करेगा। यह जानकर भी वह संधि करने चले, इसका कारण है कि जो कर्त्तव्य है, उसे करना ही पड़ेगा, फल की सिद्धि हो चाहे न हो। हो गई तो वाह-वाह, न हुई तो वाह-वाह! गीता में कहा हुआ उसका यही अमृतमय धर्म है। स्वयं उन्होंने अर्जुन को सिखाया है :

सिद्धसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

इसी नीति के अनुसार आदर्श योगी श्री कृष्ण आगे क्या होगा जानकर भी सन्धि के लिए कौरव सभा में चले।

V : यात्रा

यात्रा के समय श्री कृष्ण के सब ही काम मनुष्य के उपयोगी और समयोचित हुए थे। कौरव-सभा में जाने की इच्छा से उन्होंने रेवती नक्षत्र, कार्त्तिक मास और मैत्र मुहूर्त में स्नान ध्यान से निश्चिंत हो वसनभूषण धारण करके सूर्य और अग्नि की पूजा की तथा विश्वासी ब्राह्मणों से मंगलपाठ सुना। फिर बैल की पूँछ तथा कल्याण करने वाले पदार्थों को देख कर, ब्राह्मणों को प्रणाम और अग्नि की प्रदक्षिणा कर के उन्होंने यात्रा की।

श्री कृष्ण के गीतोक्त धर्म में उस समय के प्रबल काम्य कर्मपरायण वैदिक धर्म की निंदा है। पर तो भी वह वेदपरायण ब्राह्मणों का कभी अनादर नहीं करते

थे। वह आदर्श मनुष्य थे। इससे वह ब्राह्मणों के साथ वही बर्त्ताव करते थे, जो उस समय उचित था। उस समय के ब्राह्मण भी विद्वान्, ज्ञानवान्, धर्मात्मा और परस्वार्थी थे। वे सदा समाज के हितसाधन में लगे रहते थे, इससे और वर्ण उनकी पूजा करते थे और यह उचित भी था। कृष्ण भी इसी हेतु उनकी पूजा प्रतिष्ठा करते थे। इसका प्रमाण मार्ग में ऋषियों का समागम है।

इसका वर्णन इस प्रकार है : ''महावाहु केशव ने कुछ दूर जाने के वाद व्रह्म तेज से जाज्वल्यमान कई ऋषियों को रास्ते के दोनों ओर खड़े देखा। उन्होंने देखते ही तुरंत रथ से उतर कर प्रणाम किया और पूछा : ''हे महर्षि, कहिये सव लोग कुशल से तो हैं? धर्म का अनुष्ठान अच्छी तरह होता है न? क्षत्रियादि तीनों वर्ण ब्राह्मणों के अधीन हैं न? आप लोग कहां से आये, अब कहां जाने का विचार है? आप लोगों की क्या जरूरत है? मुझे आपका कौन-सा काम करना होगा? आप लोग किस लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं? ''इस पर महाभान जामदगन्य ने कृष्ण को आलिंगन करके कहा कि ''हे मधुसूदन, हममें कोई देवर्षि, कोई व्रह्मश्रुत ब्राह्मण, कोई राजर्षि और कोई तपस्वी हैं। हमने कई बार देवासुरों का समागम देखा है। अभी हम क्षत्रियों, राजाओं और आपको देखने के लिए जा रहे हैं। हम लोग कौरव सभा में आपका धर्मार्थ युक्त वचन सुनना चाहते हैं। हे यादवश्रेष्ठ, आप, भीष्म, द्रोण तथा विदुर आदि महात्मा, जो सत्य और हितकर वचन बोलेंगे, उनके सुनने के लिए हम लोगों को वड़ा कौतूहल हो रहा है। आप अव शीघ्र कौरवों के यहाँ पधारिए। हम लोग आपको वहाँ सभा-मण्डप में दिव्य आसन पर बैठे और तेज से प्रकाशित होते देखकर आपसे वातचीत करेंगे।''

यहाँ यह भी कह देना उचित है कि यह जामदगन्य परशुराम श्री कृष्ण के समसामयिक कहे जाते हैं। रामायण में यह रामचन्द्र के समसामयिक कहे जाते हैं। और पुराणों में लिखा है कि वह राम और कृष्ण दोनों के पहले हुए हैं और विष्णु के अवतार हैं। पुराणों के दस अवतार कहाँ तक संगत हैं, इसका विचार दूसरी पुस्तक में करूँगा।

हस्तिनापुरकी इस यात्रा से जान पड़ता है कि श्री कृष्ण को सर्वसाधारण भी मानते थे। इस यात्रा का कुछ और वर्णन नीचे देता हूँ :

देवकीनंदन कृष्ण धान के हरेभरे सुंदर परम पवित्र खेतों और अति मनोहर पशुओं को देखते हुए वहुतेरे नगर और राज्य पार कर गए। कौरवों से रक्षित, सदा प्रसन्न, निश्चिन्त, व्यसनरहित पुरवासीगण कृष्ण के दर्शन की कामना करके उपपल्व्य नगर

से आकर सड़क पर प्रतीक्षा करने लगे। कुछ देर के बाद महात्मा कृष्ण के आ जाने पर सबने विधिपूर्वक उनकी पूजा की।

इधर भगवान मरीचिमाली की किरणों को त्यागकर लोहित कलेवर धारण करने पर शत्रुनाशी मधुसूदन बृकस्थल पहुँच कर रथ से तुरंत उतर पड़े। शौचादि से निवृत्त हो संध्यावंदन करने लगे। उधर दारुक कृष्ण के आज्ञानुसार घोड़ों को रथ से खोलकर शास्त्रानुसार उनकी सेवा करने लगा। महात्मा मधुसूदन संध्या करने के उपरांत अपने साथ के मनुष्यों से बोले : "हे परिचारको! युधिष्ठिर के काम के अनुरोध से आज यहीं रात काटनी पड़ेगी"। परिचारकों ने उनका अभिप्राय समझ क्षणभर में तम्बू खड़ा करके विविध प्रकार का सुंदर भोजन तैयार कर दिया। पीछे वहाँ के स्वधर्मावलम्वी आर्य कुलीन ब्राह्मणों ने आराति कुल-कालांतक महात्मा ऋषीकेश के समीप आ-आकर पूजा की और आशीर्वाद दिए। फिर अपने-अपने घर ले चलने की अभिलाषा प्रगट की। भगवान मधुसूदन उनका अभिप्राय जानकर उनके घर गये। और उनकी पूजा करके वापिस आए। पीछे उन ब्राह्मणों के साथ मीठे-मीठे पदार्थ भोजन कर के उन्होंने वहीं सुख से रात बिता दी।

यह सर्व्वथा मनुष्य चरित्र होने पर भी आदर्श पुरुष के ही उपयुक्त है। कोई देवता समझकर कृष्ण का आदर सम्मान नहीं करता था। हाँ, श्रेष्ठ मनुष्य का जैसा आदर-सम्मान हो सकता है, वैसा ही उनका हुआ। और आदर्श मनुष्य लोगों के साथ जैसा वर्त्ताव कर सकता है या उसके करने की सम्भावना है, वैसा ही उन्होंने किया।

VI : हस्तिऩापुर में पहला दिन

कृष्ण आ रहे हैं, सुनकर वृद्ध धृतराष्ट्र ने उनके स्वागत के लिए पूरी तैयारी की। रत्नखचित सभा-भवन बनवाया। और उनको देने के लिए बहुत से घोड़े, हाथी, रथ, दास 'बिन बच्चे की दासियाँ', भेड़ें, अश्वयुक्त रथ, मणि आदि वह संग्रह करने लगा। यह सब देखकर विदुरने कहा : "वाह! तुम जैसे धार्मिक हो वैसे ही बुद्धिमान भी हो। पर यह सब भेंट चढ़ाकर कृष्ण को तुम फुसला न सकोगे। जिस काम के लिए वह आते हैं, पहले उसका बंदोवस्त करो, वह उसी से प्रसन्न होंगे, भेंट पूजा पाकर प्रसन्न नहीं होंगे।"

धृतराष्ट्र धूर्त्त और विदुर सीधे थे। दुर्योधन दोनों ही था। वह बोला : "कृष्ण पूजनीय अवश्य हैं, पर उनकी पूजा नहीं होगी। युद्ध तो रुकेगा नहीं, फिर उनके आदर-सत्कार की आवश्यकता क्या है? अभी आदर-सत्कार करने से लोग समझेंगे

कि हम डर तथा खुशामद से ऐसा करते हैं। मैंने इससे अच्छा उपाय सोचा है। वह आवेंगे तो मैं उन्हें कैद कर रखूँगा। कृष्ण के भरोसे ही पाण्डव कूदते हैं। मैं कृष्ण को ही फँसा लूंगा—वस पाण्डव आप ही नाक रगड़ते आवेंगे।"

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने लाचार होकर पुत्र को फटकारा, क्योंकि कृष्ण दूत होकर आ रहे थे। कृष्ण के भक्त भीष्म दुर्योधन को उलटी-सीधी सुनाकर सभा से उठ गए।

नगरवासी और कौरव बड़े आदर और सम्मान से कृष्ण को कुरुसभा में ले आए। उनके लिए जो रत्नखचित सभा बनी थी या सजावट हुई थी, उसे उन्होंने आँख उठाकर भी नहीं देखा। वह धृतराष्ट्र के भवन में जाकर कुरुसभा में बैठे और जो जिस योग्य था, उससे वैसी ही बातचीत करने लगे। फिर दीनबंधु कृष्ण राजभवन से दीनभवन की ओर चले।

विदुर धृतराष्ट्र का एक तरह का भाई था। दोनों ही व्यासजी के औरस पुत्र थे। पर धृतराष्ट्र राजा विचित्रवीर्य की रानी के गर्भ से और विदुर उसकी दासी के गर्भ से हुए थे। विदुर को विचित्रवीर्य का क्षेत्रज पुत्र मानने पर भी उसकी जातपात का पता नहीं लगता है, क्योंकि उसका जन्म ब्राह्मण के औरस, क्षत्रिय के क्षेत्र और वेश्या के गर्भ से हुआ था।[4] यह साधारण मनुष्य, पर परम धार्मिक था। कृष्ण राजभवन त्यागकर विदुर के घर उतरे और वहीं उन्होंने भोजन किया। आज भी लोग कहते हैं, "दुरजोधन की मेवा त्यागी, साग विदुर घर खायो।" पाण्डवों की माता, कृष्ण की बुआ कुन्ती विदुर के ही घर रहती थी। वन जाने के समय पाण्डव उसे वहीं रख गए थे। कृष्ण कुंती को प्रणाम करने गए। कुंती अपने वेटों और बहू की दुःख कहानी याद कर कृष्ण के सामने बहुत रोयी, कलपी। कृष्ण ने इसके उत्तर में जो कुछ कहा वह बड़े महत्त्व का है। जो सवांग मनुष्य चरित्र भली-भाँति जानता है, उसके सिवा और कोई इसका महत्त्व नहीं समझ सकता है। मूर्खों की तो बात ही नहीं हैं। श्री कृष्णा कहते हैं :

पाण्डव निद्रा, तन्द्रा, हर्ष, क्षुधा, पिपासा, शीत, ऊष्ण को जीतकर वीरों की तरह सुख से वास करते हैं। वे लोग इन्द्रियों का सुख परित्याग कर वीरोचित सुख से संतुष्ट हैं। महावली, महोत्साही वीर थोड़े से कभी संतोष नहीं करेंगे। वीर लोग सुख ही भोगते हैं। पर इंद्रियों का सुख चाहने वाले मध्यम अवस्था में ही संतुष्ट रहते हैं। पर वह अवस्था दुःख का घर है। राज्य प्राप्ति या वनवास ही सुख का मूल कारण है।

'राज्यप्राप्ति या वनवास'[5]—यह आजकल के हिंदू नहीं समझते हैं। समझते

तो इतना दुःख न रहता। जिस दिन समझेंगे, उस दिन दुःख भी नहीं रहेगा। हिंदुओं के पुराणों और इतिहासों में ऐसी बातों के रहते हिन्दू मेमों के लिखे उपन्यास पढ़कर दिन काटते हैं, या सभा में पाँच आदमी इकट्ठे होकर चिड़ियों की तरह चूँ-चूँ करते हैं।

कृष्ण ने कुंती से यह भी कहा कि "आप उन्हें शत्रुओं का नाश कर के सब लोगों पर राज्य करते और अनंत सम्पत्ति भोगते देखेंगी।" मतलब यह कि कृष्ण भली-भाँति जानते थे कि संधि नहीं होगी, युद्ध होगा। तो भी वह संधि के लिए हस्तिनापुर गए, क्योंकि जो कर्त्तव्य है, उसका पालन करना चाहिए, फल हो चाहे न हो। फलाफल से अनासक्त हो कर्त्तव्य साधन करना चाहिए इसे ही उन्होंने गीता में कर्म योग्य कहा है। युद्ध की अपेक्षा संधि मनुष्यों के लिए हितकर है। इसलिए संधि करना कर्त्तव्य है। परंतु यथासाध्य चेष्टा करने पर भी संधि न हो सकी तो कृष्ण ने ही अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित किया और सहायता दी। क्योंकि संधि न हुई तो युद्ध ही कर्त्तव्य है। जिस कर्मयोग का उपदेश श्री कृष्ण ने गीता में किया है, उसके वह स्वयं प्रधान योगी थे। उनके आदर्श चरित्र को आलोचना बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से करने पर वास्तविक मनुष्यत्व समझ में आ सकेगा, इसी से इतना परिश्रम कर रहा हूँ।

कृष्ण कुंती से विदा होकर फिर कौरवों की सभा में पहुँचे। वहां दुर्योधन ने भोजन का निमंत्रण दिया। पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया। दुर्योधन ने इसका कारण पूछा। कृष्ण ने पहले तो लौकिक नीति स्मरण कराकर कहा : "दूत काम हो जाने पर भोजन करते और भेंट लेते हैं। मेरा काम हो जाय तो मैं भेंट पूजा लूँगा।" पर दुर्योधन ने न माना। वारंवार आग्रह करने लगा। तब फिर कृष्ण ने कहा : "लोग प्रेम से या दुःखी हो कर दूसरे का अन्न खाते हैं। आप प्रेम से मुझे खिलाना नहीं चाहते हैं और मैं भी आफत का मारा नहीं हूँ, फिर मैं आपका अन्न क्यों खाऊँ?"

भोजन का न्योता मानना एक मामूली बात है। पर मामूली बातों का जमाव ही हमारा दैनिक जीवन है। मामूली वातों के लिए भी नीति है, अथवा होनी चाहिए। वड़े-बड़े कामों की नीति का जो मूल है, वहीं छोटे-छोटे कामों की नीति का भी है। सबका मूल धर्म है। महात्मा और नीचात्मा में बस यही भेद है कि नीचात्मा धर्म ने छोड़ने पर भी मामूली कामों में नीति के अनुसार नहीं चल सकता, क्योंकि वह नीति का मूल नहीं ढूँढ़ता है। आदर्श मनुष्य छोटे-मोटे कामों में भी नीति

का मूल खोजते हैं। श्री कृष्ण ने देखा कि दुर्योधन का न्योता मानना सरलता और सत्यता के विरुद्ध है। इसलिए उन्होंने दुर्योधन को सीधा और सच्चा उत्तर दे दिया। स्पष्ट बात कठोर होने पर भी उन्होंने कहने में संकोच नहीं किया। अकपट व्यवहार धर्म सम्पन्न हो, तो उसे मैं कठोर नहीं कह सकता। इस धर्म विरुद्ध लज्जा के मारे हमें छोटे-छोटे अधर्मों में भी प्रायः फँसना पड़ता है।

कृष्ण फिर कौरव सभा से उठकर विदुर के घर गए। रात को विदुर के साथ श्री कृष्ण की बहुत बातचीत हुई। विदुर ने उनसे कहा कि तुम्हारा यहाँ आना अनुचित हुआ क्योंकि दुर्योधन किसी तरह संधि न करेगा। कृष्ण ने जो उत्तर दिया था, उसके कुछ शब्द यों हैं : ''हाथी, घोड़े, रथ सहित सारी विपदग्रस्त पृथ्वी को जो मृत्यु से बचा सकेगा, उसे बड़ा धर्म होगा।''

यूरोप के हर महल में यह वाक्य सोने के अक्षरों में लिखकर रखना चाहिए। यहाँ तक कि शिमले का राजभवन भी खाली न रहे।

कृष्ण फिर कहते हैं : ''विपदा में पड़े हुए भाई को बचाने का जो यथासाध्य प्रयत्न नहीं करता है, उसे पण्डित लोग क्रूर कहते हैं। बुद्धिमान मित्रों की चोटी तक पकड़कर उन्हें बुरी राह जाने से रोकते हैं।....यदि वह (दुर्योधन) मेरी हित की बातें सुनकर भी मुझ पर शंका करे तो मेरी कुछ भी हानि नहीं है। उलटे मुझे परम संतोष होगा कि मैं उसे समझाकर अपने बोझ से हल्का हो गया। भाई-बंदों के आपस के झगड़े के समय जो अच्छी सलाह नहीं देता, वह कभी अपना नहीं है।''

यूरोप वालों का विश्वास है कि कृष्ण निरे परस्त्रीलोलुप और पापी थे। यहाँ वालों में भी किसी-किसी का यही विश्वास है और किसी का यह है कि कृष्ण ने मनुष्य हत्या के लिए जन्म लिया था और वह 'कुचक्री' थे, अर्थात् अपना मतलब निकालने के लिए षड़यंत्र रचा करते थे। पर वह ऐसे नहीं थे—वह लोकहितैषियों में श्रेष्ठ, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, धर्मोपदेशकों में श्रेष्ठ और आदर्श मनुष्य थे। यही समझाने के लिए इतना लिखा है।

VII : हस्तिनापुर में दूसरा दिन

दूसरे दिन सवेरे स्वयं दुर्योधन और शकुनी कृष्ण को बुलाकर दरबार में ले गए। बड़ा भारी दरबार था। नारदादि देवर्षि और जमदग्नि आदि ब्रह्मर्षि वहां उपस्थित थे। कृष्ण बड़ी लंबी-चौड़ी वक्तृता देकर संधि के लिए राजा धृतराष्ट्र को समझाने लगे। ऋषियों ने भी समझाया। पर कुछ न हुआ। धृतराष्ट्र ने कहा : ''संधि मेरी

सामर्थ के बाहर है, दुर्योधन से कहो।" कृष्ण, भीष्म, द्रोण आदि ने दुर्योधन को वहुत समझाया पर वह टस-से-मस न हुआ। संधि करना तो दूर रहा, उलटे उसने कृष्ण को दो-चार खरी-खोटी सुना दीं। कृष्ण ने भी उसका मुंहतोड़ जवाव दिया। दुर्योधन की बेईमानी का भंडाफोड़ हो गया। वह आगवबूला होकर चल दिया।

इस पर श्री कृष्ण ने धृतराष्ट्र को वही काम करने का परामर्श दिया जो समस्त पृथ्वी की राजनीति का मूलमंत्र है। राज्यशासन का मूलमंत्र, प्रजा की रक्षा के हेतु दुष्टों का दमन करना है। अर्थात् बहुतों के हित के लिए एक को दंड देना उचित है। समाज की रक्षा के लिए हत्यारे की हत्या करनी चाहिए। जिसके कैद न करने से हजारों मनुष्यों के प्राण जाते हों उसे पकड़कर कैद करना चाहिए। यही ज्ञानियों का उपदेश है। यूरोप के समस्त राजाओं और मंत्रियों ने मिलकर इसी हेतु सन् 1815 ई. में नेपोलियन को आजन्म के लिए कारागार में भेजा था। इसीलिए महानीतिज्ञ श्री कृष्ण ने धृतराष्ट्र को सलाह दी कि दुर्योधन को कैद कर के पांडवों से सुलह कर लीजिए। उन्होंने यह भी कहा कि देखिए मैंने यदुवंश की रक्षा के लिए अपने मामा कंस तक को मार डाला था। पर श्री कृष्ण की बात नहीं मानी गई।

इधर दुर्योधन विगड़कर श्री कृष्ण को कैद कर लेने के लिए कर्ण से सलाह करने लगा। सात्यकी, कृतवर्मा आदि कृष्ण के भाई-वंद सभा में उपस्थित थे। सात्यकी कृष्ण का वड़ा भक्त और प्रिय था। वह अस्त्रविद्या में अर्जुन का शिष्य और वीरता में उसके ही समान था। महा बुद्धिमान सात्यकी को दुर्योधन का अभिप्राय मालूम हो गया। उसने कृतवर्मा को ससैन्य नगर द्वार पर तैयार रहने के लिए कहा और कृष्ण से सारा हाल कह दिया। फिर भरी सभा में धृतराष्ट्र से कहा। विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा, "आग में गिरकर जिस तरह पतंग जल जाते हैं, उसी तरह क्या यह (दुर्योधन) भी नहीं जल मरेंगे? श्री कृष्ण चाहें तो युद्ध में परास्त कर सवको यमपुर भेज देंगे," इत्यादि।

पीछे कृष्ण ने जो कुछ कहा वह वास्तव में आदर्श पुरुष के योग्य है। वह वलवान थे, इसी से क्षमाशील और क्रोधशून्य थे। वह धृतराष्ट्र से बोले : "सुनता हूँ कि दुर्योधन आदि गुस्सा होकर मुझे कैद करना चाहते हैं। पर आप आज्ञा कर देखिए कि मैं उन पर आक्रमण करता हूँ, या वह मुझ पर करते हैं। मुझमें इतनी सामर्थ है कि मैं अकेला ही इन सवकी खवर ले सकता हूँ। पर मैं निन्दित और पापजनक काम कुछ नहीं करूँगा। पाण्डवों का धन लेने के लालच में आपके लड़के ही अपना नाश आप करेंगे। वास्तव में यह मुझे पकड़ने की इच्छा कर

युधिष्ठिर की भलाई ही कर रहे हैं। मैं आज ही इन्हें और इनके पिछलगों को कैद करके पाण्डवों के हवाले कर सकता हूँ, इसमें मुझे पाप भागी भी नहीं बनना पड़ेगा। पर आपके सामने ऐसा क्रोध और पाप बुद्धि जनित गर्हित काम मैं नहीं करूँगा। मैं आज्ञा देता हूँ कि दुष्ट लोग दुर्योधन की इच्छानुसार ही काम करें।"[6]

यह सुनकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बुलवा भेजा और आने पर फटकारा। कहा : "तू बड़ा कठोर, पापी और नीच है। इसी से यह अयश दिलाने वाला, साधुओं के अयोग्य, असाध्य पाप करने के लिए तू तैयार हुआ है। कुलद्रोही मूढ़ों की तरह दुष्टों के साथ मिलकर तू दुर्द्धर्ष जनार्दन को पकड़ रखना चाहता है। बालक जिस प्रकार चंद्रमा को पकड़ना चाहता है, उसी प्रकार तू भी इंद्रादि देवताओं से भी न जीते जाने वाले केशव को पकड़ने की इच्छा करता है। देवता, गंधर्व, असुर, नाग और मनुष्य भी जिसका सामना नहीं कर सकते, उन केशव को क्या तू नहीं जानता है? बेटा, हाथों से हवा नहीं पकड़ी जाती है। हथेली से आग नहीं छूई जा सकती है, सिर पर पृथ्वी कभी उठाई नहीं जा सकती, और न बल से केशव ही पकड़े जा सकते हैं।"

विदुर ने भी दुर्योधन को डांटा। विदुर के चुप होने पर वासुदेव बड़े जोर से खिलखिला उठे। पीछे सात्यकी और कृतवर्मा का हाथ पकड़ कर चल दिए।

यहां तक तो महाभारत में जो कुछ लिखा है, वह सुसंगत और स्वाभाविक है, किसी तरह की गड़वड़ नहीं है। न अलौकिक है और न अविश्वास के योग्य ही कुछ है। पर क्षेपक मिलाने वालों से यह नहीं देखा गया। क्षेपक मिलाने के लिए उनके हाथ खुजलाने लगे। उन्होंने सोचा कि इतनी वड़ी घटना हो गई उसमें एक भी अस्वाभाविक और अद्‌भुत वात नहीं, फिर भला कृष्ण की ईश्वरता कैसे बनी रहेगी? कदाचित् यही सोच-विचारकर उन्होंने कृष्ण के हंसने और उठकर चल देने के बीच में विराट् रूप घुसेड़ दिया। भीष्म पर्व के भगवद्‌गीता पर्वाध्याय में फिर विराट् रूप का (यह चाहे क्षेपक हो या न हो) वर्णन आया है। इन दोनों विराट् रूपों के वर्णन में वड़ा भेद है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में विराट् रूप का जो वर्णन है, वह प्रथम श्रेणी के कवि की रचना है। साहित्य जगत् में वैसी रचना दुर्लभ है। पर भगवद्‌यान पर्वाध्याय में विराट् रूप का वर्णन जिसका लिखा है, उसके लिए काव्य रचना विडंबना मात्र है। भगवद्‌गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं : "तुम्हारे सिवा और किसी ने यह रूप पहले नहीं देखा है।" पर यहां कौरव सभा में दुर्योधनादि वह रूप पहले ही देख

चुके थे। फिर उसी अध्याय में भगवान कहते हैं : "तुम्हारे सिवा और कोई मनुष्य वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान, क्रिया और कठोर तपस्या करके भी मेरा यह रूप नहीं देख सकता है।" पर कुकवियों की कृपा से कौरव सभा में ऐरों-गैरों ने भी विराट् रूप देख लिया। गीता में यह भी लिखा है कि "अनन्य भक्ति से ही मेरा यह रूप लोग जान वा देख सकते हैं और तत्वज्ञान से ही उसमें लीन हो सकते हैं।" पर यहां दुष्ट, पापात्मा, भक्ति शून्य, शत्रुओं ने भी विराट् रूप का अवलोकन किया।

मूर्ख भी कोई काम बिना प्रयोजन नहीं करता है। और जो विश्वरूपी है, उसका कहना ही क्या है। यहां विराट् रूप दिखलाने की कुछ आवश्यकता नहीं थी। दुर्योधनादि श्री कृष्ण को पकड़ रखने का विचार करते थे, कुछ चेष्टा उन्होंने नहीं की। बाप और चाचा की फटकार सुनकर दुर्योधन चुप हो गया था। अगर वह कुछ और भी करता तो उसकी कुछ न चलती। कृष्ण स्वयं इतने बली थे कि बलपूर्वक उन्हें कोई नहीं पकड़ सकता था। यह धृतराष्ट्र ने कहा, विदुर ने कहा और स्वयं कृष्ण ने भी कहा था। यदि कृष्ण में अपने बचाव की सामर्थ न होती तो भी कुछ चिंता न थी, क्योंकि सात्यकी, कृतवर्मा आदि वृष्णिवीर उनकी सहायता के लिए तैयार थे। उनकी सेना भी फाटक पर खड़ी थी। दुर्योधन की सेना के बारे में कुछ नहीं लिखा है। इसलिए उन्हें बलपूर्वक पकड़ लेने की कुछ संभावना न थी। संभावना होने पर भी डर जाएं ऐसे कापुरुष कृष्ण नहीं थे। जो विराट् रूप है उसके लिए भय की संभावना नहीं। इसलिए विराट् रूप दिखाने का यहां कोई कारण नहीं था। ऐसी अवस्था में क्रुद्ध या दाम्भिक मनुष्य को छोड़ और कोई शत्रु को डराने का प्रयत्न नहीं करता है। जो विश्वरूप है, वह क्रोधशून्य और दम्भशून्य है। इसलिए यहां विराट् रूप की कथा कुकवि की अलीक रचना समझ कर छोड़ देना ही उचित है। मैं बारंबार दिखला चुका हूं कि कृष्ण ने मानुषी शक्ति से ही काम लिया है, दैवी से नहीं। यहां इसके विपरीत करने का कुछ कारण नहीं दिखाई देता है।

कुरु-सभा से उठकर श्री कृष्ण कुंती से बातचीत करने गए। वहां से उपपल्व्य नगर चले। वहां पांडव थे। चलने के समय उन्होंने कर्ण को अपने रथ पर बिठा लिया। कृष्ण को पकड़ रखने का विचार जिन्होंने किया था, उनमें कर्ण भी था। कर्ण को रथ पर बिठाकर कृष्ण क्यों ले चले, यह अगले परिच्छेद में बताऊंगा। इससे कृष्ण चरित्र और भी साफ हो जाता है। साम और दंडनीति में कृष्ण की नीतिज्ञता दिखा चुका हूं। अब भेद नीति की पारदर्शिता दिखाऊंगा। साथ ही यह

भी दिखाऊंगा कि कृष्ण आदर्श पुरुष थे। उनकी दया, उनकी बुद्धि और उनकी लोकहित की कामना अलौकिक थी।

VIII : कृष्ण-कर्ण संवाद

कृष्ण दयामय थे, वह सब जीवों पर दया करते थे। महायुद्ध में असंख्य प्राणियों का नाश होगा, इससे कोई क्षत्रिय व्यथित नहीं हुआ, केवल कृष्ण ही इसके लिए व्यथित थे। विराट् नगर में जब युद्ध का प्रस्ताव हुआ था तब कृष्ण ने युद्ध के विरुद्ध मत दिया था। अर्जुन जब युद्ध का निमंत्रण देने गए तब श्री कृष्ण ने अस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। पर युद्ध बंद नहीं हुआ। अब दूसरा उपाय न देख निराश हो वह संधि के लिए हस्तिनापुर आए। पर वहां भी कुछ नहीं हुआ। प्राणि हत्या न रुक सकी। तब वह दूसरा उपाय सोचने लगे।

कर्ण महावीर था। वह अर्जुन के तुल्य रथी था। दुर्योधन कर्ण के भरोसे ही कूदता फिरता था और युद्ध करने के लिए तैयार था। यदि कर्ण उसकी पीठ पर न होता तो वह कदापि युद्ध का नाम न लेता। कर्ण अगर पांडवों की ओर आ जाए तो दुर्योधन युद्ध से हाथ खेंच लेगा, श्री कृष्ण ने यही सब सोचकर एकांत में बातचीत करने के लिए कर्ण को रथ पर बिठा लिया था।

कृष्ण को अपना मतलब निकालने का सहज उपाय भी मालूम था, जो और कोई नहीं जानता था। कर्ण को लोग अधिरथ नामक सूत का पुत्र जानते थे। वास्तव में वह अधिरथ का पुत्र नहीं था। उसे उसने पुत्रवत् पाला जरूर था। कर्ण को यह नहीं मालूम था। वह अपने जन्म की भी बात नहीं जानता था। वह सूतपत्नी राधा के गर्भ से नहीं हुआ था। वह सूर्य के वीर्य और कुंती के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। जिस समय कर्ण का जन्म हुआ उस समय कुंती कुंवारी थी। इसीलिए उसने उसे फेंक दिया था। वास्तव में कर्ण युधिष्ठिरादि पांडवों का ज्येष्ठ सहोदर था। यह बात कुंती के सिवा और कोई नहीं जानता था। हां, कृष्ण जानते थे, क्योंकि उनकी अलौकिक बुद्धि के आगे सब बातें आप ही प्रगट हो जाती थीं। कुंती उनकी बुआ थी। भोजरात के यहां यह घटना हुई थी। इससे मनुष्य बुद्धि से उसका जान लेना असंभव नहीं था।

कृष्ण यही बात रथ पर बैठे कर्ण को सुनाकर बोले, "शास्त्रों ने कहा है कि जो कन्या का पाणिग्रहण करता है, वही उस कन्या के सहोड़[7] और कानीन[8] पुत्रों का पिता होता है। हे कर्ण, तुम भी अपनी माता की कन्यावस्था में उत्पन्न हुए हो, इसलिए तुम धर्म से उसके पुत्र हो। इसलिए चलो, धर्म शास्त्र के विरुद्ध

भी तुम राजेश्वर होगे।'' उन्होंने कर्ण को यह समझा दिया कि तुम बड़े हो इसलिए तुम ही राजा होगे और पांचों पांडव तुम्हारी आज्ञा में रहकर सेवा करेंगे।

श्री कृष्ण के इस परामर्श से सबका भला होता और धर्म बढ़ता। पहले कर्ण को ही लीजिए। अगर वह कृष्ण का कहना मान लेता, तो उसके राजेश्वर बनने में क्या देर थी? फिर भाइयों से शत्रुता की जगह मित्रता हो जाती और इससे धर्म बढ़ता। इससे दुर्योधन का भी भला होता। युद्ध होने से उसका राज्य ही नहीं सारा वंश नष्ट हो गया। अगर युद्ध न होता, तो राज्य भी बच जाता और सबके प्राणों की रक्षा होती। हां, पांडवों का हिस्सा जरूर लौटाना पड़ता। इससे पांडवों की भी भलाई होती। वह फिर अपने भाई-बंदों तथा असंख्य प्राणियों की हत्या से बच जाते और कर्ण के साथ आनंद से राज्य का सुख भोगते।

कर्ण ने कृष्ण के परामर्श की उपयोगिता स्वीकार की, पर वह लाचार था। वह जानता था कि युद्ध में दुर्योधन की जीत नहीं होगी। पर तो भी कृष्ण की बात न मान सका, क्योंकि उसे कलंक का टीका लगता। वह बुरी तरह फंस गया था। अधिरथ और राधा ने उसका पालन-पोषण किया था। उनके यहां रहकर उसने सूतवंश की कन्या से ब्याह किया था। और उससे बेटे पोते भी हो चुके थे। भला उन्हें वह किस तरह छोड़ देता? इसके सिवा वह तेरह वर्ष से दुर्योधन के यहां राज्य सुख भोग रहा था। ऐसी दशा में दुर्योधन का साथ छोड़कर पांडवों की ओर जाता, तो उसकी बड़ी बदनामी होती। लोग यही कहते कि कर्ण बड़ा कृतघ्न है, लालची है, डरपोक है, पांडवों से डर गया। यही सब सोचकर कर्ण ने कृष्ण की बात नहीं मानी।

कृष्ण बोले : ''मेरी बात तुम्हारे चित्त में नहीं बैठी तो अवश्य ही पृथ्वी का संहार होने वाला है।''

कर्ण ने इसका उपयुक्त उत्तर दिया। फिर कृष्ण से गले मिलकर उदास भाव से वह लौट गया।

कृष्ण चरित्र समझाने के लिए कर्ण चरित्र की विस्तृत आलोचना व्यर्थ है। इससे उस विषय में कुछ नहीं लिखा। कर्ण का चरित्र बड़ा मनोहर और महत्त्वपूर्ण है।

IX : उपसंहार

श्री कृष्ण के लौट आने पर युधिष्ठिर ने पूछा, कहो हस्तिनापुर जाकर क्या कर आए? इस पर श्री कृष्ण अपनी तथा औरों की कही हुई बातें दुहरा गए। पर पिछले अध्यायों में जो बातें हैं, उनसे इनका कुछ भी मेल नहीं है। मेल होने

से पुनरुक्ति हो जाती। शायद इसी से किसी महापुरुष ने यह नया राग अलापा है।

भगवद्यान-पर्वाध्याय यहीं समाप्त होता है। फिर सैन्यनिर्याण पर्वाध्याय है। इसमें काम की बात कुछ नहीं है। इसकी कुछ कथाएं मौलिक और अमौलिक सी मालूम होती हैं। कृष्ण के बारे में विशेष कुछ नहीं है। कृष्ण और अर्जुन के परामर्श के अनुसार पांडवों ने धृष्टद्युम्न को सेनापति नियुक्त किया। बलराम ने मदिरा पीकर कृष्ण को थोड़ी डांट बताई और कहा कि तू कौरव-पांडवों को एक दृष्टि से नहीं देखता है। कौरव-सभा में जो कुछ हुआ था उसकी भी थोड़ी चर्चा है। बस इसके सिवा और कुछ नहीं है।

इसके बाद उलूक-दूतागमन पर्वाध्याय है। यह बिलकुल ही गया बीता है। इसमें गालीगुफतार के सिवा और कुछ नहीं है। दुर्योधन और शकुनी वगैरह ने सलाह करके उलूक को पांडवों के पास भेजा। उसने आकर पांडवों और कृष्ण को खूब गालियां दीं। पांडवों ने भी उनका मुंहतोड़ जवाब दिया। कृष्ण ने विशेष कुछ नहीं कहा, क्योंकि उनके जैसा मनुष्य, जिसे गुस्सा छू भी नहीं गया था, गाली गलौज क्यों करता, बल्कि बात बढ़ न जाए इसलिए उन्होंने उलूक को पहले ही विदा कर देने की चेष्टा की थी। वह उलूक से बोले : "जलूद जाकर दुर्योधन से कह दे कि पांडवों ने तुम्हारी बातें समझ लीं हैं। अब तुम्हारी जो इच्छा है, वही होगा।" इतना करने पर भी कृष्ण और अर्जुन को ही ज्यादा गालियां सुननी पड़ीं।

उलूक मानने वाला आदमी न था, क्योंकि वह दुर्योधन का सगा भाई था। वह फिर गालियों की फुलझड़ी छोड़ने लगा। पांडवों ने व्याज समेत उसकी गालियां लौटा दीं। कृष्ण भी चुप न रह सके। बोले कि : "मैं युद्ध न करूंगा, शायद इसी से तुम लोगों का मिजाज बढ़ गया है, पर याद रखो जिस तरह आग तिनकों को जलाकर खाक कर डालती है, उसी तरह मैं भी क्रोध कर के अंत में सारी पृथ्वी को भस्म कर डालूंगा।"

उलूक दूतागमन-पर्वाध्याय से महाभारत की लड़ाई का कुछ सरोकार नहीं है। इसमें न रचनाचातुर्य है और न कविता ही है। बल्कि कहीं-कहीं इसमें ऐसी बातें हैं जो महाभारत की और कथाओं से विरुद्ध पड़ती हैं। अनुक्रमणिकाध्याय में संजय और कृष्ण के दूतकर्म की कथा है, पर उलूक की नहीं है। इन कारणों से पहली तह में इसे नहीं मानता हूं।

इसके उपरांत रथाति-रथसंख्यान और फिर अश्वोपाख्यान पर्वाध्याय हैं। इनमें कृष्ण की कुछ भी चर्चा नहीं है। बस यहीं उद्योगपर्व समाप्त होता है।

संदर्भ

1. उद्योगपर्व में इसके बहुतेरे प्रमाण मिलते हैं कि उस समय विपक्षी भी कृष्ण की प्रधानता मानते थे। धृतराष्ट्र पांडवों के और-और मददगारों के नाम लेकर अंत में कहता है : "वृष्णिसिंह कृष्ण जिसकी ओर हों, उसका सामना कौन कर सकता है?" फिर कहता है : "कृष्ण पांडवों की रक्षा करते हैं। उनका मुकावला युद्ध में कौन अकेला कर सकता है? हे संजय, कृष्ण पांडवों के लिए जैसा पराक्रम दिखलाते हैं, वह मैं सुन चुका हूँ। उनके काम याद करके मैं हरदम बेचैन रहता हूँ। कृष्ण जिसके अगुआ हैं उसका सामना करने के लिए कौन तैयार होगा? कृष्ण अर्जुन के सारथी हुए हैं सुनकर डर के मारे मेरा हृदय काँप रहा है।" एक जगह और धृतराष्ट्र कहता है : "पर केशव तो अपराजय हैं, तीनों लोकों के स्वामी और महात्मा हैं। जो सब लोकों में एकमात्र श्रेष्ठ हैं, भला उनके सामने कौन ठहर सकता है?" ऐसी-ऐसी उसमें बहुत सी बातें हैं।
2. हाँ, जहाँ केवल परोपकार के लिए दूसरे का राज्य लिया जाता है वहाँ कुछ और बात हो सकती है। इसका विचार मेरे सामर्थ्य के बाहर हैं, क्योकि मैं राजनीतिज्ञ नहीं।
3. सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। गीता 2-48।
4. महाभारत के सब नायकों की जातपांत के वारे में ऐसा ही गड़बड़झाला है। पाण्डवों का भी यही हाल है। पाण्डवों की परदादी सत्यवती दास-कन्या थी। भीष्म की माता की जाति छिपाने की शायद खास जरूरत थी, इसी से वह गंगानंदन कहलाए। धृतराष्ट्र और पाण्डु ब्राह्मण के औरस, क्षत्रिया के गर्भ से उत्पन्न हुए। स्वयं व्यासजी धीवर की कुमारी कन्या के पुत्र थे। पाण्डु और धृतराष्ट्र की जातपांत का कुछ भी ठिकाना नहीं है। आजकल वह होते तो जाति से अलग कर दिए जाते। पाण्डु के लड़के कुंती के गर्भ से जरूर हुए, पर वह अपने बाप के जने नहीं थे। पाण्डु में पुत्रोत्पादन की शक्ति ही न थी। उनके लड़के इन्द्रादिके जने कहे जाते हैं। इधर द्रोणाचार्य के पिता भारद्वाज ऋषि थे पर उनकी माता एक कलसी थी। जिन्हें कलसी के गर्भधारण पर विश्वास न होगा, वह द्रोण के मातृकुल के बारे में विशेष संदेह करेंगे।

   पाण्डवों के पिता के विषय में जितना गोलमाल है कर्ण के बारे में भी उतना ही है। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि वह कानीन है। द्रौपदी और धृष्टद्युम्न के माता पिता कौन हैं, यह कोई नहीं कह सकता है। ये दोनों यज्ञ से उत्पन्न हुए कहे गए है।

   उस समय विवाह में कुछ बखेड़ा न था। अनुलोम, प्रतिलोम विवाह की वात नही कहता हूँ। कई ऋषियों के धर्म पत्नियाँ क्षत्रियों की कन्याएँ थीं, जैसे अगस्त की पत्नी लोपामुद्रा, ऋष्यशृङ्ग की शांता, ऋचीक की भार्य्या, जमदग्नि की भार्य्या (कोई परशुराम की भी भार्य्या कहता है) रेणुका इत्यादि। आजकल भी लोग कहते हैं कि परशुराम ने जब पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया तब ब्राह्मणों के औरस से ही पीछे के क्षत्रिय हुए। फिर ब्राह्मण की कन्या देवयानी क्षत्रिय ययातिकी धर्म पत्नी थी।

   खाने पीने का भी उस समय कुछ विचार नहीं था। यह इतिहास देखने

से मालूम होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एक दूसरे का छुआ खाते थे।

5. मिलटन ने अपने तंगदिल शैतान से कहलाया है : "स्वर्ग के दासत्व से नरक का राज्य अच्छा है।" मैं जानता हूँ, ऐसे वहुत पाठक हैं, जो इस क्षुद्र उक्ति और ऊपर लिखी हुई महावाणी में कुछ भेद नहीं मानेंगे। उनके मनुष्य होने में भी मुझे पूरा संदेह है। छोटे दिलवाला दूसरे को सुखी, समृद्ध नहीं देख सकता है। महात्मा कर्त्तव्य के अनुरोध से देख सकता है। उनकी विशाल चित्त वृत्तियाँ केवल महा दुःख की ओर ही जाएंगी या महासुख की ओर। और किसी ओर न जाएंगी।

6. कालीप्रसन्न सिंह के बङ्गला महाभारत की वड़ी प्रशंसा है, इसलिए मैंने मूल से बिना मिलाए ही उनका अनुवादित अंश प्रायः उद्धृत किया है। किंतु कृष्ण की इस उक्ति में कुछ असङ्गत दोप पाया जाता है, जैसे एक ठौर वह कहते हैं कि इस काम में मुझे पापभागी भी नहीं बनना पड़ेगा और इसके बाद ही दो पंक्ति नीचे उसी काम को पापजनित कहते हैं। इस पर मूल से मिलाकर देखा। मूल में यह दोष नहीं है। मूल यों है :

राजन्नेते यदि क्रुद्धा माँ निग ही यूरोजसा।
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव।।
एतान् हि सर्वान् संरद्धान्नियन्तुमहमुत्स हे।
न चाहं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथचंन।
पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान हास्यन्ति ते सुताः।
ऐते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः।।
अद्यैव ह्ययहमेनाश्च ये चैनाननु भारत।
निगृह्यय राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्करं भवेत।
इदन्तु न प्रवर्त्तेयं निन्दितं कर्म भारत।।
सन्निधो ते महाराज क्रोधजं पापवुद्धिजं।
एप दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत्
अहन्तु सर्वास्तनयाननुजानामि ते नृप।।

'किं दुष्करं भवेत्' का अर्थ—"पापभागी नहीं वनना पड़ेगा' नहीं है। इसका मतलब यह जान पड़ता है कि "दुर्योधन मुझे कैद करना चाहता है, मैं यदि उसे ही अभी पकड़कर ले जाऊँ तो क्या यह वुरा काम होगा?" अर्थात् दुर्योधन को कैद कर ले जाना बुरा काम नहीं था क्योंकि वहुतों की भलाई के लिए एक को त्यागना श्रेय है। इस हेतु कृष्ण ने धृतराष्ट्र से दुर्योधन को कैद करने के लिए कहा था। अगर कृष्ण उस समय उसे कैद करते तो लोग यही कहते कि उन्होंने क्रोध में आ कर ऐसा किया, कयोंकि अव तक उन्हेंने ऐसा करना नहीं विचारा था। जो काम क्रोधवश किया जाता है वह पापवुद्धिजनित है। आदर्श पुरुप को इस निंदित काम से वचना चाहिए।

7. सहोड़=गर्भवती कुमारी कन्या का पुत्र जो विवाह होने पर उत्पन्न होता है।

8. कानीन=कुमारी कन्या का पुत्र। भाषांतरकार।

अध्याय 6
कुरुक्षेत्र

I : भीष्म का युद्ध

अब कुरुक्षेत्र का महायुद्ध आरम्भ होता है। इसका वर्णन महाभारत के चार पर्वों में है। दुर्योधन के सेनापतियों के नामों पर इन चारों पर्वों के नाम क्रम से भीष्मपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व और शल्यपर्व रखे गए हैं। इन युद्ध पर्वों को महाभारत का निकृष्ट अंश समझना चाहिए, क्योंकि पुनरुक्ति, अत्यक्ति, असंगति और अरुचिकर, अस्वाभाविक तथा अनावश्यक वर्णन से यह परिपूर्ण हैं। इनका बहुत थोड़ा भाग पहली तह के अंतर्गत जान पड़ता है। कितना अंश मौलिक और कितना अमौलिक है, यह स्थिर करना बड़ा कठिन है। कांटों में से फूल चुन लेना टेढ़ी खीर है। खैर, कृष्ण के संबंध में जहाँ जो बात मिलेगी उसकी आलोचना के लिए यथा-साध्य चेष्टा करूँगा।

भीष्मपर्व के आरंभ में जम्बू खण्ड-विनिर्माण-पर्वाध्याय है। इसका युद्ध से कुछ संबंध नहीं है। महाभारत से भी स्वल्प ही है। श्री कृष्ण के बारे में तो एक शब्द भी नहीं है। इसके बाद भगवद्गीता पर्वाध्याय है। इसके पहले चौबीस अध्यायों के बाद गीता का आरम्भ होता है। इन चौबीस अध्यायों में कृष्ण की कुछ विशेष बात नहीं है। युद्ध के पहले श्री कृष्ण ने अर्जुन से दुर्गास्तव पाठ करने के लिए कहा। अर्जुन ने पाठ कर लिया। अपने-अपने विश्वास के अनुसार देवताओं की आराधना कर के किसी बड़े काम में हाथ लगाना चाहिए, इसमें परमात्मा की आराधना होती है। परमात्मा एक ही है। चाहे जिस नाम से पुकारो।

फिर गीता है। कृष्ण चरित्र का यही प्रधान अंश है। इस अनुपम, पवित्र गीतोक्त धर्म से ही कृष्ण का आदर्श मनुष्य या देवता होने का विशेष परिचय मिलता है। पर मैं गीता के बारे में यहाँ कुछ न कहूँगा। क्योंकि गीता का धर्म अलग पुस्तकों में कुछ थोड़ा-सा समझाया है। एक लिख चुका हूँ[1] और दूसरी लिख रहा हूँ[2]। गीतासंबंधी मेरे विचार इन्हीं दोनों पुस्तको में मिलेंगे। यहाँ फिर दुहराने की जरूरत नहीं है।

भगवद्गीता-पर्वाध्या के बाद भीष्मवध-पर्वाध्याय है। यहीं से युद्ध का आरंभ

है। कृष्ण युद्ध में अर्जुन के सारथी मात्र हैं। सारथी बड़े अभागे होते थे। महाभारत में जिन युद्धों का वर्णन है, उनका संचालन रथी करते थे। वे एक दूसरे के घोड़ो और सारथी को मार गिराने की चेष्टा करते थे। इसका कारण यह है घोड़ो और सारथी के गिरने से रथ नहीं चल सकता था। और रथ के न चलने से रथी निकम्मा हो जाता था। सारथी वेचारे न लड़ते थे और न लड़ना जानते थे। पर तो भी विना अपराध और विना लड़े रणभूमि में काम आते थे। श्री कृष्ण को भी यही पापड़ वेलने पड़े थे। उनके प्राण नहीं गए, पर अट्ठारह रोज में वाणों के मारे उनकी देह छलनी हो गई। और सारथी अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते थे, क्योंकि वह क्षत्रिय नहीं वैश्य होते थे। पर कृष्ण आत्मरक्षा में समर्थ होकर भी कर्त्तव्य के अनुरोध से चुप-चाप वैठे मार खाते थे।

कह चुका हूँ कि श्री कृष्ण ने युद्ध में अस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा की थी। पर एक दिन उन्होंने अस्त्र धारण किया। पर केवल धारण ही किया, चलाया नहीं। यह घटना इस प्रकार है : भीष्म दुर्योधन के सेनापति होकर युद्ध कर रहे थे। वह युद्ध में ऐसे निपुण थे कि पाण्डवों की सेना में अर्जुन को छोड़ कर और कोई उनके समान नहीं था। पर अर्जुन जी खोलकर उनके साथ युद्ध नहीं कर रहा था, क्योंकि वह अर्जुन के वावा थे और उन्होंने ही अनाथ पाण्डवों को लड़कपन में पाला-पोसा था। वैसे भीष्म उस समय दुर्योधन के अनुरोध से निरपराध पाण्डवों के शत्रु बनकर अनिष्ट करने के लिए उनके साथ युद्ध कर रहे थे, इसलिए उन्हें मार डालना अर्जुन का धर्म था। पर तो भी पुरानी बात याद कर के अर्जुन उनके साथ लड़ने में किसी तरह राजी नहीं था। इस हेतु वह भीष्म से वहुत वच-वचाकर लड़ता था, पर भीष्म पाण्डव सेना के अच्छे-अच्छे वीरों को वेतरह काट रहे थे। यह देखकर श्री कृष्ण एक रोज रथ से कूद पड़े और भीष्म को मारने के लिए चक्र ले स्वयं दौड़े। कृष्ण को आते देखकर कृष्णभक्त भीष्म परमानंदित हो कर वोल उठे :

एह्येहि देवेश जगन्निवास!
नमोस्तुते माधव चक्रपाणे।
प्रसह्य माँ पातय लोकनाथ!
रथोत्तमात् सर्व शरण्य संख्ये।।

अर्थात्, आओ-आओ देवों के ईष्ट, जगत् के निवास! हे चक्रधारी माधव! तुम्हें नमस्कार है। हे लोकनाथ सवकी शरण! युद्ध में शीघ्र ही मुझे इस उत्तम

रथ से गिराओ।

कृष्ण को जाते देख अर्जुन भी उनके पीछे चला। उन्हे समझा-बुझाकर लौटा लाया और उसने जी खोलकर लड़ने की प्रतिज्ञा की।

इसका वर्णन दो वार हुआ है, एक तो तीसरे दिन की लड़ाई में और दूसरे नवें दिन की में। दोनों स्थानों में श्लोक एक ही है। इसलिए लिखने वाले ने भूल से या जानवूझकर एक ही घटना दो वार लिखी है। संस्कृत ग्रंथों में प्रायः ऐसा होता है। इसकी रचना शैली पर विचार करने से यह महाभारत की पहली तह की रचना कही जा सकती है। कविता प्रथम श्रेणी की है, भाव और भाषा उदार तथा सरल हैं। पहली तह में कितनी मौलिकता हो सकती है, उतनी ही इसमें भी है।

कृष्ण की प्रतिज्ञा के संवंध में कृष्ण भक्तों ने इस घटना के सहारे एक नयी वात गढ़ डाली है। काशीदास[3] तथा कथक्कड़ों ने इस प्रतिज्ञा भंग पर कृष्ण का खूव यश गाया है। उनका कहना है कि जैसे कृष्ण ने प्रतिज्ञा की कि मैं अस्त्र धारण न करूँगा, वैसे ही भीष्म ने भी प्रतिज्ञा की थी कि मैं कृष्ण से अस्त्र धारण कराऊँगा। इसलिए भक्तवत्सल कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा भंग करके अपने भक्त की प्रतिज्ञा रख ली। अच्छी तरह से सोचें तो इस को गढ़ने की कुछ जरूरत मालमू नहीं होती है। मूल महाभारत में भीष्म की प्रतिज्ञा कहीं नहीं मिलती है और कृष्ण की भी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती है। उनकी प्रतिज्ञा का मतलव यही है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। दुर्योधन और अर्जुन दोनों ने एक ही समय युद्ध में चलने का न्योता दिया, तो उन्होंने दोनों के साथ समान बर्ताव करने के लिए कहा : ''मेरे समान वलवाली मेरी नारायणी सेना एक आदमी ले और एक आदमी मुझे ले।''—''अयुद्धमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रों हमेकतः।'' वस, यही उनकी प्रतिज्ञा है और यह पूरी भी हुई। कृष्ण ने युद्ध नहीं किया। चक्र लेकर उनके दौड़ने का उद्देश्य और कुछ नहीं था, केवल लड़ने के लिए अर्जुन को उत्तेजित करना था। सारथी वरावर ऐसा करते थे। और उसका फल भी निकला।

युद्ध के नवें दिन रात को कृष्ण ने ऐसी ही एक वात कही। भीष्म को हारते न देख कर युधिष्ठिर भाई-वंदों को रात में वुलाकर भीष्म को मारने की सलाह करने लगे। कृष्ण वोले कि मुझे आज्ञा दीजिए मैं भीष्म को अभी मारता हूँ। या अर्जुन से कहिए वह भी यह काम कर सकता है। युधिष्ठिर इस पर राजी नहीं हुआ। वह जानता था कि कृष्ण चाहें तो भीष्म का वध कर सकते हैं। पर उसने कहा कि अपने गौरव के हेतु तुम्हें मैं मिथ्यावादी नहीं वनाना चाहता हूँ।

तुम अयुध्यमान यानी बिन लड़े ही मेरी सहायता करो। युधिष्ठिर ने अर्जुन के संबंध में कुछ नहीं कहा। पीछे कृष्ण की राय से वह अपने भाइयों और कृष्ण को लेकर भीष्म को मारने का उपाय पूछने भीष्म के पास गया। भीष्म ने अपने मरने का उपाय आप ही बता दिया। देखने में तो काम वैसा ही हुआ जैसा उन्होंने बताया था, पर वास्तव में वैसा नहीं हुआ। कृष्ण ने जो कहा था, वही हुआ। अर्जुन ने ही भीष्म को रथ से गिरा कर शरशय्या पर सुलाया था। दूसरी तह के कवि ने मूल महाभारत पर अपनी कलम चलाकर शिखण्डी का एक किस्सा गढ़ डाला है, जो असंगत और अनावश्यक है तथा पहले देखने में तो मनोहर है, पर पीछे नहीं है। कृष्ण चरित्र से इसका कुछ संबंध नहीं, इसलिए इसकी आलोचना में हाथ नहीं लगाया है।

II : जयद्रथ वध

भीष्म के बाद द्रोणाचार्य सेनापति हुए। द्रोणपर्व के आरंभ में कृष्ण को कोई विशेष काम करते नहीं देखता हूँ। वह निपुण सारथियों की तरह अपना काम किए जाते थे। यह बात सोलहों आने झूठ है कि कुरुक्षेत्र युद्ध के कर्त्ता-धर्त्ता और नेता श्री कृष्ण थे। हां, बीच-बीच में युधिष्ठिर और अर्जुन को नेक सलाह वह जरूर दे देते थे। इसके सिवा वह कुछ न करते थे। द्रोणाभिषेक-पर्वाध्यायों के ग्यारहवें अध्याय में संजय ने कृष्ण के बल-विक्रम की बड़ी महिमा गायी है। पर इससे कुछ प्रयोजन नहीं निकलता है। यह अध्याय क्षेपक मालूम होता है। कृष्ण के बल विक्रम-वर्णन का अभाव भी महाभारत में या और कहीं नहीं है। मैं उनके मानवचरित्र की समालोचना करने का इच्छक हूँ। मानवचरित्र कामों में प्रगट होता है। इसलिए मैं उनके केवल कार्यों का ही अनुसंधान करूँगा।

द्रोणपर्व के आरंभ में भगदत्त वध के समय कृष्ण की भी कुछ करतूत है। भगदत्त महावीर था। पाण्डवों की ओर से जब कोई उसका सामना न कर सका, तब अर्जुन आकर उससे भिड़ा। भगदत्त ने अपने को अशक्त देखकर अर्जुन पर वैष्णवास्त्र चलाया। अर्जुन या और कोई उसे नहीं रोक सकता था। इसलिए कृष्ण ने अर्जुन को पीछे रख वह अस्त्र अपनी छाती पर रोक लिया। वह उनकी छाती पर वैजयंती माला हो गया।

यह अस्त्र अनैसर्गिक और कल्पनातीत है। जो अनैसर्गिक है, उसे मानने के लिए मैं पाठकों से नहीं कहता। और यह किसी सत्य का आधार भी नहीं हो सकता है। इससे यह छोड़ने के ही योग्य है। यदि सच पूछिए तो श्री कृष्ण

द्रोण पर्व में अभिमन्यु वध के बाद कार्यक्षेत्र में आते हैं। जिस दिन सप्तरथियों ने अन्याय से अभिमन्यु को घेरकर मारा था, उस दिन कृष्ण और अर्जुन वहां नहीं थे। वह कृष्ण की नारायणी सेना से लड़ रहा था। कृष्ण ने यह सेना दुर्योधन को दी थी। एक ओर स्वयं रहकर और दूसरी ओर अपनी सेना भेजकर उन्होंने दोनों पक्षवालों से समान वर्त्ताव किया था।

कृष्ण और अर्जुन सन्ध्या को डेरे पर आए, तो उन्होंने अभिमन्यु के मारे जाने का समाचार सुना। सुनकर अर्जुन शोक से बड़ा व्याकुल हो गया[4]। योगेश्वर कृष्ण को भला शोक मोह से क्या काम? उनका पहला काम अर्जुन को समझाना और दिलासा देना था। उन्होंने अर्जुन को जो-जो बातें कहकर समझाया वे उनके ही योग्य थीं। उन्होंने गीता में जो धर्म कहा है, उसी के अनुसार यहाँ भी अर्जुन को उपदेश दिया। ऋषियों ने युधिष्ठिर को यह कहकर समझाया कि सब ही मरे हैं और सब ही मरते हें। पर श्री कृष्ण ने यह नहीं कहा। उन्होंने कहा, ''युद्धजीवी क्षत्रियों की यही रीत है। युद्ध में मरना ही क्षत्रियों का सनातन धर्म है।''

अभिमन्यु की माता सुभद्रा को श्री कृष्ण ने यह कह ढाढस दिया कि ''कुलीन और वीरे क्षत्रियों को जैसे प्राण त्यागने चाहिएं वैसे ही तेरे पुत्र ने त्यागे हैं। इसलिए शोक करना व्यर्थ है। महारथी, धीर और पिता के समान पराक्रमी अभिमन्यु ने भाग्य से ही वीरों की वांछित गति पायी है। महावीर अभिमन्यु वहुतेरे शत्रुओं का संहार करके पुण्यजनित, सर्वकामप्रद अक्षय लोक गया है। साधु लोग तपस्या, व्रह्मचर्य, शास्त्र और प्रज्ञा से जो गति चाहते हैं तेरे पुत्र को वही गति मिली है। हे सुभद्रे! तू वीरजननी, वीरपत्नी और वीरभगिनी है, इसलिए शोक करना उचित नहीं है।''

मैं जानता हूँ, इन वातों से माता का शोक दूर नहीं होता है। पर मैं चाहता हूँ कि इस अभागे देश में ऐसी वातें सुनी और सुनायी जाएँ।

इधर पुत्रशोक से आर्त्त अर्जुन क्रोध में आकर एक कठिन प्रतिज्ञा कर बैठा। उसने सुना कि अभिमन्यु की मृत्यु का कारण जयद्रथ है। वस उसने सोगंध खा ली कि कल सूर्यास्त के पहले जयद्रय का वध न करूँ तो आग में जल मरूँगा। अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से दोनों दलों में खलवली पड़ गई। पाण्डवों की सेना में कुहराम मच गया। वाजे वज उठे। इधर कोलाहल सुन कौरवों का माथा ठनका। वह टोह लगाकर जयद्रथ के वचाने का सामान वांधने लगे। कृष्ण ने देखा, वड़ी मुशिकल हुई। अर्जुन ने झोंक में आकर कसम तो खा ली, पर इसका पूरा होना सहज नहीं है। जयद्रथ स्वयं महारथी है, सिंधु सौवीर देश का अधिपति है, वड़ी

सेना का स्वामी है, और दुर्योधन का बहनोई है। कौरवों के बांके लड़ाके जहां तक बनेगा उसे बचावेंगे। इधर पाण्डवों की ओर अभिमन्यु के शोक से सब ही मुखिया व्याकुल हो रहे हैं—कोई सलाह करना नहीं चाहता है।

इसलिए कृष्ण ने स्वयं अगुआ बनकर कुछ करने का मनसूबा बांधा। उन्होंने कौरवों की छावनी में जासूस भेजा। जासूस ने आकर कहा कि कौरवों ने प्रतिज्ञा की बात सुन ली है, द्रोणाचार्य व्यूह रचेंगे, और उसके पीछे कर्ण आदि सब कौरव दल के वीर इकट्ठे होकर जयद्रथ की रक्षा करेंगे। यह दुर्भेद्य व्यूह भेदकर सब वीरों को एक साथ पराजित करना और फिर महावीर जयद्रथ का वध करना अर्जुन के लिए भी असाध्य हो सकता है। यह असाध्य हो, तो अर्जुन की आत्महत्या निश्चित है।

कृष्ण ने सोच-सोच कर उपाय ढूँढ निकाला। उन्होंने अपने सारथी दारुक को बुला कर आज्ञा दी कि कल सवेरे अपना रथ सुंदर घोड़े जोतकर और अस्त्रशस्त्र से लैस करके तैयार रखना। उन्होंने सोचा कि यदि अर्जुन दिनभर में व्यूह तोड़कर सब वीरों को पराजित न कर सका, तो मैं स्वयं लड़कर जयद्रथ वध का पथ परिष्कार कर दूंगा। पर कृष्ण को लड़ना न पड़ा। अर्जुन ने स्व्यं सबको मार भगाया। पर कहीं कृष्ण को युद्ध करना ही पड़ता तो उनकी "अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोहमेकतः" यह प्रतिज्ञा भंग न होती, क्योंकि जिस युद्ध के लिए उन्होंने प्रतिज्ञा की थी वह यह नहीं था। वह कौरवपाण्डवों का राज्य संबंधी युद्ध था और यह अर्जुन की प्रतिज्ञा संबंधी है। इसका उद्देश्य दूसरा है। यह युद्ध जयद्रथ और अर्जुन की जीवनरक्षा के लिये था। यदि अर्जुन प्रतिज्ञा पूरी न कर सकता तो वह आग में जल मरता। यह युद्ध पहले नहीं ठना था, इसलिए "अयुद्दमानः संग्रामें" इसमें नहीं लगता है। अर्जुन कृष्ण का सखा, शिष्य और बहनोई था। इसलिए अर्जुन को आत्महत्या से बचाना कृष्ण का कर्त्तव्य था।

खैर, कृष्ण तथा और सब लोग रात को सो रहे। यहाँ पर मनगढ़ंत स्वप्न की एक कहानी है। स्वप्न में कृष्ण अर्जुन के पास पहुँचे और फिर वहाँ से दोनों हिमालय पर्वत पर गए। वहाँ उन्होंने महादेव की उपासना की। पाशुपत अस्त्र वनवास के समय ही वह पा चुके थे, पर उन्होंने फिर मांगा और पाया, इत्यादि। ये बातें समाचोलना के योग्य नहीं हैं।

दूसरे दिन सूर्यास्त के पहले ही अर्जुन ने जयद्रथ का बध कर डाला। इसमें कृष्ण ने कुछ भी नहीं किया था। पर तो भी कहा जाता है कि कृष्ण ने तीसरे

पहर सूर्य को योग बल से छिपा दिया और जयद्रथ के मारे जाने पर फिर निकाल दिया। उन्होंने ऐसा क्यों किया? इसलिए कि जिससे सूर्यास्त हुआ है ऐसा समझकर जयद्रथ अर्जुन के सामने चला आवे और उसके रक्षक, प्रसन्न हो असावधान हो जाएं। पर इस धोखेवाजी की यहाँ कुछ जरूरत न थी। सूरज छिपने के पहले अर्जुन और जयद्रथ एक दूसरे को देखते थे और प्रहार करते थे। और सूरज के छिप जाने पर भी वही हुआ जो पहले होता था। कौरवों की ओर के सब वीरों को हराए विना अर्जुन जयद्रथ को न मार सकता था। पर सूरज को छिपाने वाला योगवल इधर इन बातों को काट रहा है। भ्रम उपजाने वाली इन बातों की जरूरत क्यों हुई, यह अगले परिच्छेद में कहूँगा।

III : दूसरी तह के कवि

इतनी दूर तक तो हम लोग मजे में सीधी राह में चले आए। पर अव रास्ता बड़ा बेढ़ंग है। महाभारत एक समुद्र है। इसके स्थिर जल में नौका पर मृदुगंभीर शब्द सुनते अब तक हम आ रहे थे। पर अचानक तूफान के आ जाने से लहरों के मारे हमारी नौका उथल-पुथल हो रही है। अब हम महाभारत की दूसरी तह के कवियों के हाथों में वेतरह आ पड़े हैं।

इनके हाथों में पड़कर कृष्ण चरित्र विल्कुल ही वदल गया है। जो उदार था वह क्षुद्र और संकीर्ण होता जाता है, जो सीधा-सादा था वह चतुराईयों से भरा है, जो सत्य से पूर्ण था वह असत्य और धूर्तता का खजाना हो रहा है और जो न्याय और धर्म का भण्डार था, वह अन्यथा और अधर्म से कलुषित हो रहा है। दूसरी तह के कवियों के मारे कृष्ण चरित्र की यह दुर्दशा हुई है।

पर क्यों ऐसा हुआ? दूसरी तह के कवि विल्कुल ही गए-बीते नहीं हैं। उनकी रचनाचातुरी चमक रही है। वह धर्मा-धर्म के ज्ञान से कोरे नहीं हैं। फिर कृष्ण की ऐसी दशा उन्होंने क्यों की? इसका बड़ा गूढ़ कारण है। हम बराबर देखते हैं, और देखेंगे, कि पहली तह के कवि ने श्री कृष्ण को कहीं अवतार नहीं वनाया और न वह स्वयं कभी यह वात मुँह पर लाए हैं। उन्होंने अपनी मानवी प्रकृति का ही परिचय वार-वार दिया है। और मनुष्यशक्ति से ही काम लिया है। कवि ने भी उन्हें प्रायः वैसा ही दरसाया है। पहली तह देखने से संदेह भी होता है कि जिस समय यह वनी थी उस समय सव कोई श्री कृष्ण को अवतार नहीं मानते थे। श्री कृष्ण के मन में भी सव समय यह भाव नहीं उठता था कि

में अवतार हूँ। मतलब यह कि महाभारत की पहली तह प्राचीन किम्वदंतियों का संग्रहमात्र है और उनमें काव्यालंकार की भरमार है। आख्यायिका के ढंग पर यह किम्वदन्तियां यथास्थान सन्नवेशित कर दी गई हैं। पर जब दूसरी तह महाभारत पर चढ़ी है तब मालूम होता है कि कृष्ण को सब लोग ईश्वर मानने लग गए थे। इसलिए दूसरी तह के कवियों ने भी उन्हें ईश्वर के अवतार की तरह जाना और माना है। इनकी रचना से कृष्ण भी अपने को अवतार कहते हैं और दैवी शक्ति से काम लेते हैं। कवि यह भी जानते हैं कि ईश्वर पुण्यमय है। पर एक बात प्रगट करने के लिए वह बहुत व्यग्र देखे जाते हैं। यूरोप वाले भी उसी के पीछे दीवाने हैं। उनका कथन है कि भगवान दयामय है, दया करके ही उसने सृष्टि की है, वह जीवों का कल्याण ही चाहता है। फिर पृथ्वी पर दुःख क्यों है? वह पुण्यमय है, पुण्य ही उसका अभीष्ट है, फिर पृथ्वी पर पाप कहाँ से आया? ईसाइयों के लिए इसकी मीमांसा बड़ी कठिन है, पर हिन्दुओं के लिए सहज है। हिन्दुओं के मत से ईश्वर स्वयं सुख-दुःख और पाप-पुण्य से परे है। हम जिसे सुख-दुःख कहते हैं, वह उसके लिए सुख-दुःख नहीं है। हम जिसे पाप-पुण्य समझते हैं, उसके लिए वह कुछ नहीं है। उसने लीला के लिए यह जगत् बनाया है। जगत् उससे अलग नहीं है—उसी का अंश है। उसने अपनी सत्ता को अविद्या से ढक लिया है, इसी से वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य का आधार हुई है। इसलिए पाप-पुण्य और सुख-दुःख उसकी माया से उत्पन्न हैं। सुख-दुःख और पाप-पुण्य उसी से निकले हैं। उसकी माया से दुःख मिलता है और उसी की माया से लोग पाप करते हैं। कृष्ण ने कालिय को जब बहुत सताया, तब विष्णुपुराण का रचयिता कालिय के मुँह से कहलाता है :

यथाहं भवता सृष्टो जात्यारूपेण चेश्वर।
स्वाभावेन च संयुक्तस्तथेदं चेष्टितं मम।।

अर्थात् आपने मुझे सर्प बनाया इसी से मैं हिंसा करता हूँ।

प्रहलाद विष्णु के स्तव में कहता है :

विद्याविद्ये भवान् सत्यमसत्यंत्वं विषामृते[5]।

अर्थात आप विद्या, आप ही अविद्या, आप सत्य आप ही असत्य, आप विष और आप ही अमृत हैं।

उसके सिवा जगत् में कुछ नहीं है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, सत्य, असत्य,

बुद्धि, दुर्बुद्धि, न्याय, अन्याय, सब उसी से निकले हैं। कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है :

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।
7 अ. 12 श्लोक

अर्थात् जो सात्विक, राजस और तामस भाव हैं वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए जानो। मैं उनके अधीन नहीं, वही मेरे अधीन हैं।

शंतिपर्व में जहाँ भीष्म "सत्यात्मने नमः," "धर्मात्मने नमः," कह कर श्री कृष्ण की स्तुति करते हैं, वहीं "कामात्मने नमः," "घोरात्मने नमः," 'कार्यात्मने नमः,' "दृप्तात्मने नमः," इत्यादि इत्यादि कह कर नमस्कार भी करते हैं। और अंत में कहते हैं, "सर्वात्मने नमः।" प्राचीन हिन्दूशास्त्र से ऐसे कितने ही वाक्य उद्धृत करके सैकड़ों पन्ने भरे जा सकते हैं।

यदि यही बात है तो मैं एक बड़ी भारी वात समझा सकता हूँ। दुःख जगदीश्वर का प्रेरित है, इसके सिवा दुःख का और दूसरा कारण नहीं है। जो पापी अपने पापों के कारण निन्दित और दण्डित हैं, उनके वारें में लोगों को समझा सकता हूँ कि मैं जिसे ईश्वरीय नियोग कहता हूँ अथवा दूसरी तह वाले जिसे ईश्वर प्रेरणा समझते हैं, यूरोप वालों ने उसकी जगह पापवुद्धि जगदीश्वर से मिली माना है, इसके विचार का मालिक वही है, तुम कौन होते हो?

दूसरी तह के कवि इसी तत्व की अवतारणा में भीतर ही भीतर लगे थे। श्रेष्ठ कवि आजकल के लेखकों की तरह भूमिका में ही सव बातें कहकर काव्य की अवतारणा नहीं करते हैं। उनके काव्यों का मर्म जानने के लिए यत्नपूर्वक चेष्टा करनी पड़ती है। शेक्सपीअर के एक-एक नाटका का मर्म समझने के लिए हजारों प्रतिभाशाली कृतविद्य पुरुषों ने कितना सोचा विचारा तथा लिखा और हम लोग उसके समझने के लिए कितनी अकल लड़ाते हैं। पर अपने इस अपूर्व महाभारत के एक अध्याय का असली भेद जानने के लिए हमने एक क्षण भी चेष्टा न की। जैसे एक ओर वैष्णव लोग हरि संकीर्त्तन के समय खोल पर[6] थाप पड़ते ही रोते और धरती में लोटते हैं और दूसरी ओर नई रोशनीवाले नुइसेन्स यानी वाहियात कह कर नाक सकोड़ लेते हैं, वैसे ही एक दल तो हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथों के नाम सुनते ही लोटपोट होजाता है और तुच्छ वातें सुनकर भक्तिरस से देश को वहा देता है और दूसरा सबको ही मिथ्या, अपधर्म, अश्राव्य, त्याज्य और निंदा

के योग्य बातें कहता है। समझने की चेष्टा कोई नहीं करता है। शब्दों का अर्थ जानकर ही सब तृप्त हो जाते हैं। समझते हैं कि मैंने सब जान लिया। सबसे बड़ा दुःख तो यह है कि समझाने पर भी कोई समझना नहीं चाहता है।

ईश्वर ही सब है और उससे ही सब कुछ हुआ है। उसी से ज्ञान और उसी से ज्ञान का अभाव या भ्रान्ति निकली है। उसी से बुद्धि और उसी से दुर्बुद्धि आयी है। उसी से सत्य और उसी से असत्य पैदा हुआ है। उसी से न्याय और उसी से अन्याय उत्पन्न हुआ है। मनुष्य जीवन का प्रधान उपादन यह ज्ञान, बुद्धि सत्य तथा न्याय और उनके न होने पर भ्रांति, दुर्बुद्धि, असत्य या अन्याय ये सब ही ईश्वर से प्रेरित हैं। परंतु ज्ञान, बुद्धि, सत्य और अन्याय उसी से निकले हैं, यह समझाने की जरूरत नहीं, हिन्दुओं के लिए यह स्वतः सिद्ध है। हाँ, भ्रांति, दुर्बुद्धि, आदि भी उसी से निकले हैं, यह अच्छी तरह समझाने की जरूरत है। महाभारत की दूसरी तह के कवि कम से कम ऐसा ही समझते हैं। आजकल के ज्योतिषी कहा करते हैं कि हम चन्द्रमा के सामने का ही भाग सदा से देखते आते हैं, पिछला भाग कभी नहीं देखा। यह कवि उसी अदृष्टपूर्व जगत् के रहस्य का पिछला भाग हम सबको दिखलाना चाहते हैं। यह जयद्रथवध में दिखलाते हैं कि भ्रांति ईश्वरप्रेरित है, घटोत्कच वध में दिखावेंगे कि दुर्बुद्धि भी उसी की प्रेरित है, द्रोणवध में दिखावेंगे कि असत्य भी उसी का प्रेरित है और दुर्योधनवध में दिखावेंगे कि अन्याय भी वहीं से आया है। एक बात और भी बाकी है। वह यह कि बाहुबल के आगे ज्ञानबल, बुद्धिबल, सत्यबल और न्यायबल कुछ नहीं है। राजनीति में तो विशेष कर बाहुबल की प्रधानता है। महाभारत विशेषकर राजनीतिक अर्थात् ऐतिहासिक काव्य है, इसका मूल इतिहास है। इसलिए इसमें बाहुबल का स्थान ज्ञान, बुद्धि आदि के ऊपर है। दूसरी तह वाले कवियों को मालूम होता है कि ज्ञान-अज्ञान बुद्धि-दुर्बुद्धि सत्यासत्य और न्यायान्याय सब ईश्वरीय नियोग के अधीन है, केवल यह कहने से ही राजनीतिक तत्व पूरा नहीं हुआ। बाहुबल या उसके अभाव के बारे में भी वही बात है। इसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने मौसलपर्व बना डाला है। वहाँ कृष्ण के न होने से स्वयं अर्जुन लठधर किसानों से हार गया है।

मैं जिसे ईश्वरीय नियोग कहता हूँ अथवा दूसरी तह वाले जिसे ईश्वर की प्रेरणा समझते हैं, यूरोप वालों ने उसकी जगह कानून बना रखा है। महाभारत के इन कवियों की बुद्धि में कानून को जगह मिली थी या नहीं, मैं कह नहीं सकता, पर इतना कह सकता हूँ कि जो कानून के ऊपर है, जिससे कानून निकला

है, उसे उन्होंने अच्छी तरह समझा था। उन्होंने समझाया था कि सब ही ईश्वर की इच्छा है। कृष्ण को कर्मक्षेत्र में लाकर इन कवियों ने वही ईश्वरेच्छा समझाने की चेष्टा की है।

IV : घटोत्कच वध

जयद्रथ वध में श्री कृष्ण के बारे में और एक बात अस्वाभाविक लिखी है। अर्जुन जयद्रथ का सिर काटने चला तो श्री कृष्ण बोले, अच्छा सुनो, एक बात कहता हूँ। इसके बाप ने तपस्या करके वर पाया है कि जो जयद्रथ का सिर मिट्टी में फेंकेगा उसका सिर भी टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। इसलिए तुम इसका सिर मिट्टी में मत फेंक देना। इसका बाप जहाँ बैठा संध्यावंदन कर रहा है वहाँ इसका सिर बाणों के सहारे ले जाकर उसकी गोद में गिरा दो। अर्जुन ने वही किया। बेचारा बुड्ढा संध्या कर उठने लगा तो कटा सिर उसकी गोद से धरती पर गिर पड़ा। गिरते ही बुड्ढे का सिर टुकड़-टुकड़े हो गया।

अस्वाभाविक समझकर मैं इसे छोड़ देता हूँ। पर इसके बाद घटोत्कच वध की बीभत्स लीला वर्णन करनी पड़ेगी। हिडिम्ब नामक एक राक्षस था। हिडिम्बा उसकी बहन थी। भीम ने शायद हिडिम्ब को मार कर हिडिम्बा से ब्याह कर लिया था। बस दोनों का जोड़ खूब मिल गया! खैर, राक्षसी के गर्भ से भीम के एक पुत्र हुआ। उसका नाम घटोत्कच था। वह भी राक्षस ही था। बड़ा बलवान था। कुरुक्षेत्र में बाप-ताऊ की ओर से वह भी दल-बल समेत लड़ा था। मैं समझता हूँ, उसकी अक्ल मारी गई थी। क्योंकि वह शत्रुओं को खा जाने के बदले उनके साथ धनुषबाण लेकर आदमियों की तरह लड़ता था। दुर्भाग्य से दुर्योधन के दल में भी एक राक्षस था। दोनों राक्षसों की घमासान लड़ाई हुई।

इसी दिन एक भयंकर लीला हो गई। और रोज तो दिन में ही लड़ाई होती थी, आज रोशनी जलाकर रात को होने लगी। रात को निशाचरों का बल बढ़ जाता है, इसीलिए घटोत्कच बेतरह मारकाट करने लगा। कौरवों की ओर का कोई भी उसका सामना न कर सका। उनकी ओर के राक्षस राम भी खेत रहे। केवल कर्ण ही अकेला घटोत्कच के साथ लड़ने लगा। अंत में वह भी हैरान हो गया। कर्ण के पास इंद्रकी दी हुई एक शक्ति थी। इस शक्ति के विषय में एक बड़ा अद्‌भुत किस्सा है, पर उसे लिखकर पाठकों को तंग करना मैं नहीं चाहता। उसके संबंध बस इतना ही कह देना यथेष्ट है कि इस शक्ति को कोई रोक नहीं सकता था। जिसके ऊपर वह छोड़ी जाती वह अवश्य मर जाता, पर वह फिर

लौटकर नहीं आती थी। कर्ण ने वह शक्ति अर्जुन के लिए रख छोड़ी थी, पर आज लाचार हो उसे घटोत्कच पर ही चलानी पड़ी। शक्ति के लगते ही घटोत्कच वहीं ढेर हो गया। मरने के समय उसका शरीर विन्ध्याचल के समान लम्बा हो गया। उसके गिरने से एक अक्षोहिणी सेना दव मरी!!

ऐसे दोषों के लिए पुराने हिन्दू कवियों को क्षमा किया जा सकता है, क्योंकि वालक और अशिक्षित लोग ऐसे किस्से बहुत चाव से सुनती हैं। खैर, यहाँ तक तो उन्होंने वालकों और अशिक्षित लोगों को खुश करने के लिए लिखा। पर आगे जो कुछ लिखा है, वह शायद अपने खुश होने के लिए लिखा है। वह लिखते हैं कि घटोत्कच के मरने पर पाण्डव शोक से व्याकुल हो रोने लगे, पर श्री कृष्ण रथ पर नाच उठे! वह तो अव गोपवालक नहीं हैं, नाती-पोते वाले हैं। अचानक उनके पागल हो जाने की भी बात नहीं लिखी है। फिर रथ पर नाच कैसा? केवल नाच ही नहीं, सिंहनाद और खम ठोकना! यह लीला देखकर अर्जुन ने पूछा, मामला क्या है? इतनी नाचकूद क्यों? कृष्ण ने कहा : "कर्ण के पास एक शक्ति थी, तुम्हारे मारने के लिए उसने उसे रख छोड़ा था। पर उसने उसे घटोत्कच पर चला दिया है। अव तुम्हें डर नहीं है। अब मजे से कर्ण से लड़ो।" जयद्रथ के लिए अर्जुन और कर्ण में वारंवार युद्ध हुआ और कर्ण हार गया। उस समय इन्द्र की शक्ति की याद किसी को नहीं आयी, कविजी भी भूल गए। यदि उस समय याद आ जाती, तो जयद्रथ नहीं मारा जाता। कर्ण ही उसका रक्षक था। पर उस समय चुपचाप रह गया। खैर, इस शक्ति की घटना अस्वाभाविक है, इसलिए इस पर कुछ कहना व्यर्थ है। हाँ, जिस वात के लिए घटोत्कच की चर्चा चलायी थी, वह यह है। कृष्ण अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दे कर कहते हैं : "जो हो, मैंने तुम्हारे हित के लिए धुरन्धर वीर जरासन्ध, शिशुपाल, निषाध, एकलव्य, हिडिम्व, किर्म्मीर वक, अलायुध, उग्रकर्म्मा, घटोत्कच आदि राक्षसों को एक-एक करके विविध उपायों से मारा है।"

यह वात सच नहीं है। कृष्ण ने शिशुपाल का वध अवश्य किया था, पर अर्जुन की भलाई के लिए नहीं। उसने भरी सभा में उनका अपमान किया था और युद्ध के लिए ललकारा था, इसलिए या राजसूय यज्ञ की रक्षा के लिए उन्होंने उसे मारा था। जरासन्ध को उन्होंने स्वयं नहीं मारा। हाँ, उसके मारने में सहायता अवश्य दी थी। यह भी उन्होंने अर्जुन के हित के लिए नहीं, कैदी राजाओं को छुड़ाने के लिए किया था। वक, हिडिम्ब, किर्म्मीर आदि के वध और एकलव्य का अँगूठा कटवा लेने से कृष्ण का कुछ भी संबंध नहीं है। वह इस वारे में कुछ

नहीं जानते और न घटना के समय वह बेचारे उपस्थित ही थे। महाभारत में एक ठौर लिखा है कि कृष्ण ने एकलव्य को मारा था, पर अँगूठा कटवानेवाली बात उसका विरोध करती है। सच तो यों है कि यह सब बातें ठीक नहीं हैं।

फिर कृष्ण के मुँह से यह झूठी बातें कहलाने का मतलब क्या है?

इस बारे में और एक बात कहूँगा। भक्तजन कह सकते हैं कि कृष्ण की इच्छा से ही सब कुछ होता है। उनकी ही इच्छा से हिडिम्बादि मारे गए और घटोत्कच पर कर्ण ने शक्ति चलायी थी। पर यह संगत नहीं है, क्योंकि कृष्ण स्वयं कहते हैं कि "विविध उपायों से मारा है।" और यदि इच्छामय सर्वकर्त्ता अपनी इच्छा से ही सब काम कर लेगा, तो फिर मनुष्य शरीर धारण करने की जरूरत ही क्या है? मैं कई बार दिखला चुका हूँ कि कृष्ण ने इच्छाशक्ति से कुछ नहीं किया है। जो कुछ उन्होंने किया, वह पुरुषार्थ से किया है। उन्होंने स्वयं यह बात कही है और वह यथास्थान दे दी गई है। यह भी दिखला चुका हूँ कि वह इच्छा और प्रयत्न करके भी संधि न कर सके और न कर्ण को ही युधिष्ठिर की ओर ला सके। यदि उनकी इच्छा से ही काम होता तो तुच्छ जड़ पदार्थ एक शक्ति के लिए इच्छामय को इतनी चिन्ता क्यों होने लगी।

इसमें असल बात वही है जो पिछले परिच्छेद में कह आया हूँ। बुद्धि ईश्वरप्रेरित है और दुर्बुद्धि भी ईश्वरप्रेरित है, बस यही कवि कहना चाहते हैं। कर्ण ने अर्जुन के मारने के लिए इन्द्र की शक्ति उठा रखी थी, पर पीछे घटोत्कच पर चला दी। यह उसकी दुर्बुद्धि थी। कृष्ण कहते हैं कि यह मेरा काम था, अर्थात् दुर्बुद्धि ईश्वरप्रेरित है। शिशुपाल ने दुर्बुद्धि के वश सभा में कृष्ण का असह्य अपमान किया था। जरासंध को सम्मुख संग्राम में जीतना कठिन था। पाण्डव क्या कृष्ण के यादव भी उसे परास्त न कर सके। किंतु शारीरिक बल में भीम उससे बलवान था। जरासन्ध जैसे राजराजेश्वर सम्राट् का भीम से अकेले हाथापायी करना उसकी दुर्बुद्धि थी। कृष्ण की उक्ति का मर्म्म यही है कि वह भी मेरी ही प्रेरित थी। द्रोणाचार्य ने अनार्थ एकलव्य से गुरु दक्षिणा में उसके दाएं हाथ का अंगूठा माँगा था। अँगूठा न रहने से एकलव्य बाण न चला सकता था और उसकी इतने परिश्रम की धनुर्विद्या निष्फल हो गई, पर एकलव्य ने इसकी कुछ परवा न करके गुरु दक्षिणा दे ही दी। यह एकलव्य की दारुण दुर्बुद्धि थी। कृष्ण के कहने का मतलब यही था कि यह दुर्बुद्धि मेरी, यानी ईश्वरप्रेरित थी। राक्षसों के वध के बारे में भी यही समझना चाहिए। ये सब ही बातें दूसरी तह की हैं।

V : द्रोणवध

प्राचीन समय में यहां केवल क्षत्रिय ही युद्ध करते थे, ऐसा नहीं, ब्राह्मण और वैश्य भी करते थे। महाभारत में ही इसकी कथा है। दुर्योधन के सेनापतियों में द्रोण, उनके साले कृप और पुत्र अश्वत्थामा यह तीनों ब्राह्मण ही थे। और विद्याओं की तरह युद्धविद्या में भी ब्राह्मण आचार्य होते थे। द्रोण और कृप युद्धाचार्य थे। इसीसे यह द्रोणाचार्य और वह कृपाचार्य कहलाते थे।

इधर ब्राह्मणों के साथ युद्ध करने में भी बड़ी विपद थी। क्योंकि रण में भी ब्राह्मण का वध करने से ब्रह्महत्या लगती थी। इसी से ब्राह्मण योद्धाओं के कारण कम से कम महाभारतकार वड़ी मुश्किल में पड़े थे। उन्होंने कृप और अश्वत्थामा को युद्ध में नहीं मरने दिया। कौरवों की ओर के सब मारे गए। केवल यही दो बच गए। महाभारतकार ने इन दोनों को तो अमर कहकर पिण्ड छुड़ा लिया, पर द्रोणाचार्य को मारे बिना काम न चला। भीष्म के बाद वही सबसे प्रधान योद्धा थे। उनके रहते पाण्डव कभी विजयी न होते। पर महाभारतकारजी यह भी कहना नहीं चाहते कि धार्मिक राजपुरुषों में से कोई द्रोणाचार्य को मारकर ब्रह्महत्या का भागी हुआ। द्रोणाचार्य को अकेला परास्त कर ले ऐसा पाण्डवों की ओर अर्जुन के सिवा और कोई नहीं था। पर द्रोणाचार्य अर्जुन के गुरु थे। इस कारण वह उन्हें किसी तरह भी नहीं मार सकता था। लाचार महाभारतकार को चालाकी करनी पड़ी।

पहले पाण्डवों की स्त्री द्रौपदी के पिता द्रुपद के साथ द्रोण का बड़ा झगड़ा हुआ था। द्रुपद द्रोण के समान पराक्रमी न हो सका। वल्कि और भी अपमानित हुआ। इसलिए उसने द्रोण के वध के लिए यज्ञ किया। यज्ञकुण्ड से द्रोण का मारने वाला पुत्र प्रगट हुआ। इसका नाम धृष्टद्युम्न था। कुरुक्षेत्र युद्ध में वह पाण्डवों का सेनापति था। पाण्डवों को भरोसा था कि धृष्टद्युम्न ही द्रोण को मारेगा। जो ब्राह्मण का वध करने के हेतु दैव-कर्म से उत्पन्न हुआ है, उसके लिए ब्रह्महत्या पाप नहीं है। पर महाभारत में एक मनुष्य का हाथ नहीं है। जिसके मन में जैसा आया उसने वैसा ही लिख मारा। पंद्रह रोज तक लड़ाई हुई, पर धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य का कुछ न कर सका। उलटे हार गया। द्रोण के मारे जाने की आशा जाती रही और पाण्डवों की सेना रोज कटने लगी। पीछे द्रोण के मार डालने का एक जघन्य उपाय सोचा गया। इसका कलंक श्री कृष्ण पर लगाया जाता है। वही इसके अगुआ बनाए गए हैं। कृष्ण कहते हैं :

हे पाण्डवों! औरों की बात क्या, स्वयं इन्द्र भी द्रोणाचार्य को जीत नहीं सकता है। पर अस्त्रशस्त्र न रहने पर मनुष्य भी उन्हें मार सकता है। इसलिए तुम लोग धर्म छोड़ो और उनके हराने का बंदोबस्त करो।

दस बारह पन्ना पहले कवि ने जिसके मुँह से कहलाया है कि "मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि जिस स्थान पर ब्रह्म, सत्य, दम, शोच, धर्म, श्री, लज्जा, क्षमा, धैर्य, वास करता है, वहीं मैं वास करता हूँ[7]", जिसने गीता में कहा है कि धर्मसंरक्षण के लिए ही मैं युग-युग में होता हूँ, जिसका चरित्र धार्मिक पुरुष का-सा अब तब जान पड़ा है, जिसके धर्म की दृढ़ता शत्रुओं ने भी स्वीकार की है[8], वह क्या पुकार कर कहेगा, "धर्म छोड़ो"? कभी नहीं। इसी से कहता हूँ कि महाभारत में बहुत आदमियों के हाथ हैं। जिसकी जैसी इच्छा हुई उसने वही लिख मारा।

कृष्ण कहने लगे, मैं ठीक जानता हूँ कि अश्वत्थामा के मारे जाने की खबर पाकर द्रोणाचार्य फिर युद्ध करने वाले नहीं हैं। इसलिए कोई उसके पास जाकर कहे कि अश्वत्थामा युद्ध में मारा गया। अर्जुन ने झूठ बोलना मंजूर नहीं किया। युधिष्ठिर ने बहुत कहने सुनने पर कर लिया। भीम ने अश्वत्थामा नामक एक हाथी मार कर द्रोणाचार्य से कह दिया कि "अश्वत्थामा मारा गया।" द्रोण जानते थे कि मेरा पुत्र बड़ा बलवान है। शत्रु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। इसलिए भीम की बात का उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वह धृष्टद्युम्न को मारने के लिए और भी मन लगाकर लड़ने लगे। पर फिर युधिष्ठिर से उन्होंने पूछा कि क्या सचमुच अश्वत्थामा मारा गया? वह जानते थे कि युधिष्ठिर कभी अधर्म नहीं करता, और न झूठ बोलता है, इसीसे उन्होंने युधिष्ठिर से पूछा था। युधिष्ठर बोले हाँ अश्वत्थामा हाथी मारा गया। पर हाथी शब्द अव्यक्त रहा[9]। इससे भी कुछ नहीं हुआ। द्रोण पहले तो जरा अनमने से हुए पर फिर घमासान लड़ाई करने लगे। उनका मारने वाला धृष्टद्युम्न लड़ते-लड़ते अधमरा-सा हो गया। उसके अस्त्रशस्त्र गिर पड़े और वह स्वयं रथ से गिर पड़ा। भीम ने जाकर उसकी रक्षा की और द्रोण का रथ पकड़ कर कुछ बातें कहीं। द्रोण को लड़ाई से भागने के लिए वही बातें यथेष्ठ थीं। भीमसेन बोला : "हे ब्राह्मन! यदि स्वधर्म से असंतुष्ट अस्त्रशस्त्र में शिक्षित अधम ब्राह्मण युद्ध न करते तो क्षत्रियों का कभी क्षय न होता। प्राणियों की हिंसा न करना ही पण्डितों ने प्रधान धर्म बतलाया है। ब्राह्मणों को वही धर्म पालन करना चाहिए। आप भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, किन्तु चाण्डाल की तरह अज्ञानान्ध हो स्वजनों के उपकार के लिए, धन की इच्छा से अनेकों मलेच्छों तथा प्राणियों का प्राण नाश कर रहे हैं। अपने एक पुत्र के उपकरण के हेतु स्वधर्म त्यागकर

असंख्य जीवों का नाश करने में आप क्यों नहीं लज्जित होते हैं?''

वातें बिल्कुल सत्य हैं। इससे बढ़कर और क्या तिरस्कार हो सकता है? इस तिरस्कार से दुर्योधन जैसा दुरात्मा राह पर न आवे, पर द्रोणाचार्य तो धर्मात्मा हैं, उनके लिए इतना ही वहुत है। इसके बाद अश्वत्थामा के मरने की चर्चा न चलने से भी काम चल जाता। पर तो भी वह चर्चा यहां दुवारा चलायी गई।

अश्वत्थामा के मारे जाने का संवाद सुनकर द्रोणाचार्य ने अस्त्र-शस्त्र रख दिए और धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट लिया।

अच्छा अव इस पर विचार कीजिए। जिस काम का वर्णन किया गया है, यदि वह वास्तव में ठीक हो तो जितने उसमें शरीक थे सव ही महापाप के भागी हैं। महाभारत के रचयिता भी ऐसा ही समझते हैं। उन्होंने लिखा है कि युधिष्ठिर का रथ पहले धरती से चार उंगल ऊपर चलता था, पर पीछे धरती पर चलने लगा। यह भी लिखा है कि इसी पाप के कारण युधिष्ठिर को नरक देखना पड़ा था। मेरी राय से ऐसे विश्वासघात और धोखा देकर गुरु की हत्या करने का दण्ड नरक का केवल दर्शन ही नहीं है, इसका उपयुक्त दण्ड अनंत नरकवास है।

कृष्ण इस पापाचरण के अगुआ कहे जाते हैं, इसीलिए उन्हे भी इस महापाप का भागी मानना पड़ेगा। पर इसका जवाब लोग यही देते हैं कि वह ईश्वर थे, वह स्वयं पापपुण्य के कर्त्ता-धर्त्ता थे। पापपुण्य जिसका बनाया है, उसे भला पापपुण्य क्यों लगने लगा? पापपुण्य उसे छू भी नहीं सकता है। यह कहना ठीक है, पर क्या इसी से मनुष्य देह धारण करके उन्हें पाप करना चाहिए? वह आप ही कहते हैं कि मैं धर्मसंस्थापन के लिए अवतीर्ण हुआ हूं। तो क्या वह पापाचरण करके धर्म का संस्थापन करेंगे? ऐसा तो उन्होंने कहीं नहीं कहा। वह गीता में कहते हैं : ''जनकादि कर्म करके ही सिद्ध हुए हैं। लोगों को स्वधर्म में लगाने के लिए तुम भी कर्म करो। बड़े आदमी जो काम करते हैं और लोग भी वही करते हैं। वे जिसे मानते हैं और लोग भी उसे ही मानने लग जाते हैं। हे पार्थ! मुझे तीनों लोक में कुछ नहीं करना है, पाने के योग्य और न पाने के योग्य मेरे लिए कुछ नहीं है, तो भी मैं कर्म करता हूं, (क्योंकि) मैं यदि आलसी हो कर्म न करूँ, तो सव लोग मेरा अनुकरण कर कर्म करना छोड़ देंगे।'' गीता 3 अ. 20—23 श्लोक।

श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मनुष्य शरीर धारण करके अपने कामों से धर्म संस्थापन करना मेरा उद्देश्य है। इसलिए पापाचरण का उदाहरण दिखलाना उनका अभीप्ट नहीं हो सकता है। फिर यह बात क्या है? इसका उत्तर सोचे बिना मैंने

कृष्ण चरित्र लिखने में हाथ नहीं लगाया है। क्योंकि वृन्दावन की गोपियाँ और 'अश्वत्थामाहत इति गजः' इन दो बातों से ही श्री कृष्ण पर गहरा कलंक लगता है। तब यह बातें कैसी हैं? अलौकिक हैं। पाठ्क यदि ध्यानपूर्वक यह पुस्तक पढ़ते हों तो समझेंगे कि प्रचलित महाभारत एक मनुष्य की करतूत नहीं है। उसका कुछ भाग मौलिक या पहली तह है। वाकी अमौलिक और क्षेपक है। कौन मौलिक और कौन क्षेप है, यह निरूपण करना कठिन है। पर इसके लिए मैंने कई नियम बना दिए हैं। उनकी ही याद पाठकों को दिलाता हूँ। उनमें से एक यह है : "श्रेष्ठ कवियों के कहे हुए चरित्र सब अंशों में सुसंगत होते हैं। यदि कहीं उसमें अंतर पड़े, तो उसके प्रक्षिप्त होने का सन्देह होगा, इत्यादि[10]।"

इसके उदाहरण में मैंने कहा था कि कहीं भीम की भीरुता या भीष्म की परदारपरायणता मिले, तो उसे क्षेपक समझना होगा। यहाँ भी बस वही बात है, वल्कि उससे बढ़कर है। कहाँ परम धर्मात्मा युधिष्ठिर और कहाँ यह विश्वासघात, असत्यभाषण और धोखा देकर गुरु की हत्या करना? यह दोनों बेमेल बातें हैं—ऐसी असंगत वातें और हो नहीं सकती। फिर महातेजस्वी, महाबली, निर्भीक भीमसेन के चरित्र के भी यह विल्कुल विपरीत है। भीमसेन को अपने बाहुवल का ही भरोसा था। वह शत्रुओं का सामना लड़कर ही करता था। राज्य पाने या प्राण बचाने के लिए भी वह लड़ना ही जानता था। अंयत्र लिखा है कि अश्वत्थामा ने नाराणास्त्र चलाया जिसका निवारण कोई नहीं कर सकता था। और उससे सारी पृथ्वी का नाश हो सकता। दिव्यास्त्र का जानने वाला अर्जुन भी उसका निवारण न कर सका। समस्त पाण्डव सेना उससे विनष्ट होने लगी। उससे बचने का बस एक ही उपाय था रणभूमि छोड़कर भाग जाना। क्योंकि नाराणस्त्र रण से भागे हुओं को नहीं छूता था। इसलिए कृष्ण के आज्ञानुसार पाण्डवों की सारी सेना और सेनापति प्राण बचाने के लिए अपनी-अपनी सवारी से उतर अस्त्रशस्त्र छोड़ भाग चले। कृष्ण की आज्ञा से अर्जुन ने भी वही किया जो सबने किया था। पर भीम ने एक न मानी। वह बोला : "मैं बाणों से अश्वत्थामा का नारायणास्त्र काट गिराता हूँ। मैं अपनी सेना की इस भारी गदा से नाराणास्त्र को काटकर यमराज की तरह रणभूमि में विचरण करूँगा। इस भूमण्डल में सूर्य के समान जैसे कोई ज्योतिमान पदार्थ नहीं है वैसी ही मेरे समान कोई पराक्रमी नहीं है। ऐरावत के सूंड के समान मेरे यह भुजदण्ड जो आप देखते हैं वह हिमलाय पर्वत को भी गिरा सकते हैं। मुझ में दस हजार हाथियों का बल है। देवलोक में जैसे इंद्रका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, वैसे ही नरलोक में मेरा भी नहीं है। आज मैं द्रोण

के पुत्र का अस्त्र निवारण करता हूँ, सब कोई मेरा वाहुवल देखो।"

यदि कोई इस नाराणास्त्र का प्रतिद्वन्द्वी न हो तो मैं मानता हूँ कि भीमसेन ने अपनी बड़ाई का पुल बाँध दिया था, और यह कहानी भी विचित्र सी है। जो हो, इसे कोई सत्य नहीं मानेगा। यहाँ चरित्रचित्रण की संगति पर वात हो रही है। नारायणास्त्र का निवारण चाहे मौलिक न हो, पर मौलिक महाभारत में भीम का चरित्र सर्वत्र इसी ढंग पर चित्रित हुआ है। भीम के इस चरित्र में और द्रोणाचार्य को धोखा देने वाले आचरण में कितना अंतर है? भीम क्या ऐसे उपाय से अपने शत्रु का वध कर सकता है जिससे स्त्रियाँ भी घृणा करती हैं? नारायणास्त्र द्रोणाचार्य से हजारों गुना भयंकर है। जो नारासणास्त्र के सामने सिंह की तरह डटा रहा और जो नारायणास्त्र के सामने से जवरदस्ती[11] हटाऐ बिना नहीं हटा था, वह क्या अर्जुन के समान योद्धा द्रोण के भय से ऐसा नीच कर्म करेगा? कभी नहीं। जिस कवि ने ऐसा लिखा है, वह कवि नहीं है। महाभारत की रचना करना उसके सामर्थ्य के वाहर है।

यह तो मैं दिखला चुका कि अश्वत्थामा नाम के हाथी के मारे जाने वाली कहानी का मेल भीम के चरित्र से नहीं मिलता है और न युधिष्ठर के चरित्र से ही मिलता है। इन दोनों चरित्रों के साथ यह कहानी जितनी वेमेल है उससे कहीं बढ़कर श्री कृष्ण के चरित्र के साथ है। मैंने जो कुछ कहा है, पाठकों ने यदि उसे समझ लिया हो, तो इन वेमेल वातों को समझ सकेंगे। उजाले अंधेरे में, काते और उजले में, गर्म और ठंडे में, मीठे और खट्टे में, रोग और भोग में, भाव और अभाव में जितना अंतर है कृष्णा चरित्र और इस कहानी में भी उतना ही है। जव एक नहीं, तीन-तीन मौलिक चरित्रों से इसका कुछ भी मेल नहीं है, तव यह अवश्य ही क्षेपक है। इसलिए इतर कवि की रचना समझकर इसे मैं छोड़ सकता हूँ।

मेरी वात अभी पूरी नहीं हुई है। कौन अंश क्षेपक और कौन मौलिक है, इसकी जाँच के लिए जो कई नियम वनाए गए हैं उनमें केवल एक से यह मरे हाथी की कथा क्षेपक सिद्ध हुई है। जो परस्पर विरोधी हैं उनमें से एक अवश्य ही प्रक्षिप्त है। अव इस नियम से परीक्षा करता हूं। अश्वत्थामा हाथी की कहानी के साथ द्रोणाचार्य के वध की एक और कथा महाभारत में है। एक ही कारण वहुत था, पर यहां दोनों एकत्र हैं। अच्छा अब वह दूसरा स्वतंत्र विवरण भी महाभारत से यहाँ दिए देता हूँ। इसके समझाने के लिए पहले से कह देना चाहिए कि द्रोणाचार्य अधर्म युद्ध कर रहे थे। महाभारत में लिखे हुए अन्यान्य दैवास्त्रों में ब्रह्मास्त्र भी

एक है। जिस उपाय से निश्चय ही काम पूरा होता है, उसे आजकल भी यहाँ वाले 'ब्रह्मास्त्र' कहते हैं। जो अस्त्रों का प्रयोग नहीं जानते हैं, उन पर ब्रह्मास्त्र चलाना मना है और अधर्म है। यही ऋषियों का मत है। द्रोणाचार्य अस्त्रानभिज्ञ सैनिकों को ब्रह्मास्त्र से जब विनष्ट कर रहे थे, तब विश्वामित्र, जगदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वशिष्ट, अत्रि, भृगु, अंगिरा, सिकत, प्रश्नि, गर्ग, बालखिल्य, मरीचि तथा अन्यान्य छोटे-मोटे साग्निक ऋषि द्रोणाचार्य को क्षत्रियों का विनाश करते देखकर वहाँ शीघ्र आए और उन्हें ब्रह्मलोक के जाने की इच्छा से कहने लगे : "हे द्रोण! तुम अधर्म युद्ध कर रहे हो, इसलिए अब तुम्हारे विनाश का समय आ गया है। तुम आयुध परित्याग कर हमारी ओर एक बार देखो। अब तुम्हें यह काम नहीं करना चाहिए। तुम वेद-वेदांग के वेत्ता और सत्यधर्मपरायण हो, इसलिए तुम्हारा यह काम बड़ा ही अनुचित है। तुम मोह त्याग कर आयुध रख दो और सत्य मार्ग पर आओ। मर्त्यलोक में वास करने के दिन तुम्हरे पूरे हो गए। हे विप्र! अस्त्र न जानने वालों पर ब्रह्मास्त्र चलाकर तुमने बड़ा बुरा काम किया है। अब जल्द अस्त्रशस्त्र फेंको, क्रूरता करना तुम्हें उचित नहीं है।

इस पर द्रोणाचार्य ने युद्ध करना छोड़ दिया। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि युधिष्ठिर से अश्वत्थामा के मरने की खबर सुनकर भी उन्होंने युद्ध करना नहीं छोड़ा था। वह धृष्टद्युम्न को मारने के लिए उद्यत थे। सात्यकि ने आकर उसे बचाया। सात्यकि के साथ जब कोई न लड़ सका, तब द्रोण भी हट गए। द्रोण के हटने पर युधिष्ठिर ने अपने वीरों से कहा : "हे वीरों! तुम बड़ी सावधानी से द्रोण की ओर दौड़ो। महावीर धृष्टद्युम्न द्रोणचार्य का वध करने के लिए यथासाध्य चेष्टा कर रहे हैं। आज रणभूमि में द्रुपदनंदन का काम देखने से जान पड़ता है कि वह क्रुद्ध हो द्रोणाचार्य का वध करेगा। इसलिए तुम सब मिलकर द्रोणाचार्य के साथ फिर युद्ध करो।

यह सुनकर पाण्डवों की सेना द्रोणाचार्य की ओर दौड़ी। फिर महाभारत में लिखा है कि : "महारथी द्रोण भी मरने का निश्चय करके पीछा करने वाले वीरों की ओर बड़े वेग से लौट पड़े। सत्यवादी महावीर द्रोणाचार्य के लौटने पर मेदिनी काँप उठी, और प्रचण्ड वायु बहने लगी। सूर्य से उल्कापात हुआ। उससे चारों और प्रकाश हो गया और लोग डर गए। द्रोण के सब अस्त्र प्रज्वलित हो उठे। रथ से भयानक साँस और घोड़े की आँखों से आँसू निकलने लगे। फिर तुरंत ही महारथी द्रोण नितांत निस्तेज हो गए। उनकी बायीं आँख और बायीं बाँह फड़कने लगी। वह सामने धृष्टद्युम्न को देख कर अनमने से हो गए और

उन्होंने ब्रह्मवादी ऋषियों की बात याद करके धर्मयुद्ध करते हुए प्राण त्याग करना चाहा।"

पाठक देख लें कि यहाँ द्रोण के प्राण त्याग करने की इच्छा के कारणों में अश्वत्थामा का मृत्यु संवाद नहीं गिना गया है। विचारवानों के लिए यही एक प्रमाण बहुत है।

इतने पर भी द्रोण ने लड़ना नहीं छोड़ा। दस हजार से कम सेना नष्ट होने की बात महाभारतकार कभी मुँह से निकालते ही नहीं। वह कहते हैं कि द्रोणाचार्य ने उस दशा में भी तीस हजार फौज काट डाली। और धृष्टद्युम्न को हरा दिया। अवके भीम ने उसकी रक्षा की और द्रोणाचार्य का रथ[12] उठाकर तिरस्कार किया, जिसका हाल पहले लिख चुका हूँ। वास्तव में भीम की फटकार सुनकर ही द्रोण ने हथियार रख दिया था : और फिर रथ पर अपने सब अस्त्रशस्त्र रखकर योगाभ्यास से समस्त जीवों को अभय दान किया। उसी समय महावीर धृष्टद्युम्न मौका पाकर अपने रथ पर धनुषवाण रखकर और तलवार लेकर द्रोण की ओर दौड़ा। इस तरह द्रोणाचार्य को धृष्टद्युम्न के हाथ में पड़ता देख समरभूमि में कुहराम पड़ गया। इधर ज्योतिर्मय महातपस्वी द्रोणाचार्य ने योग के सहारे अनादि पुरुष विष्णु में ध्यान लगा दिया। उनका मुख कुछ ऊपर उठ गया, वक्षस्थल स्थिर हो गया और आँखें दोनों बन्द हो गईं। उन्होंने विषयवासना से मन खेंचकर सात्विक भाव में मन लगाया और एकाक्षर वेद मंत्र ओंकार तथा परात्पर देव-देवेश वासुदेव का स्मरण करके स्वर्गलोक को गमन किया जो साधुओं को भी दुर्लभ है।

द्रोणाचार्य के प्राण त्यागने पर धृष्टद्युम्न उनका सिर काटकर ले गया। द्रोण की मृत्यु के दो विवरण पृथक्-पृथक् महाभारत में पाए जाते हैं। दोनों बिल्कुल वेमेल नहीं हैं, मिलाए जा सकते हैं। मिलाए भी गए हैं, पर अच्छी तरह नहीं मिले। कारीगर होशियार न होने के कारण सन्ध रह गई है। यह तो साफ दिखाई देता है कि द्रोण की मृत्यु के लिए दो विवरणों की जरूरत नहीं, एक ही यथेष्ट है। यह सम्भव नहीं कि एक ही कवि भिन्न-भिन्न प्रकार के दो विवरणों को यों मिलावेगा। लाचार मानना पड़ेगा कि यह भिन्न-भिन्न तहों के दो कवियों का काम है। इसमें क्षेपक कौन-सा है? द्रोण के प्राणत्याग के जो सब कारण महाभारत से ऊपर दिए गए हैं उनमें अश्वत्थामा का मृत्यु संवाद नहीं है। इसलिए इसका वास्तविक होना असंभव है। पर जो नियम पहले वनाए जा चुके हैं उनके स्मरण करते ही इसकी मीमांसा हो जाएगी।

कह चुका हूँ कि यदि दो भिन्न-भिन्न विवरणों में एक क्षेपक जान पड़े,

तो उनमें जो किसी और लक्षण के अन्तर्गत हो उसे ही क्षेपक समझना चाहिए[13]। यह मैं पहले ही दिखा चुका हूं कि अश्वत्थामा के मारे जाने का वृतान्त कृष्ण, भीम और युधिष्ठिर के चरित्र के साथ बिल्कुल असंगत है। जो असंगत है, वह अवश्य क्षेपक है। इसलिए अश्वत्थामा की यह कथा क्षेपक है, इसमें सन्देह नहीं।

एक बात और है। अभी कह चुका हूं कि अश्वत्थामा के मरने की खबर सुनकर द्रोणाचार्य ने लड़ने में कुछ भी ढील न की। फिर कृष्ण ने यह बात क्यों कहवायी? यही समझकर न कि द्रोण युद्ध करना छोड़ देंगे? पर यह कब संभव था? द्रोण जानते थे कि अश्वत्थामा अमर है। खैर, अमर होने की बात अस्वाभाविक समझकर छोड़ दीजिए। यदि मान लिया जाय कि हममें, तुममें, साधारण मनुष्यों या मजदूरों में जितनी अकल होती है उतनी भी कृष्ण में थी, तो वह इस काम के लिए कभी सलाह न देते। द्रोण हों चाहे और कोई, जो ऐसी खबर सुनेगा, वह आत्महत्या करने के पहले अपने और घर वालों से जरूर पूछेगा कि यह सच है या झूठ? द्रोणाचार्य क्या ऐसे थे कि अपना कान न टटोलकर कव्वे के पीछे दोड़ जाते? क्या वह अश्वत्थामा का पता लगाने के लिए किसी को न भेजते? अवश्य भेजते। और भेजते तो उसी समय भाण्डा फूट जाता और भेद खुल जाता।

इसलिए यह कथा क्षेपक है। मैं यह नहीं कहता कि ऋषियों के कहने से द्रोण का अस्त्रशस्त्र रख देना ही सत्य है। ऋषियों का तो वहां रणक्षेत्र में आना ही अस्वाभाविक है, इसलिए इसे भी मिथ्या समझकर छोड़ना पड़ता है। इसमें विश्वास योग्य या सच्ची बात इतनी हो सकती है कि द्रोणचार्य बेदस्तूर काम कर रहे थे। भीम के फटकारने से उन्हे चेत हुआ। लड़ाई छोड़ कर वह भाग नहीं सकते थे, क्योंकि भागने से एक तो वीरता में बट्टा लगता, दूसरे इस विपत्ति के समय दुर्योधन का साथ छोड़ देने से कलंक का टीका लगता। इसलिए इन दोनों दोषों से वचने के लिए उन्होंने शरीर छोड़ देना ही स्थिर किया। जान पड़ता है, इतनी ही किम्वदन्ती थी। उसी पर महाभारत की पहली तह बनायी गई। वास्तविक घटना चाहे यह भी न हो, असली बात वस इतनी ही है कि द्रुपद के पुत्र ने द्रोण को मारा था। आगे चलकर जो बात कही जाएगी, उससे भी यही सिद्ध होता है। प्रबल प्रतापशाली पांचालवंश को ब्रह्महत्या के कलंक से बचाने के लिए रंग बिरंगे किस्से पीछे गढ़े गए हैं।

अब देखना चाहिए कि अनुक्रमणिकाध्याय और पर्वसंग्रहाध्याय में क्या है? पहले में तो धृतराष्ट्र विलाप करके इतना ही कहता है :

यदा श्रीषंः द्रोणमाचार्य मेंक
धृष्टद्यम्नेनाध्यातिक्रम्य धर्मम्
रथोपस्थ प्रायगतं विश्वस्तं
तदा नाशंसे विजयाय सजंय।

अर्थात् हे संजय, जब मैंने सुना कि धृष्टद्यम्न ने योगाभ्यास में बैठे हुए द्रोणाचार्य को रथ पर मार डाला, तब मुझे उनकी जय में कुछ संदेह न रहा।। यहाँ भी यही देखने में आता है कि द्रोण के वध में धृष्टद्युम्न के सिवा और किसी ने अधर्म्माचरण नहीं किया। धृष्टद्युम्न ने यही पाप किया कि योगाभ्यास में बैठे हुए वृद्ध ब्राह्मण को मार डाला। द्रोण योगासन में क्यों बैठे? युधिष्ठिर के कहने से या ऋपियों के समझाने से या भीम के फटकारने से, यह यहाँ कुछ नहीं लिखा है। आगे चलकर देखेंगे कि वह थककर ही मारे गए। आसन्नमृत्यु द्रोणचार्य के योगभ्यास में बैठने का उपयुक्त कारण थकावट ही है।

पर्वसंग्रहाध्याय में "द्रौणे युधि निपातिते" के सिवा और कुछ नहीं है। मरे हाथी की कहानी सच्ची होती तो उसकी चर्चा इसमें अवश्य होती। अधर्म युद्ध में अभिमन्यु के मारे जाने की बात है—फिर द्रोण की क्यों नहीं है? उस समय तक यह कहानी ही नहीं गढ़ी गई थी, फिर कहाँ से होती?

इसके बाद द्रोणपर्व के सातवें और आठवें अध्याय में द्रोणाचार्य के युद्ध का संक्षिप्त वर्णन है। उसमें इस धोखेबाजी का कुछ जिक्र नहीं है। केवल यही लिखा है कि धृष्टद्युम्न ने द्रोण को मारा। यह अध्याय जिस समय लिखे गए थे उस समय भी यह कहानी नहीं बनी थी।

आश्वमेधिकपर्व में लिखा है कि कृष्ण जब द्वारका वापिस आए, तब वसुदेव ने कृष्ण से युद्ध का वृत्तान्त पूछा। कृष्ण ने संक्षेप में सब कह सुनाया। द्रोण के युद्ध के बारे में श्री कृष्ण ने इतना ही कहा कि द्रोण और धृष्टद्युम्न की लड़ाई पाँच रोज तक हुई थी। द्रोण लड़ते-लड़ते थक गए और अंत में धृष्टद्युम्न के हाथ से मारे गए। यही सत्य मालूम होता है। क्योंकि बुड्ढे जवानों से लड़कर थकते ही हैं। द्रोण के लड़ने से हाथ खेंच लेने का यथार्थ कारण थकावट ही है। और बातें कवियों की केवल कल्पना हैं। यह मैंने सात तरह से प्रमाणित कर दिया है।

पर इस किस्से में कृष्ण को झूठों और धोखेबाजों का अगुआ बनाने का कारण क्या है? कारण तो पहले ही बता चुका हूँ। जैसे ज्ञान ईश्वरप्रदत्त है वैसे ही अज्ञान और भ्रांति भी है। जयद्रथ वध में कवि ने यही दिखाया है। भ्रांति

भी ईश्वर प्रेरित है। घटोत्कचवध में कवि ने दिखाया है कि बुद्धि जैसे ईश्वर प्रेरित है, वैसे ही दुर्बुद्धि भी है। इस द्रोणवध में दिखाया गया है कि सत्य और असत्य दोनों ही ईश्वरप्रेरित हैं।

इसके अनंतर नारायणास्त्र मोक्ष-पर्वाध्याय है। इसकी बात संक्षेप में ही कहता हूँ। तूल देने की जरूरत नहीं, क्योंकि नारायणास्त्र की कथा अस्वाभाविक है, इस हेतु यह छोड़ने के योग्य है। पर इसमें एक भेदभरी बात है। द्रोण के निहत होने पर अर्जुन को बड़ा शोक हुआ, क्योंकि द्रोण उसके गुरु थे। धोखा देकर गुरु की हत्या कराने के कारण उसने युधिष्ठिर को खूब उलटी सीधी सुनायी और धृष्टद्युम्न की भी अच्छी तरह खबर ली। युधिष्ठिर बेचारा भला मानस था, कुछ न बोला। पर भीम ने अर्जुन के सवाल का जवाब अच्छी तरह दे दिया। इस पर अर्जुन के शिष्य यदुवंशी सात्यकी ने धृष्टद्युम्न को खूब गालियाँ दीं। धृष्टद्युम्न ने भी ब्याज समेत उसकी गालियां वापिस कर दीं। इस पर दोनों में खूब गुत्थमगुत्था हुई। कृष्ण के इशारे से भीम और सहदेव ने बीच बिचाव कर दिया। झगड़ा इसी बात का था कि धोखा देकर द्रोण को मारना उचित हुआ या अनुचित। इसकी सफाई के लिए दोनों ओर वालों ने दोनों ओर की जितनी बातें थीं सब कह डालीं, पर श्री कृष्ण के बारे में किसी ने कुछ नहीं कहा। किसी ने कृष्ण का नाम तक नहीं लिया और न कहा कि कृष्ण की सलाह से यह हुआ था। इसी से कहना पड़ता है कि पाँच हाथ लगे बिना ऐसी लवड़धोंधों नहीं होती है।

VI : कृष्ण का कहा धर्मतत्व

जिसने अश्वत्थामा-वध की कथा लिखी है, उसने अर्जुन को आकाश पर चढ़ा दिया है। कृष्ण, युधिष्ठिर और भीम से भी बढ़कर अर्जुन को उसने धर्मात्मा बताया है। कृष्ण ने जिस काम की बात उठायी और भीम तथा युधिष्ठिर ने जिसे कर डाला, अर्जुन ने अधर्म समझकर उसके करने से इंनकार ही नहीं किया, बल्कि युधिष्ठिर को उसके लिए डाट भी बतायी थी। पर अब जिस घटना का वर्णन करूँगा उससे तो यही मालूम होता है कि अर्जुन बड़ा मूढ़ और पाखण्डी था। कृष्ण के धर्मोपदेश से ही वह सत्यपथ पर चला था।

घटना यों है : द्रोण के पीछे कर्ण सेनापति हुआ। उसने पाण्डव सेना का नाकोंदम कर दिया। दुर्भाग्यवश युधिष्ठिरजी महाराज उस दिन उससे मोर्चा लेने गए थे। उसने उसकी वह खबर ली कि बेचारे डर के मारे मैदान छोड़ घर को सिधारे और छिपकर सो रहे। इधर अर्जुन लड़ाई जीतने के बाद युधिष्ठिर को

वहाँ न देखकर बहुत घबराया और उनकी टोह में तुरंत डेरे पर आया। कर्ण तब तक मारा नहीं गया था। युधिष्ठिर यह सुनकर बहुत गर्म हो गए कि अर्जुन ने अब तक कर्ण को नहीं मारा है। कापुरुषों का यही स्वभाव है कि आप तो कुछ कर सकते नहीं, पर दूसरे पर रंग जमाते हैं। उन्होंने अर्जुन को खूब ऊँची-नीची सुनायी। अंत में बोले : "जब तू डरकर रणभूमि से भाग आया है, तब अपना गाण्डीव कृष्ण को दे दे।"

इतना सुनते ही अर्जुन तलवार खेंच कर युधिष्ठिर पर झपटा। कृष्ण ने कहा : "हैं, यह क्या करते हो! तलवार से किसका सिर काटोगे?" अर्जुन बोला : "जो कोई मुझसे कहेगा कि गाण्डीव[14] किसी को दे दो, उसी का मैं सिर काट लूंगा। क्योंकि यह मेरी गुप्त प्रतिज्ञा है। अभी तुम्हारे सामने महाराज ने वही बात मुझसे कही है। इसलिए इस धर्मभीरु राजा को मारकर मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा और सत्य से उद्धार हो निश्चिंत हो जाऊँगा।"

यह बात अर्जुन की-सी नहीं, मूर्खों और पाखण्डियों की-सी है। पहले तो यह प्रतिज्ञा ही मूर्खता की है, दूसरे पूजनीय बड़े भाई का सिर काटने जाना बड़े ही पाखण्डी का काम है। पर इसके भीतर बड़ी गूढ़ बात है। कृष्ण ने इसका विचार विस्तृत रूप से किया था, इसलिए मुझे भी इसके विषय में कहना पड़ा।

बात यह है कि सत्य परम धर्म है। अर्जुन यदि युधिष्ठिर का सिर न काट ले तो वह सत्य से गिर जाता है। अब प्रश्न यह है कि सत्य की रक्षा के लिए युधिष्ठिर का वध करना चाहिए या नहीं? अर्जुन कृष्ण से पूछता है कि "अब तुम्हारी क्या राय है? क्या करना चाहिए?" श्री कृष्ण ने जो उत्तर दिया है, वह बताने के पहले पाठकों से अनुरोध है कि वह स्वयं इसके उत्तर देने की चेष्टा करें। मैं समझता हूँ, सब ही पाठक एक मत हो कहेंगे कि ऐसे सत्य के लिए अर्जुन का युधिष्ठिर को मारना उचित नहीं है। कृष्ण ने भी यही उत्तर दिया था। पर पाश्चात्य नीति जानने वाले आधुनिक पाठक जिस कारण से यह उत्तर देंगे, कृष्ण ने उस कारण से नहीं दिया था। उन्होंने प्राचीन नीति के अनुसार उत्तर दिया। क्योंकि वह भारतवर्ष में अवतीर्ण हुए थे, इंगलैण्ड में नहीं। वह भारतवर्ष की नीति भली भाँति जानते थे। यूरोप की नीति उस समय पैदा भी नहीं हुई थी। अगर वह यूरोप की नीति का ही सहारा लेते तो अर्जुन भी कुछ न समझता।

कृष्ण ने अर्जुन को समझाने के लिए जो बातें कही थीं, उनका स्थूल मर्म अब कहता हूँ। जो विषय विवाद का कम से कम है, उसे ही उद्धृत करता हूँ। कृष्ण की पहली बात : **"अहिंसा परम धर्म है।"** इसमें पहली आपत्ति यही

हो सकती है कि ठौर अहिंसा धर्म की नहीं है। दूसरी यह कि स्वयं कृष्ण ने गीता में जो उपदेश देकर अर्जुन को युद्ध में लगाया था वह इसके विपरीत है।

जो अहिंसा का यथार्थ मर्म नहीं समझता है, वही ऐसी आपत्तियाँ करता है। अहिंसा परम धर्म है, कहने से यह नहीं समझा जाता कि कभी किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए—ऐसा करना अधर्म है। प्राणियों की हिंसा किए बिना हम एक घड़ी भी नहीं जी सकते हैं। यह ऐशिक नियम है। जो जल हम पीते हैं, उसमें इतने छोटे कीड़े भरे हैं, कि जिन्हें अणुवीक्षण यंत्र (खुर्दबीन) बिना और किसी तरह नहीं देख सकते हैं। हम ऐसे हजारों कीड़े रोज जल के साथ पी जाते हैं। सांस लेने में हम हजारों कीड़े सूंघ जाते हैं। चलने में हजारों कीड़े कुचल डालते हैं। साग-भाजियों में हजारों कीड़े पका कर खा जाते हैं। अगर कहें कि यह अनजानी हिंसा है, इसमें पाप नहीं है, तो मैं कहूँगा कि जानवूझकर प्राणियों की हिंसा किए बिना भी हम नहीं जी सकते हैं। जो साँप या बिच्छू हमारे घर में या चारपाई के नीचे आ वैठा है, उसे हम न मारें तो वह हमें काट खाएगा। जो वाघ हम पर झपटना चाहता है, उसे अगर हम न मारें तो वह हमें खा जाएगा। जो हमें मारने के लिए तलवार उठा चुका है उसे हम न मारें तो वह हमें मार डालेगा। जो चोर आधी रात को हमारे घर में घुसकर हमारा सर्वस्व ले रहा है और जिसे मार डालने के सिवा और कुछ उपाय अपने वचाव का न हो, तो उसे मार डालना ही धर्म की आज्ञा है। यदि हत्यारे का अपराध प्रमाणित हो जाय और राजनियम के अनुसार फाँसी का दण्ड पाने योग्य वह ठहरे तो विचारक उसे फाँसी की सजा देने के लिए लाचार हैं, क्योंकि यह उसका धर्म है। जिस कर्मचारी पर फाँसी देने का भार है वह भी उसे फाँसी देने के लिए लाचार है। सिकंदर या महमूद गजनवी, आदिलशाह या चंगेज खाँ, तैमूर या नादिर, दूसरा फ्रेडरिक या नेपोलियन पराया धन और पराया राज्य लेने के लिए अगणित शिक्षित तस्करों को ले पराए राज्यों में घुस गए थे। उनकी संख्या लाखों होने पर भी वह सबके सब धर्म के अनुसार वध के योग्य थे। यहाँ हिंसा ही धर्म है।

आकाश में उड़ने वाले पक्षी को खाने या खेलने के लिए मार डालना अधर्म है। मक्खियाँ एक बूँद मीठे के लिए इधर-उधर उड़ती फिरती हैं। खिलाड़ी लड़के उन्हें पकड़ कर मार डालते हैं। यह अधर्म है। जो हरिण या मुर्गे हमारी तुम्हारी तरह जीवन बिताने के लिए जगत् में आए हैं, उन्हें मारकर अपना पेट भरना अधर्म है। हम वायु में रहते हैं और मछलियाँ जल में। हम दोनों ही जीव हैं। मछलियाँ पकड़ कर खाना अधर्म है।

अहिंसा परम धर्म का यथार्थ तात्पर्य यही है कि धर्मसंगत आवश्यकता के बिना हिंसा न करना परम धर्म है। हिंसा रोकने के लिए हिंसा करना अधर्म नहीं है, बल्कि परम धर्म है। यही बात भली भाँत समझाने के लिए श्री कृष्ण ने अर्जुन को बलाक का इतिहास सुनाया था। उसका सारांश यही है कि बलाक नाम के व्याध ने एक ऐसा जानवर मार डाला जो बहुत से प्राणियों को मारता था। मारते ही उस पर आकाश से फूल बरसने लगे, अप्सराएँ सुंदर गीत गाने और बाजे बजाने लगीं। और उस व्याध को स्वर्ग ले जाने के लिए विमान आ पहुँचा। व्याध का पुण्य बस यही था कि उसने हिंसा करने वाले की हिंसा की थी।

अहिंसा परम धर्म अर्थ वही है, जो ऊपर कहा गया है। धर्मसंगत आवश्यकता के बिना हिंसा न करनी चाहिए, इस बात से वड़ी गड़वड़ होती है। यह कुछ नयी बात नहीं है, सदा से होती आयी है। धर्मसंगत आवश्यकता की दुहाई देकर ही 'इनक्वीजिशन'[15] में करोड़ों मनुष्य मारे जा चुके हैं।

सेण्ट बारथोलोग्यू[16] की हत्या भी धमार्थ ही हुई थी। धर्म के नाम पर ही क्रूसेड वालों ने[17] नर रक्त से पृथ्वी रंग डाली थी। मुसलमानों ने भी धर्मप्रचार के लिए ही लाखों मनुष्यों की हत्या की थी। धर्मसंगत आवश्यकता के विषय में भ्रम हो जाने के कारण जितनी नर हत्या हो चुकी है, मैं जानता हूँ, उतनी और किसी कारण से नहीं हुई है।

अर्जुन भी अभी इसी भ्रम में पड़ा है। उसने सोचा कि सत्य की रक्षा के लिए युधिष्ठिर का वध करना चाहिए। केवल यह कह देने से कि अहिंसा परम धर्म है, उसका भ्रम दूर नहीं होता, इसलिए श्री कृष्णचन्द्र दूसरी वात कहते हैं। वह यह है कि मिथ्या भाषण भी किया जा सकता है पर जीवों की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए[18]। इसका मतलब यह है कि अहिंसा और सत्य में अहिंसा ही उत्तम धर्म है। दान, तप, भक्ति, शौच, अहिंसा आदि पुण्यकर्मों की गिनती धर्म में हो सकती है। पर यह सब समान नहीं हैं। इनमें बड़ाई-छुटाई भी हो सकती है। शौच या दान क्या सत्य या अहिंसा के बराबर हैं? यदि नहीं, तो एक छोटा और दूसरा बड़ा है। यदि ऐसा है तो सबसे बड़ा कौन है? कृष्ण कहते हैं कि सबसे बड़ा धर्म अहिंसा है। सत्य उसके नीचे है।

हम लोग यूरोप के चेले हैं। बहुतेरे पाठक यह सुनकर चौंक उठेंगे। यूरोप वाले कहते हैं कि किसी दशा में भी मिथ्याभाषण नहीं किया जा सकता है। खैर, न सही। वह बात तो यहाँ उठायी नहीं जाती है। पर यह कोई नहीं कहेगा कि यूरोप वालों के मत में हत्यारे से बढ़कर पापी मिथ्यावादी है, या दोनों बराबर

हैं। वह ऐसा नहीं कहते हैं, इसका प्रमाण यूरोप का समस्त दण्डविधि शास्त्र है। अगर यही हो तो फिर यूरोप वालों के चेलों का श्री कृष्ण से मतभेद होने का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता है। यहाँ केवल पाप के तारतम्य की बात हो रही है। कोई पाप किसी समय न करना चाहिए। न नर हत्या करनी चाहिए और न झूठ बोलना चाहिए। श्री कृष्ण के कहने का तात्पर्य यह है कि अगर ऐसा मौका आ पड़े जहाँ झूठ बोलने या नर हत्या किए बिना काम न चलता हो, तो वहाँ झूठ बोल दे, पर नर हत्या न करे। यदि कोई धर्मात्मा नीतिज्ञ यह कहता हो कि नर हत्या कर डालो पर झूठ मत बोलो, तो मैं कहूँगा कि यह धर्म उसे ही मुबारक हो। परमात्मा न करे ऐसे घृणित धर्म का प्रचार भारतवर्ष में हो।

कृष्ण ने अपना मत कह दिया। अर्जुन को राह पर लाने के लिए यही बहुत था। पर शायद वह पूछ बैठता कि "यह तो तुम्हारा मत हुआ। पर लोगों का प्रचलित धर्म क्या है? तुम्हारा मत चाहे ठीक ही हो पर अगर यह प्रचलित धर्म के विरुद्ध हो तो लोग मुझे जरूर झूठा समझेंगे। इसलिए कृष्ण अपनी राय देने के बाद प्रचलित धर्म कहते हैं। वह बोले : "हे धनंजय। कुरुपितामह भीष्म, धर्मराज युधिष्ठिर, विदुर और यशस्विनी कुंती ने धर्म का जो रहस्य कहा है वही मैं कहता हूँ, सुनो।" इतना कहकर वह यों कहने लगे : "साधु जन ही सत्य बोलते हैं, सत्य से बढ़कर और कुछ नहीं है[17]। सत्य का तत्त्व जानना अति कठिन है। सत्य अवश्य बोलना चाहिए।"

यह तो हुई स्थूलनीति। अब निषेध सुनिए : "परंतु जहाँ मिथ्या सत्य और सत्य मिथ्या हो जाता है, वहाँ झूठ बोलना दोष नहीं है।" पर क्या कभी ऐसा होता है? इसका उत्तर यथासमय दूँगा। कृष्णचंद्र फिर कहते हैं : "विवाह, रतिक्रीड़ा, प्राण तथा सर्वस्व जाने के समय और ब्राह्मणों के निमित्त मिथ्याभाषण करने में भी पाप नहीं है।"

यह स्थल घोर विवाद का है, पर अभी इसे यों ही रखते हैं। ऊपर का अवतरण कालीप्रसन्न सिंह के बंगला महाभारत से दिया गया है। यह एक ही श्लोक का उलथा है, पर मूल में इस विषय के दो श्लोक हैं। मैं दोनों नकल किए देता हूँ :

पहला यह है :

प्राणत्य ये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
सर्वस्वस्यापहारे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।।

और दूसरा यह है :

विवाहकाले रतिसं प्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थेह्यनृतं वदेत पचांनृतान्याहुरपातकानि।।

इन दोनों श्लोकों का अर्थ तो एक ही है, पर पाठ में अंतर इतना ही है कि दूसरे श्लोक में ब्राह्मण का नाम है और पहले में नहीं। यहाँ पाठक पूछ सकते हैं कि एक ही अर्थ के दो श्लोक क्यों दिए गए? इसका उत्तर यह है। ये दोनों श्लोक कृष्ण की उक्ति नहीं हैं। ये उन्होंने दूसरी जगह से उद्धृत किए हैं। संस्कृत ग्रंथों में ऐसे उद्धृत वचन ठौर-ठौर मिलते हैं, पर उनमें स्पष्टकर यह नहीं लिखा रहता कि यह वचन दूसरी जगह के हैं। महाभारत का गीता-पर्वाध्याय ही इसका प्रमाण है। इसका उदाहरण मैंने दूसरे ग्रंथ में दिखाया है।

यह मैं अंदाज से नहीं कहता कि ये दोनों श्लोक दूसरी जगह के हैं। दूसरा श्लोक वशिष्ठ का वचन है। यह वशिष्टस्मृति के 16 वें अध्याय का 35वां श्लोक है। यह महाभारत के आदि पर्व में भी मिलता है, जहाँ कृष्ण का कुछ लेन देन नहीं है। हाँ, पाठ में कुछ फेरफार जरूर हो गया है।

न धर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणत्यये सर्वधनापहारे
पंचानृतान्याहुरपातकानि।।

यहां चार का ही[20] उल्लेख है, पर वशिष्ट का "पंचानृतान्य-हुरपातकानि" ज्यों का त्यों रख लिया गया है। प्रचलित वचन एक मुँह से दूसरे में पड़कर यों ही विगड़ जाते हैं। अब पहले श्लोक की कथा सुनिए। इसके छः रूप हैं, जैसे :

(क) भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्
(ख) यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यंचाप्यनृतं भवेत्
(ग) प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्
(घ) सर्व स्वस्यापहारे च वक्तव्यमनृतं भवेत्

अव महाभारत के सभा पर्व से एक श्लोक देता हूँ। इससे भी कृष्ण का कुछ संबंध नहीं है।

(च) प्राणन्ति के विवाहे के वक्तव्यमनृतं भवेत्।
(छ) अनृतेन भवेत् सत्यं सत्ये नैवातृतं भवेत्।।

पाठक देख लें कि (ग) और (च) तथा (ख) और (छ) का एक ही रूप है और शब्द भी प्रायः एक ही हैं। इसलिए यह भी पुराना प्रचलित बचन है।

यह कृष्ण का मत नहीं है, और न उन्होंने इसे अपनी मानी हुई नीति समझकर ही कहा था। उन्होंने भीष्म से जो सुना था, वही कह दिया। यह नीति उनकी मानी हुई चाहे न हो, पर उन्होंने अर्जुन से यह क्यों कहा, इसका कारण मैं बता चुका हूँ। इसलिए कृष्ण चरित्र में इस नीति के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करना वृथा है।

पर असली वात अभी वाकी है। अवस्था विशेष में सत्य मिथ्या और मिथ्या सत्य हो जाता है। ऐसी अवस्थाओं में मिथ्या ही भाषण करना चाहिए। कृष्ण की भी यही राय है। यह उन्होंने पीछे कहा है।

अव विचार करना यह है कि क्या कभी मिथ्या सत्य और सत्य मिथ्या हो जाता है? इसका स्थूल उत्तर यह है कि जो धर्म सम्मत है वही सत्य है और जो अधर्म सम्मत है वही मिथ्या है। धर्मसम्मत मिथ्या नहीं है और न अधर्मसम्मत सत्य ही है। सत्यासत्य का निर्णय धर्माधर्म के ऊपर निर्भर है। इस हेतु श्री कृष्ण पहले धर्मतत्व का निर्णय करते हैं। इसमें गीता की उदारनीति का गंभीर शब्द सुनाई देता है। श्री कृष्ण कहते हैं :

धर्म और अधर्म के निर्णय के विशेष उपाय कहे गए हैं। कहीं-कहीं अनुमान से भी अत्यंत दुर्बोध धर्म का निर्णय करना पड़ता है। इससे वढ़कर उदारता यूरोप वालों में भी नहीं है। इसके बाद वह कहते हैं : ''बहुत लोग श्रुतिको, धर्म का प्रमाण कहते हैं। मैं इसे बुरा नहीं कहता। पर श्रुति में समस्त धर्मतत्व नहीं हैं। इसलिए अनेक स्थानों पर अनुमान से ही धर्म निर्दिष्ट करना पड़ता है।''

इसी वात के लिए सभ्य जगत् में आज भी गड़वड़ मची हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वरोक्ति के सिवा और कहीं धर्म नहीं है। ईश्वरोक्ति वेद हो, वाईवल हो और चाहे कुरान हो। ईश्वरोक्ति के मानने वालों का आज भी जोर है। उनका कहना है कि धर्म ईश्वर के वाक्यों से निरुपित हुआ है। वह अनुमान का विषय नहीं है। यह वात मनुष्यों की उन्नति के पथ में बड़ा भारी कंटक है। यहाँ की वात तो जाने दीजिए, यूरोप वाले भी आज इसी ईश्वरोक्ति के फेर में पड़कर उन्नति से हाथ धो वैठे हैं। हमारे देश की अवनति का यह एक प्रधान कारण

है। भारतवर्ष का धर्म ज्ञान आज भी वेदों और मनु याज्ञवल्कादि की स्मृतियों से जकड़बंद है। अनुमान का पथ निषिद्ध ठहराया गया है। मनुष्यादर्श दूरदर्शी श्री कृष्ण ने लोकोन्नति का यह विषम व्याघात उसी समय देखा था। हिन्दू समाज का धर्मज्ञान देख कर चित्त दुःखी है। इस समय श्री कृष्ण की शरण में ही जाने की इच्छा होती है।

पर अनुमान के लिए कुछ आधार चाहिए। आग के विना धूआँ नहीं होता है। इस आधार पर पर्वत से धुआं निकलता देखकर जैसे अनुमान किया जाता है कि इसमें आग है, वैसे ही धर्म की पहचान के लिए भी कुछ लक्षण होना चाहिए। श्री कृष्ण धर्म का वही लक्षण अब बताते हैं : प्राणियों को धारण करने के कारण ही धर्म का नाम धर्म है। इसलिए जिससे प्राणियों की रक्षा होती है, वहीं धर्म है।

यह हुआ कृष्ण के धर्म का लक्षण। मैं जानता हूँ कि हरबर्ट स्पेनसर, बेनथम और मिल के[21] चेले इसके विरुद्ध कभी मत प्रकाश नहीं करेंगे। पर बहुतेरे कहेंगे कि यह तो पूरा हितवाद है– प्रायः यूटिलिटेरियन ढंग का हो गया है। हां, वैसा ही हो गया है, पर मैंने दूसरी पुस्तक में समझाया है कि धर्मतत्व हितवाद से अलग नहीं हो सकता। यह तो जगदीश्वर के सार्वभौमिकत्व और सर्वव्यापकत्व से ही अनुमान कर लेना चाहिए। संकीर्ण ईसाई-धर्म से हितवाद का विरोध हो सकता है, पर जो हिन्दू धर्म कहता है कि इश्वर सब जीवों में है, उसका वास्तविक अंश हितवाद ही है। कृष्ण का यह वाक्य ही धर्म का यथार्थ लक्षण है।

पहले कह आया हूँ कि जो धर्मसंगत है, वह सत्य है और जो धर्मसंगत नहीं है, वह मिथ्या है। इसलिए जो सबका हित करने वाला है वह सत्य और जो हित करने वाला नहीं है, वह मिथ्या है। इस अर्थ के अनुसार लौकिक व्यवहार में जो सत्य है, वह धर्म की दृष्टि से मिथ्या हो सकता है। और लौकिक व्यवहार में जो मिथ्या है, वह धर्म की दृष्टि से सत्य हो सकता है। ऐसा अवस्था में मिथ्या सत्य और सत्य मिथ्या हो जाता है। उदाहरण के तौर पर श्री कृष्ण कहते हैं : ''अगर कोई किसी की हत्या करने की इच्छा से किसी से उसका पता पूछे, तो जिससे पूछा गया है, उसे चुप रह जाना चाहिए। और लाचार बोलना ही पड़े तो झूठ बोलने में कुछ हर्ज नहीं है। ऐसे अवसर पर मिथ्या सत्य स्वरूप हो जाता है।'' श्री कृष्ण अर्जुन को यह बात समझाने के लिए कौशिक का उपाख्यान सुनाकर भूमिका बाँधी थी। उपाख्यान यों है : ''कौशिश नामक बहुश्रुत श्रेष्ठ तपस्वी ब्राह्मण ग्राम के पास ही नदियों के सगंम पर वास करता था। वह सत्यव्रत अर्थात् सदा

सत्य बोलता था। सत्य बोलने में उसका बड़ा नाम हो गया था। एक दिन बहुत से मनुष्य लुटेरों के डर से वन में जा छिपे। पीछे गुस्से में भरे लुटेरे भी उन्हें ढूँढ़ते हुए सत्यवादी ब्राह्मण के पास आ पहुँचे। उन्होंने ब्राह्मण से पूछा कि हमारे आगे कुछ लोग भागते हुए आए, वह किधर गए? ब्राह्मण देवता ने अपना सत्यव्रत बचाने के लिए कह दिया कि हाँ, कुछ लोग भागते आए और इस जंगल में घुस गए हैं बस, उन पापी लुटेरों ने वन में घुसकर उन्हें मार डाला। धर्म की सूक्ष्म गति न जानने वाले कौशिकजी महाराज भी सत्य बोलने के कारण नरकवासी हुए।''

इसका कारण यह है। कौशिक जान गया था कि पूछने वाले लुटेरे हैं और उन भागने वालों की हत्या करना चाहते हैं। अगर न जानता होता तो वह पाप का भागी न बनता। अगर जानता था, तो कृष्ण की राय से, उसने सत्य बोलकर पाप किया। इस विषय में पूर्व और पश्चिम वालों में बड़ा मतभेद है। हमने अपने पाश्चात्य गुरुओं से सीखा है कि सत्य नित्य है, वह कभी मिथ्या नहीं होता और किसी जगह में मिथ्या न बोलना चाहिए। इसलिए शिक्षितों के आगे कृष्ण का मत निंदित हो सकता है। जो इसकी निंदा करेगा (मैं इसका समर्थन भी नहीं करता हूँ) उससे पूछता हूँ कि कौशिक को इस अवस्था में क्या करना उचित था? सहज उत्तर तो यह है कि चुप रह जाना चाहिए था। यह बात तो स्वयं कृष्ण ने कही है—इसमें मतभेद नहीं है। अगर लुटेरे मारते, पीटते और चुप न रहने देते, तो क्या करना उचित था? कोई इसका उत्तर यह दे सकता है कि कौशिक का मार खाकर और जान देकर भी चुप रह जाना मुनासिब था। यह भी मैं माने लेता हूँ। पर पूछता हूँ कि क्या पृथ्वी पर ऐसा धर्म चल सकता है? इस पर सांख्यकार का एक सूत्र याद आ गया है। महर्षि कपिल कहते हैं ''नाशक्योप- देशविधिरूपदिष्टेऽप्यनुपदेशः।''[22] ऐसे धर्म प्रचार की चेष्टा निष्फल जान पड़ती है। यदि सफल हो तो मानव जाति का परम सौभाग्य है। यहाँ इसका ठीक यह मतलब नहीं है। मतलब यह है कि अगर बोलना ही पड़े तो 'अवश्यं कूजितव्यं वा शंकेरन् वाप्यकूजितः।' अब क्या करना होगा? सत्य बोलकर क्या जानबूझकर नर-हत्या मे सहायता देनी पड़ेगी? जिन्होंने धर्म का तत्व यही समझा है, उनका धर्मवाद ठीक हो चाहे नहीं, पर क्रूर अवश्य है।

प्रतिवाद करने वाले कह सकते हैं कि कृष्ण की इस नीति से हत्यारे की जान बचाने के लिए झूठी सौगंध खाना भी धर्म हो जाएगा। जिन्होंने सत्य का तत्व नहीं समझा है वही ऐसा कहेंगे। मनुष्य जीवन की रक्षा के निमित्त हत्यारे

को दण्ड मिलना बहुत जरूरी है। ऐसा न होने से हत्यारे जिसे चाहेंगे, मार डालेंगे। इसलिए हत्यारे को दण्डित करना ही धर्म है। जो उसकी रक्षा के लिए झूठ बोलते हैं, वे अधर्म करते हैं।

कृष्ण का कहा हुआ यह सत्य-तत्व निर्दोष और सर्वसाधारण के ग्रहण योग्य है या नहीं, यह कहने के लिए अभी मैं तैयार नहीं हूँ। हाँ, कृष्ण चरित्र समझाने के लिए उसे और भी साफ करना पड़ेगा, पर साथ ही यह भी मुझे कहना पड़ेगा कि यूरोप वाले जो कहते हैं कि सत्य सदैव सत्य है, उसे कभी न छोड़ना चाहिए, इसका एक गूढ़ कारण है। यदि यही धर्म हो कि सत्य जहाँ मनुष्य का हितकर है, वहीं धर्म है और जहाँ हितकर नहीं है, वहाँ अधर्म है, तो मनुष्या जीवन और मनुष्य समाज छिन्न-भिन्न हो जाएंगे। अवस्था विशेष में सत्य बोलना चाहिए या असत्य, इसका निर्णय कौन करेगा? ऐरे गैरे करेंगे? अगर ऐरे गैरे करेंगे तो वह कभी धर्मसंगत न होगा। किसी के भी पूरी शिक्षा, पूरा ज्ञान और पूरी बुद्धि नहीं है। सामान्य रूप से बहुतों के है। विचार-शक्ति तो बहुतों के बिल्कुल ही कम है। उस पर इंद्रियों का वेग, स्नेह, ममता का वेग और भय, लोभ, मोहादि का प्रकोप। यदि धर्म की ऐसी आज्ञा न होती कि सदा सत्य बोलना चाहिए, तो शायद लोग सत्य बोलना छोड़ देते।

ऐसा मत समझिए कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने यह नहीं समझा था। उन्होंने समझा था और अच्छी तरह समझ-बूझकर ही अवस्था विशेष में मिथ्या बोलने का विधान किया है। किन-किन अवस्थाओं में असत्य बोला जा सकता है, यह ऊपर बता चुका हूँ। मनु, गौतम, आदि ऋषियों का भी यही मत है। उन्होंने जो कई विशेष विधियों का विधान किया है, वह धर्म सम्मत है या नहीं, इसके विचार का मुझे प्रयोजन नहीं, क्योंकि कृष्ण कथित धर्मतत्व को स्पष्ट करना ही मेरा उद्देश्य है। आज-कल के यूरोपवासियों की तरह श्री कृष्ण ने भी समझा था कि विशेष विधि बनाए बिना, साधारण विधि को काम में लाना साधाराण लोगों के लिए बड़ा कठिन है। पर यह भी उन्होंने सोचा कि प्राणसंकट आदि केवल अवस्था विशेष का नाम ले देने से ही लोगों की समझ में धर्म-सम्मत-सत्य नहीं आ जाएगा। इससे किस लिए और किस अवस्था में साधारण विधि तोड़ करके असत्य बोलना चाहिए, यह उन्होंने दिखाया है। अब वही और भी खुलासा कर के मैं कहता हूँ।

दान, तप, शौच, सरलता, सत्य आदि की गिनती धर्म में हो सकती है। साधारण रीति से ये सब ही धर्म हैं, पर अवस्था विशेष में अधर्म भी हैं। अनुचित प्रयोग या व्यवहार का ही नाम अधर्म है। दान के बारे में उदाहरण देकर श्री

कृष्ण कहते हैं : "सामर्थ्य होने पर भी चोरों को कभी दान न देना चाहिए। पापियों को धन देने से जो अधर्म होता है, उससे दाता को कष्ट भोगना पड़ता है।" सत्य के बारे में ऐसा ही है। श्री कृष्ण ने इसके दो उदाहरण दिए हैं। एक ऊपर दे चुका हूँ। दूसरा यह है : "जहाँ झूठी सौगंध खाने से भी चोरों की संगत से छूटकारा मिलता हो, वहाँ झूठी सौगंध खा लेना ही अच्छा है। यह असत्य निश्चय ही सत्य के समान हो जाता है।"

प्रचलित धर्मशास्त्र से कृष्ण का कहा हुआ सत्यतत्व यही है। इसकी मौटी-मोटी बातें यों हैं :

(1) जो धर्म-सम्मत है, वही सत्य है, जो धर्म-विरुद्ध है, वह असत्य है।
(2) जिससे लोगों का हित हो वही धर्म है।
(3) इसलिए जिससे लोगों का हित हो वहीं सत्य है।
(4) ऐसा सत्य सदा सब ठौर व्यवहार करने के योग्य है।

कृष्ण के भक्त कह सकते हैं कि इससे बढ़कर सत्यतत्व और कहीं दिखा दो तो हम कृष्ण का मत छोड़ने को तैयार हैं। यदि न दिखा सकते हो तो इसे ही आदर्श मनुष्योचित वाक्य समझ कर स्वीकार करो।

अंत में मेरा यह भी कहना है कि "जिससे लोगों की रक्षा या भलाई हो, वही धर्म है।" हम हिन्दू धर्म के मूल स्वरूप श्री कृष्ण के इस कथन को भक्ति सहित मान सकें तो हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की उन्नति में अधिक विलम्ब न हो। फिर उपधर्मों की जिस भस्म से पवित्र और अतुलनीय हिन्दू धर्म छिपा हुआ है, वह तुरंत ही उड़ जाएगी। फिर शास्त्रों की दुहाई देकर बुरे काम करना, व्यर्थ कामों में शक्ति नष्ट करना, और वृथा समय बिनाना इत्यादि दोष दूर होकर सत्कर्म और सदनुष्टान से हिन्दू समाज गौरवान्वित होगा। फिर धोखेबाजी, आपस की मार काट, डाह, और दूसरे की बुराई करने की इच्छा लोगों में न रहेगी। हम कृष्ण की बतायी उदार नीति छोड़कर शूलपाणि और रघुनंदन के[23] फेर में पड़े हैं—लोकहित के काम छोड़कर तिथि, मलमास आदि अनेक विपयों के पीछे पागल हो गए हैं। ऐसी अवस्था में हमारी जातीय उन्नति होगी, तो अधःपात किस जाति का होगा? यदि आज भी हम सब हिन्दू एकत्र हो "नमो भगवते वासुदेवाय" कह श्री कृष्ण के चरण कमलों में प्रणाम करें और उनका बताया हुआ लोक हितकारी धर्म यदि ग्रहण करें, तो निश्चय ही हमारी जातीय उन्नति होगी, पर अभी हम हिन्दुओं का ऐसा सौभाग्य कहाँ![24]

VII : कर्ण वध

अर्जुन श्री कृष्ण की बात तो समझ गया, पर क्षत्रिय होने के कारण अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए बहुत व्याकुल हुआ। इसलिए उसने कृष्ण ऐसा से उपाय ढूढ़ने के लिए कहा, जिससे दोनों काम बने—प्रतिज्ञा भी रह जाय और बड़े भाई की हत्या का पाप भी न लगे।

कृष्ण ने कहा, माननीय पुरुषों का अपमान हो जाना ही उनकी मृत्यु है। तुम युधिष्ठिर को कुछ ऐसी बात कहो, जिससे उसका अपमान हो। बस, वह अपमान ही उसकी मृत्यु के बराबर हो जाएगा। अर्जुन ने वही किया। पर पीछे उसने कृष्ण को फिर आफत में फँसाया। बोला, मैंने बड़े भाई का अनादर कर बड़ा पाप किया है—अब तो मैं आत्महत्या करूँगा। बस, म्यान से तलवार खेंच ली। श्री कृष्ण ने फिर समझाया। कहा, अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करना सज्जनों के लिए मृत्यु के तुल्य है। यह बात बिल्कुल ठीक है। अर्जुन ने आत्मप्रशंसा कर ली। बस रांध कट गई।

श्री कृष्ण अर्जुन के सारथी थे। वह अर्जुन के घोड़ों की ठीक राह पर जैसे चलाते थे वैसे अर्जुन को भी चलाते थे। कहीं अर्जुन के कहने पर वह रथ चलाते और कहीं उनके कहने से अर्जुन चलता था। अब श्री कृष्ण ने कर्ण वध के लिए अर्जुन को ठीक किया।

कर्णवध महाभारत की एक प्रधान घटना है। बहुत दिनों से इसका लग्गा लगता चला आ रहा। कर्ण ही अर्जुन के जोड़ का योद्धा था। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव इन चारों ने मिलकर युधिष्ठिर के लिए दिग्विजय की। पर कर्ण ने अकेले ही दुर्योधन के लिए की थी। अर्जुन द्रोण का शिष्य था और कर्ण द्रोण के गुरु परशुराम का शिष्य था। अर्जुन के पास गाण्डीव धनुष था और कर्ण के पास उससे भी बढ़कर विजय धनुष था। अर्जुन के सारथी श्री कृष्ण थे और कर्ण का सारथी महारथी शल्य था। दोनों ही दिव्यास्त्र जानते थे। दोनों ही एक दूसरे का वध करने के लिए प्रतिज्ञा कर चुके थे। भीष्म और द्रोण के वध के लिए अर्जुन की कुछ भी चेष्टा न थी, उसका पूरा ध्यान कर्ण पर ही था। कुंती ने कर्ण से उसके जन्म का वृत्तांत बताकर पाँचों पुत्रों की प्राणभिक्षा माँगी, तो कर्ण ने युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव इन चारों की प्राण-भिक्षा माता को दे दी, पर अर्जुन की किसी तरह नहीं दी। साफ कह दिया कि मैं अर्जुन को मारूँगा या उसके हाथ से मर जाऊँगा।

आज श्री कृष्ण इसी महायुद्ध में अर्जुन को ले चले। इसी लिए वह अर्जुन को युधिष्ठिर के शिविर में भी लिवा लाए थे। भीम ने युधिष्ठिर की टोह में जाने के लिए अर्जुन से कहा था, पर वह लड़ाई खत्म किये विना नहीं जाना चाहता था। कृष्ण जिद्द करके उसे ले आए थे। कृष्ण का अभिप्राय यह था कि कर्ण उधर लड़ते-लड़ते थक जाय और अर्जुन इधर कुछ देर विश्राम कर नये उत्साह से लड़ने के लिए तैयार हो जाए। रण भूमि में पुनः ले जाने के समय श्री कृष्ण ने अर्जुन का उत्साह बढ़ाने के लिए उसकी वीरता की प्रशंसा की और पहले उसने जो-जो विकट काम किए थे, उनकी याद दिला दी। द्रौपदी का अपमान, अन्याय युद्ध में अभिमन्यु की हत्या, आदि जितने अत्याचार पाण्डवों पर कर्ण ने किए थे, सबका स्मरण उन्होंने अर्जुन को करा दिया। श्री कृष्ण ने जो कुछ कहा था, उसमें उद्धृत के योग्य कुछ नहीं है। अगर कुछ है, तो वस यही कि "विष्णु ने दानवों का पहले जैसे विनाश किया था," "विष्णु के हाथ से दानवों के मारे जाने पर" इत्यादि-इत्यादि। कृष्ण के इन वाक्यों से साफ मालूम होता है कि कृष्ण ने अपने को कभी विष्णु का अवतार नहीं कहा है। और न ईश्वर होने का सिक्का जमाया है। यह पहली तह का एक लक्षण है। दूसरी तह में यह वात नहीं है—उसमें कुछ दूसरी ही लीला है।

पीछे कर्ण और अर्जुन का युद्ध प्रारंभ हुआ। उसका वर्णन करना मेरा काम नहीं है। कहा जाता है कि कर्ण के सर्प बाण से अर्जुन की रक्षा श्री कृष्ण ने की थी। अर्जुन उस वाण को न रोक सका तो कृष्ण ने रथ में लात मारी, जिससे वह जमीन में कुछ धंस गया और घोड़े भी बैठ गए। इससे अर्जुन का सिर वच गया, केवल किरीट कटकर गिरा पड़ा। इतना काम तो अर्जुन के सिर झुका लेने से ही निकल सकता था। खैर, यह बात आलोचना के योग्य नहीं है। पर कृष्ण के सारथीपन की वड़ाई महाभारत में ठौर-ठौर मिलती है।

लड़ाई के पिछले भाग में कर्ण के रथ का पहिया धरती में धंस गया। वह उसे उठाने के लिए रथ से उतर पड़ा। जितनी देर में उसने पहिया निकाला उतनी देर के लिए उसने अर्जुन से क्षमा मांग ली थी। जान पड़ता है, अर्जुन ने भी उसे क्षमा दे दी थी, क्योंकि कर्ण फिर रथ पर बैठकर पहले की तरह लड़ने लगा था। परंतु क्षमा मांगने के समय कर्ण ने दुर्भाग्यवश अर्जुन से कह दिया कि इस समय क्षमा करना तुम्हारा धर्म है। इस पर अधर्मियों को दण्ड देने वाले श्री कृष्ण बोले : "हे सूतपुत्र! तुम भाग्य से ही अभी धर्म का स्मरण करते हो। दुःख में पड़कर नीच लोग दूसरों की प्रायः करते हैं, अपने बुरे कामों की ओर कभी नहीं देखते।

दुर्योधन, दुःशासन और शकुनी ने तुम्हारी राय से एकवस्त्रा द्रौपदी को जब सभा में पकड़ कर मंगाया तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? जव दुष्ट शकुनी ने तुम्हारे कहने पर वुरी नीयत से जुआ खेलने में अनाड़ी राजा युधिष्ठिर को जीता था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? जव राजा दुर्योधन ने तुम्हारी सलाह से भीम को विष खिलाया, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? जव तुमने वारणावत के लाक्षा भवन में सोये हुए पाण्डवों को जलाने के लिए आग लगायी तव तुम्हारा धर्म कहाँ था? दुःशासन के वश में पड़ी हुई रजस्वला द्रौपदी से यह कहकर तुमने जब हंसी की कि "हे कृष्णे! पाण्डव मरकर सदा के लिए नरक में गए, अव तू दूसरा खसम खोज ले" और विना अपराध उसके सताये जाने पर भी तुमने कुछ ध्यान नहीं दिया, तव तुम्हारा धर्म कहाँ था? जव तुमने शकुनी से मिलकर राज्य के लालच से पाण्डवों को जूआ खेलने बुलाया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? जब तुमने सव महारथियों के साथ बालक अभिमन्यु को घेर कर मारा था, तव तुम्हारा धर्म कहाँ था? हे कर्ण! तुमने जव इतनी बार अधर्म किया है, तो अव धर्म-धर्म चिल्लाकर क्यों गला सुखाते हो? इस समय धर्म की दुहाई देने से तुम्हारा छुटकारा हो जाएगा, यह मत सोचो। पुराने समय में राजा नल ने जूए में हारा हुआ राजपाट जैसे फिर पाया था, वैसे ही धर्मपरायण पाण्डव भी अपने वाहुबल से साथियों सहित शत्रुओं को मारकर पावेंगे। धृतराष्ट्र के लड़के पाण्डवों के हाथ से जरूर मारे जाएंगे, क्योंकि पाण्डवों का रक्षक धर्म है।"

कृष्ण की वातें सुन कर कर्ण ने लज्जा से सिर नीचा कर लिया। फिर पहले की तरह युद्ध करता हुआ अर्जुन के हाथों मारा गया।

VIII : दुर्योधन वध

कर्ण के काम आने पर दुर्योधन ने शल्य को सेनापति बनाया। अगले दिन की लड़ाई में पीठ दिखाने के कारण युधिष्ठिर को कलंक का टीका लग चुका था। उसे मिटाना जरूरी था। सर्वदर्शी कृष्ण ने आज के प्रधान युद्ध में युधिष्ठिर को भेजा। उन्होंने भी साहस करके शल्य का सामना किया और उसे मार गिराया।

कौरवों की सेना पर पाण्डवों ने आज खूब हाथ साफ किया। कृप और अश्वत्थामा यह दो ब्राह्मण, यदुवंशी कृतवर्मा और स्वयं दुर्योधन महाराज बस यही चार वचे रहे थे। दुर्योधन भागकर द्वैपायन तालाब में छिप रहा। पाण्डवों ने उसे ढूंढ निकाला, पर युद्ध किए विना मारा नहीं।

युधिष्ठिर की वुद्धि बड़ी मोटी थी। उसकी इस मोटी बुद्धि के कारण ही

पाण्डवों को इतना कष्ट उठाना पड़ा। इस समय भी उसने अपनी बुद्धिमानी दिखा ही दी। उसने दुर्योधन से कहा : "तुम मनमाना हथियार लेकर हममें से किसी एक के साथ आकर लड़ो। हम सब बैठ कर तमाशा देखेंगें। मैं कहता हूँ कि अगर तुम हममें से किसी एक को मार डालोगे, तो सारा राज्य तुम्हारा होगा।" दुर्योधन बोला, मैं गदा युद्ध करूँगा। श्री कृष्ण जानते थे कि गदा में उसका मुकाबला करने वाला पाण्डवों में भीम के सिवा और कोई नहीं है। दुर्योधन ने अगर किसी और पाण्डव के साथ लड़ना चाहा, तो पाण्डवों को फिर भीख मांगनी पड़ेगी। यह सोचकर कृष्ण ने युधिष्ठिर को डाँटा। उन्होंने यह काम बड़े अच्छे ढंग से किया। पहले कोई कुछ न बोला। सब ही अपने-अपने बल के घमण्ड में चूर हो रहे थे। दुर्योधन भी उस समय वड़े जोश में आ गया था। उसके जोश ने ही काम बना दिया। वह बोल उठा, जिसका मन हो मेरे साथ गदा युद्ध कर ले। मैं सबको मार डालूँगा। यह सुनते ही भीमसेन गदा तान कर आगे वढ़ा।

इसके आगे महाभारत का सुर फिर वदल गया है। अठारह दिन लड़ाई हुई, इसमें भीम और दुर्योधन का वरावर सामना हुआ। गदायुद्ध भी कई वार हुआ। उसमें दुर्योधन बराबर हारता रहा। पर आज यही राग अलापा गया है कि भीम गदा चलाने में दुर्योधन के जोड़ का नहीं है। वह गदा खाते-खाते वेदम हो चला। इस भूमिका का कारण वही दारुण प्रतिज्ञा है, जो भीम ने सभापर्व में की थी। दुर्योधन ने जब द्रौपदी को जूए में जीत लिया तथा दुःशासन एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी को चोटी पकड़कर सभा में घसीट लाया और नंगी करने लगा तब भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं दुःशासन को मारकर उसके कलेजे का खून पीऊँगा। भीम ने महाश्मशान के निकट रणस्थल में दुःशासन को मारा और राक्षस की तरह उसका गर्म खून पीकर सबसे चिल्लाकर कहा कि "मैंने अमृत पान किया है।" दुर्योधन ने उसी सभा में "द्रौपदी की ओर देखकर, हंसते-हंसते धोती उठाकर सव लक्षणों से युक्त, वज्र के समान मजवूत, केले के थम और हाथी के सुण्ड-सी अपनी जाँघ दिखायी थी।" भीम ने उसी समय प्रतिज्ञा की कि युद्ध में गदा से इसकी जांघ न तोड़ूं तो मैं नरक वास करूँ। आज वही जाँघ गदा से तोड़कर प्रतिज्ञा पूरी करनी है। पर इसमें एक बड़ी रुकावट आ पड़ी है। गदायुद्ध में नाभी के नीचे गदा मारने का नियम नहीं है। नियम भंग करने से अन्याय युद्ध होता है। और न्याय युद्ध में भीमसेन दुर्योधन को मार भले ही ले, पर प्रतिज्ञा पूरी न कर सकेगा।

जो अपने ताऊ के लड़के के कलेजे का खून पीकर नाचा था उस राक्षस

के लिए माथे या जाँघों में गदा मारना कौन बड़ी बात है! जो वृकोदर द्रोण के भय से झूठ बोलने और दगाबाजी करने में सबके आगे था, वह जाँघ में गदा मारने के लिए दूसरे की बात क्यों सुनने लगा? पर वहाँ मामला ही कुछ और हुआ। भीमसेन जाँघ तोड़ने वाली प्रतिज्ञा भूल गया। कह चुका हूँ कि दूसरी तह के कवि (यहाँ इनकी ही कलम की करतूत देखने में आती है) चरित्र की संगति पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देते हैं। उन्होंने यहाँ भीम के चरित्र का कुछ भी निर्वाह न किया और न अर्जुन के चरित्र का ही किया। जाँघों का तोड़ना भीम बिल्कुल ही भूल गया। और जिस परम धार्मिक अर्जुन ने द्रोण वध के समय अपने गुरु, धर्म के आचार्य, मित्र और परम श्रद्धास्पद श्री कृष्ण के कहने पर भी झूठ बोलना मंजूर नहीं किया था, उसी ने आप ही आप अभी भीम को अन्याय युद्ध में लगाया। पर कृष्ण के मुँह से कहलाए बिना कवि की कामना पूरी नहीं होती। इसलिए यह बाँधनू बाँधा गया : अर्जुन ने भीम और दुर्योधन की लड़ाई देख श्री कृष्ण से पूछा कि इन दोनों में तेज कौन है? कृष्ण ने कहा : "भीम बल में अधिक है, पर दुर्योधन गदा चलाने में होशियार है। जो जान के डर से भाग जाय और फिर आकर शत्रुओं का सामना करे, उसे समझ लो कि वह जान को हथेली पर रखकर आया है और बड़ी सावधानी से लड़ेगा। जान पर खेलकर जो लड़ता है, उसे कोई नहीं जीत सकता। इसलिए भीम अभी नियम भंग करके दुर्योधन को न मार डालेगा तो दुर्योधन जीत जाएगा और युधिष्ठिर के कथनानुसार राजपाट फिर ले लेगा।"

श्री कृष्ण की यह बात सुनकर अर्जुन ने "अपनी बायीं जाँघ ठोंक कर भीम को इशारा किया।" भीम ने दुर्योधन की जँघा में गदा मार कर उसे गिरा दिया।

न्याय जैसा ईश्वर प्रेरित है, वैसा ही अन्याय भी है। यही दिखलाना यहाँ दूसरी तह के कवि का उद्देश्य है। युद्ध के समय बलराम भी उपस्थित थे। भीम और दुर्योधन दोनों ही उनके चेले थे। दोनों ने उनसे गदा चलाना सीखा था। पर दुर्योधन को ही वह अधिक चाहते थे। रेवतीवल्लभ बलराम सदा दुर्योधन का ही पक्ष लेते थे। भीम ने नियम भंग कर के जब दुर्योधन को गिरा दिया तब बलराम गुस्से में आकर हल उठाकर भीम की ओर दौड़े। बलराम के कन्धे पर सदा हल रहता था इसी से वह हलधर कहलाते थे। वह क्यों सदा हल ढोये फिरते थे, इसका सबब अगर कोई पूछे तो मैं कुछ न कह सकूंगा। खैर, कृष्ण ने उन्हें बहुत समझाया बुझाया। वह मान तो गए पर कृष्ण की बात उन्हें बहुत बुरी लगी। वह बिगड़ कर वहाँ से चल दिए।

पीछे एक वीभत्स घटना हुई। भीमसेन गिरे हुए दुर्योधन के सिर में लातें मार रहा था। युधिष्ठिर ने मने किया, पर वह न माना। कृष्ण ने उसके इस घृणित काम के लिए युधिष्ठिर को ऊँची-नीची सुनायी। कहा, तुमने इसे क्यों नहीं रोका? इधर पाण्डवों के ओर वाले भीमसेन की तारीफ करने और दुर्योधन को जलीकटी सुनाने लगे। कृष्ण ने इस पर बिगड़ कर कहा : "अधमरे शत्रु को जलीकटी नहीं सुनानी चाहिए।"

कृष्ण की ये सब बातें उनके जैसे आदर्श पुरुष के योग्य ही हैं। पर इसके बाद जो कुछ है उसे पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है।

आश्चर्य की पहली बात तो यह है कि श्री कृष्ण औरों से तो कहते हैं कि अधमरे शत्रु को जलीकटी न सुनानी चाहिए, पर आप ही फिर दुर्योधन को जलीकटी सुनाने लगे।

आश्चर्य की दूसरी बात दुर्योधन का उत्तर है। वह तब तक मरा नहीं था, पड़ा-पड़ा साँसें ले रहा था। वह श्री कृष्ण की जलीकटी सुनकर कहने लगा : "हे कंस के दास के पुत्र, तुम्हारे कहने से अर्जुन ने भीमसेन को इशारा किया और उसने अधर्म युद्ध करके मुझे मार गिराया। इससे तुम्हें लज्जा भी नहीं आती है। तुम्हारे अन्याय से ही धर्म युद्ध में रोज हजारों राजा मारे गए[25]। तुमने ही शिखण्डी को आगे करके पितामह को[26] मरवाया है। अश्वत्थामा नाम के हाथी के मारे जाने पर तुम्हारी ही चालाकी से आचार्य ने अस्त्रशस्त्र रख दिए थे और दुष्ट धृष्टद्युम्न ने तुम्हारे सामने ही उन पर खड़ग उठाया और तुम कुछ न बोले[27]। कर्ण ने अर्जुन के मारने के लिए जो शक्ति बहुत दिनों से हिफाजत के साथ रख छोड़ी थी उसे तुमने चालाकी से घटोत्कच पर चलवाकर खराब करवा दिया[28]। सात्यकी ने तुम्हारे ही कहने से योगासन में वैठे हुए लूले भूरिश्रवा को मार डाला था[29]। महावीर कर्ण ने अर्जुन को मारने के लिए सर्पबाण छोड़ा तो तुमने उस्तादी कर के उसे बचा लिया[30]। और अंत में कर्ण के रथ का पहिया धरती में धंस गया तो वह उसे निकालने लगा, तो तुमने मौका पा चालाकी[31] करके अर्जुन से उसे मरवा डाला। इस लिए तुम्हारे समान पापी, निर्दयी, निर्लज्ज और कौन है? अगर तुम भीष्म, द्रोण, कर्ण, और मेरे साथ धर्मयुद्ध करते तो कभी न जीत सकते। तुम्हारे नीच उपायों से ही हम लोग स्वधर्मानुगामी होकर सब समेत मारे गए।"

इन कई वाक्यों पर मैंने टिप्पणियाँ लगायी हैं, उन्हें पाठक जरा ध्यान देकर पढ़ें। दुर्योधन का इलजाम विल्कुल गलत है। ऐसी गलत गालियाँ महाभारत में

और कहीं नहीं हैं। इसी से मैंने कहा था कि दुर्योधन का उत्तर और भी आश्चर्य का है।

आश्चर्य की तीसरी बात श्री कृष्ण का प्रत्युत्तर देना है। पहले दिखा चुका हूँ कि कृष्ण बड़े गंभीर और क्षमाशील थे। वह कभी किसी की गालियों का जवाव नहीं देते थे। उन्होंने भरी सभा में शिशुपाल की गालियाँ चुपचाप सुन लीं, जरा चूँ तक न की। वही कृष्ण दुर्योधन को खरी-खोटी कहेंगे? वह भी कव? जव कि वह आखरी साँसे गिन रहा था। ऐसी अवस्था में तिरस्कार करना स्वयं श्री कृष्ण वुरा समझते थे। पर तो भी उन्होंने दुर्योधन को खूब जली-कटी सुनायी। उसके सव पापों का वर्णन करके अंत में कहा : "तुमने बड़े पाप किए हैं, अव उन्हीं का फल भोगो।" इस पर दुर्योधन बोला : "मैंने अध्ययन किया, विधिपूर्वक सम्मान पाया, ससागरा वसुंधरा का शासन किया, शत्रुओं के सिर पर लातें मारीं, और राजाओं को जो सुख दुर्लभ थे उनका भोग किया, परमोत्तम ऐश्वर्य प्राप्त किया और अंत में धर्मपरायण क्षत्रियों की वांछित गति समरभूमि में पायी है। इसलिए मेरे समान अव भाग्यवान् और कौन है? मैं तो अब अपने भाई-वंदों और कुटुम्बियों के साथ स्वर्ग जाता हूँ, तुम लोग शोक से व्याकुल हो मुर्दों के समान इस धरती पर रह जाओ।"

इस उत्तर से कुछ भी आश्चर्य नहीं होता है। जो वाजी लगाकर सब कुछ हार चुका है, वह अगर दुर्योधन की तरह घमंडी हो, तो जीतने वाले से जरूर कहेगा कि मैंने ही बाजी मारी है और तुम हार गए हो। दुर्योधन ने ऐसी बातें तालाव में भी कही थीं। लड़ाई में मरने से स्वर्ग मिलता है, यह सब क्षत्रिय ही कहते थे। दुर्योधन का यह उत्तर अद्भुत नहीं है, हाँ इस उत्तर का फल अलबत्ते अद्भुत है। दुर्योधन की वात पूरी होते ही "आकाश से पुष्प वृष्टि होने लगी। गन्धर्व बाजे बजाने लगे और अप्सराएँ राजा दुर्योधन का यश गाने लगीं। सिद्धगण साधु-साधु कहने लगे। शीतल, सुगंधित मंद वायु बहने लगी। दिङ्मण्डल और आकाश निर्मल हो गए। श्री कृष्ण पाण्डवों सहित दुर्योधन का यह अद्भुत सम्मान देखकर लज्जित हो गए। भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा अधर्म युद्ध में मारे गए, यह सुनकर लोग शोक करने लगे।"

महाभारत के पापियों में जो सबसे अधम समझा गया है, उसके लिए यह अद्भुत सम्मान और साधुवाद! और जो धर्मात्माओं में सबसे श्रेष्ठ समझे गए हैं वह अपने पापों के लिए लज्जित हों!! यह महाभारत में अनोखी बात है। सिद्ध, अप्सराएँ, गंधर्व सब मिलकर कहते हैं कि दुरात्मा दुर्योधन धर्मात्मा है और कृष्ण

पाण्डवादि महा पापात्मा हैं। यह बड़ी विचित्र बात है, क्योंकि इसका मेल महाभारत से कुछ भी नहीं है। सिद्ध तथा गन्धर्वादि तो दूर यदि कोई मनुष्य भी महाभारत में इस तरह प्रशंसा करे तो आश्चर्य होगा, क्योंकि दुर्योधन का अधर्म और कृष्ण तथा पाण्डवों का धर्माचरण वर्णन करना ही महाभारत का उद्देश्य है। इस पर तुर्रा यह कि जब दुर्योधन से उन्होंने सुना कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा अधर्म से मारे गए हैं, तब वे लोग शोक करने लगे। अब तक मानों वे लोग कुछ जानते ही न थे, परमशत्रु के कहने से भलेमानुस की तरह शोक दिखलाने लगे। वे लोग जानते थे कि भीष्म या कर्ण को अधर्म से नहीं मारा है, पर जव परम शत्रु दुर्योधन कह रहा है कि उन्हें अधर्म से मारा है, तब भला वह विश्वास क्यो न करते? वह जानते थे कि सब लोगों में से किसी ने भूरिश्रवा को नहीं मारा, सात्यकी ने मारा है, बल्कि सात्यकी को श्री कृष्ण, अर्जुन और भीम ने रोका भी था, पर जब दुर्योधन कहता है कि इन्हो ने ही मारा और इन्हों ने अधर्म किया है, तब बेचारे पाण्डवों को लाचार हो अपना दोष मानना और अपने किए पर पछताना ही पड़ा। पाठकों! आप ही बताइये, भला ऐसी ऊटपटाँग बातों की मैं क्या आलोचना करूँ? पर इस अभागे देश के लोगों का विश्वास है कि पुस्तकों में जो कुछ लिखा है, वह ऋषिवाक्य है, अभ्रान्त है, और शिरोधार्य है। इसलिए लाचार होकर मुझे यह भी झख मारना पड़ा।

अद्‌भूत बातों की इतिश्री अभी नहीं हुई है। कृष्ण अपने अधर्मों के लिए लज्जित तो हुए, पर तुरंत ही बड़ी निर्लज्जता के साथ पाण्डवों के सामने अपने अधर्मों का आल्हा गाने लगे[32]। मतलब यह कि दुर्योधन के मुँह से जो बातें कहलायी गई हैं वे बिल्कुल बेजड़ हैं। द्रोणवध आदि वृत्तांत अमौलिक हैं, यह मैं पहले ही सिद्धकर चुका हूँ। जो अमौलिक है, उसके संबंध की जो बातें हैं, वे भी अवश्य अमौलिक हैं। केवल इतना कह देना आवश्यक है कि यहाँ दूसरी तह के कवि की करतूत भी कुछ नहीं दिखायी देती है। मालूम होता है, यहाँ तीसरी तह के कवियों का कलम-कुठार चला है। दूसरी तह के कवि कृष्ण के भक्त थे और ये कृष्ण के द्वेषी हैं। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शैवादि अवैष्णव या वैष्णव-विद्वेषियों ने भी स्थान- स्थान पर महाभारत का कलेवर बढ़ाया है। इन्होंने ही यहाँ कलम-कुल्हाड़ा चलाया हो तो आश्चर्य नहीं। फिर यह काम कृष्ण के भक्तों का भी होना असम्भव नहीं है। निंदा के मिस स्तुति करना भारत के कवियों का एक गुण है[33]। यह बात यहाँ भी हो सकती है।

जो हो, इसके बाद ही दुर्योधन अश्वत्थामा से कहता है कि "मैं अमित

तेजस्वी वासुदेव की महिमा अच्छी तरह जानता हूँ। उन्होंने मेरा क्षत्रिय धर्म भ्रष्ट नहीं किया। इस हेतु मेरे लिए शोक करने की आश्यकता क्या है?"

ऐसी उटपटांग बातों की आलोचना करना क्या झख मारना नहीं है?

IX: युद्ध का अंत

युधिष्ठिर ने सुना कि दुर्योधन अधर्म युद्ध में मारा गया है तो उसका माथा ठनका। उसे भय हो गया कि तपस्विनी गान्धारी यह सुनकर कहीं पाण्डवों को भस्म न कर दे। इसलिए उसने श्री कृष्ण से हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और गान्धरी को समझा आने के लिए कहा। यह कथा पहली तह की नहीं है, क्योंकि युधिष्ठिर श्री कृष्ण से कहता है : "तुम अव्यय तथा सृष्टि और संहार करने वाले हो"। इसके कुछ ही देर पहले श्री कृष्ण के उतरते ही अर्जुन का रथ जलकर राख हो गया था। अर्जुन के पूछने पर श्री कृष्ण ने कहा : "ब्रह्मास्त्र के प्रभाव से इस रथ में पहले ही आग लग गई थी। मैं उस पर था इसी से अब तक वह नहीं जला।" अर्थात् मैं देवता या विष्णु हूँ। मेरे प्रभाव से वह बच रहा था। यह दूसरी या तीसरी तह की रचना है।

कृष्ण ने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और गान्धारी को समझाया-बुझाया। उद्धृत करने या आलोचना योग्य इसमें एक भी बात नहीं है। पीछे दुर्योधन ने अश्वत्थामा को सेनापति बनाया। पर उस समय सेना में केवल अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ही थे। शल्यपर्व यहीं समाप्त होता है।

फिर सौप्तिकपर्व आरंभ होता है। इसमें बड़ी भीषण लीलाएं भरी हैं। पहले भाग में तो अश्वत्थामा चोरों की तरह आधी रात को पाण्डवों के डेरे में घुस गया और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों और सब पांचालों, सेना और सेनापतियों को उसने सोये में मार डाला। पाँचों पाण्डवों और श्री कृष्ण के सिवा और कोई जीता न बचा।

कुरुक्षेत्र का यह युद्ध वास्तव में कुरु-पांचालों का युद्ध था। पांचालों की इतिश्री होने से युद्ध की भी इतिश्री हो गई।

इसके बाद सौप्तिकपर्व में ऐषीकपर्वाध्याय है। इसमें अश्वत्थामा खून करके पाण्डवों के डर से जंगल में जा छिपा। दूसरे दिन पाण्डव उसकी खोज में निकले। अश्वत्थामा पकड़ा गया। उसने अपनी रक्षा के लिए बड़ा भयंकर ब्रह्मशिरा नाम का अस्त्र चलाया। अर्जुन ने भी उसके निवारण के निमित्त ब्रह्मशिरास्त्र चलाया।

दोनों अस्त्रों के तेज से ब्रह्माण्ड के भस्म हो जाने की संभावना देख ऋषियों ने आकर वीच-विचाव किया। अश्वत्थामा ने अपने सिर की मणि काटकर द्रौपदी को उपहार दिया। और इधर ब्रह्मशिरा ने अर्जुन की पुत्रवधू उत्तरा का गर्भ नष्ट कर दिया।

इन सव अस्वाभाविक घटनाओं पर टीका टिप्पणी व्यर्थ है। इस सौप्तिकपर्व में कृष्ण से संवंध रखने वाली कोई घटना नहीं है। इसलिए यह आलोचना के योग्य नहीं है।

अनंतर स्त्रीपर्व है। स्त्रीपर्व और भी भीपण है। इसमें खेत रहे वीरों की स्त्रियों का विलाप है। ऐसा विलाप कहीं सुनने में नहीं आया है। इसमें कृष्ण विषयक केवल दो ही बातें हैं :

(क) एक तो धृतराष्ट्र ने सोचा था कि छाती से लगाने के समय भीम को मसल डालूँगा। पर श्री कृष्ण ने इसके लिए पहले से ही लोहे का भीम मंगवा रखा था। अंधे राजा ने उसे ही मसल कर तोड़ डाला। अनैसर्गिक घटना छोड़ने के योग्य है। इसलिए इस पर कुछ न कहूँगा।

(ख) और दूसरी, गांधारी ने कृष्ण के सामने वहुत विलाप किया, पर पीछे उन्हें ही शाप दे डाला। बोली "जनार्दन, जव कौरवों और पाण्डवों में क्रोध की आग धधक रही थी तव तुम क्यों चुपचाप वैठे रहे? तुम्हारे पास वहुत से भृत्य और सेना हैं, तुम शास्त्रों के जानने वाले हो, वोलने में चतुर और असाधारण वली हो, यह सव होने पर भी तुमने जानबूझकर कौरवों का नाश होने दिया और तुम कुछ न वोले। इसलिए तुम्हें इसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। मैंने पति की सेवा करके जो तप किया है, उसका प्रभाव बड़ा दुर्लभ है। मैं उसी से तुम्हें शाप देती हूँ कि तुमने कौरव-पाण्डवों का जैसे नाश किया है वैसे ही तुम अपने कुटुंव का भी करोगे। तिरेसठ वर्ष बाद तुम, मंत्रीहीन, कुटुंवहीन और पुत्रहीन होगे और वन में इधर-उधर भटकते हुए वड़ी बुरी तरह मारे जाओगे। तुम्हारी कुल की स्त्रियाँ भरत कुल की स्त्रियों की तरह पुत्रहीन और अनाथ हो विलाप और दुःख करेंगी।" श्री कृष्ण ने हँसकर जवाव दिया : "देवी, मेरे सिवा ऐसा कोई नहीं है, जो यदुवंशियों का नाश करे। उनके विनाश करने का विचार मैंने बहुत दिन पहले ही कर लिया है। मेरा जो कर्त्तव्य है, वही आपने अभी कहा है। यादवों को मनुष्य क्या देव-दानव भी नहीं मार सकते हैं। इसलिए वह आप ही लड़ मरेंगे।"

दूसरी तह के कवि ने मौसलपर्व की भूमिका पहले से ही इस प्रकार बाँध

रखी है। मौसलपर्व दूसरी तह के कवि की रचना है, इसकी भूमिका मैंने भी पहले से बाँध ली है।

X : विधि संस्थापन

अव हम लोग अति कठिन कुरुक्षेत्र युद्ध के पार हो गए। कृष्ण चरित्र अब फिर विमल और प्रभा भासित होने चला है। पर शांति और अनुशासनपर्व में कृष्ण स्पष्ट रूप से ईश्वर माने गए हैं।

युद्धादि के अंत में विकट वुद्धि वाले युधिष्ठिर ने फिर अपनी बुद्धि का परिचय दे डाला है। वह अर्जुन से वोला : ''इतने भाई-बंदों को मारकर मैं जरा भी सुखी नहीं हुआ। मैं जंगल में जाकर रहूँगा और भीख माँग कर खाऊँगा।'' अर्जुन इस पर बहुत विगड़ा। दोनों में बड़ी कहासुनी हुई। निदान भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, और स्वयं कृष्ण ने समझाया। पर युधिष्ठिर मानने वाला जीव न था। व्यास, नारदादि ने समझाया। पर वह क्यों किसी की सुनने लगा? अंत में कृष्ण के कहने-सुनने से उसने बड़ी धूम-धाम के साथ हिस्तनापुर में प्रवेश किया।

श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कराया। और उसने उनकी स्तुति की। सह स्तुति भगवान की है। युधिष्ठिर ने स्तुति करके श्री कृष्ण को प्रमाण किया। कृष्ण युधिष्ठिर से उम्र में छोटे थे। इसके पहले उन्होंने कृष्ण को न कभी प्रणाम किया और न कभी उनकी स्तुति ही की थी।

इधर कौरवों में श्रेष्ठ भीष्म शरशय्या पर पड़े बड़े कष्ट से उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे थे। ऋषिगण उन्हें घेरे बैठे थे और वह सर्वमय, सर्वाधार, परम पुरुप कृष्ण के ध्यान में मग्न थे। उनकी स्तुति से श्री कृष्ण का आसन डोल गया और वह युधिष्ठिरादि को साथ लेकर भीष्म को दर्शन देने चले। युधिष्ठिर ने रास्ते में कह सुन कर श्री कृष्ण से परशुराम का उपाख्यान सुन लिया।

कृष्ण ने युधिष्ठिर को भीष्म से उपदेश ग्रहण करने की सम्मति दी। कहा कि भीष्म सव धर्मों के वेत्ता हैं। उनके मरने के बाद जो कुछ वह जानते हैं उनके साथ ही लोप हो जाएगा। मेरी इच्छा है कि उनके मरने के पहले उनकी विद्या और ज्ञान जगत् मैं फैल जाय। इसीलिए मैं उनके उपदेश सुनने के लिए तुम्हें कहता हूँ। श्री कृष्ण ने भीष्म से भी जाकर कहा कि आप युधिष्ठिर को धर्मोपदेश दे कर अनुगृहीत कीजिए।

पर भीष्म राजी न हुए। वोले, धर्म कर्म सब तुम से ही है। तुम सब जानते

हो। तुम ही युधिष्ठिर को धर्मोपदेश करो। मैं आप ही बाणों के मारे बेचैन हूँ। बुद्धि ठिकाने नहीं है। मुझसे यह काम न हो सकेगा। इस पर कृष्ण बोले, मेरे वरसे तुम्हारे सब कष्ट दूर हो जायेंगे। और तुम्हारा अंतःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो जाएगा, बुद्धि स्थिर रहेगी, तुम्हारा मन केवल सत्त्वगुण में ही रहेगा। तुम दिव्यचक्षु प्राप्त करके भूत भविष्यत् सब देख पाओगे।

कृष्ण की कृपा से सब कुछ हो गया। पर तो भी भीष्म ने आपत्ति की। कहा : "तुम ही क्यों नहीं युधिष्ठिर को हितोपदेश करते हो?" कृष्ण बोले, सब हित-अहित कर्म मुझसे ही उत्पन्न हैं। चन्द्रमा को शीतांशु होने की कीर्ति जिस प्रकार है उसी प्रकार मेरा यश है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा अधिक यश हो। इसलिए मैंने अपनी सारी बुद्धि तुमको दे दी है, इत्यादि। यह सुनकर भीष्म बड़े आनंद से युधिष्ठिर को धर्म-तत्त्व सुनाने लगे। राजधर्म, आपद् धर्म और मोक्षधर्म विस्तारपूर्वक सुनाया। मोक्षधर्म के बाद शांतिपर्व समाप्त है।

इस शांतिपर्व में तीनों तहें देखने में आती हैं। पहली तह ही इसका अंजर पंजर है। फिर जिसने जैसा समझा उसने वही शांतिपर्व में मिला दिया। इसमें समालोचना के योग्य एक बड़ी भारी बात है। केवल धार्मिक को राजा बनाने से ही धर्म-राज्य की स्थापना नहीं हो जाती। आज धार्मिक राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा है, कल के उसका उत्तराधिकारी पापात्मा हो सकता है। इसलिए धर्मराज्य स्थापित कर उसकी रक्षा के हेतु धर्मानुमोदित व्यवस्था भी करनी चाहिए। रण में विजय पाना राज्यस्थापन का पहला काम है। उसके शासन के निमित्त विधि की व्यवस्था ही प्रधान कार्य है। श्री कृष्ण ने इसके लिए भीष्म को नियुक्त किया। भीष्म को नियुक्त करने का विशेष कारण था। आदर्श नीतिज्ञ ही उसे समझ सकते हैं। कृष्ण स्वयं वह सब कारण भीष्म को बतलाते हैं : "आप वयोवृद्ध हैं और शास्त्रज्ञान तथा सदाचार से संपन्न हैं। राजधर्म तथा अपरापर धर्म आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। जन्म से लेकर आज तक आपका कुछ भी दोष मालूम नहीं हुआ। राजा-लोग आपको सब धर्मों का जानने वाला मानते हैं। इसलिए पिता की तरह आप ही इन भूपालों को नीति का उपदेश दीजिए। आपने ऋषियों और देवताओं की उपासना की है। इस घड़ी यह भूपतिगण आपसे धर्म-वृत्तांत सुनने को उत्सुक हैं। इसलिए आपको विशेष रूप से सब धर्मों का वर्णन करना होगा। पण्डितों की राय से धर्मोपदेश देना विद्वानों का ही काम है।"

पीछे अनुशासनपर्व है। इसमें भी हितोपदेश है। युधिष्ठिर श्रोता और भीष्म

वक्ता हैं। व्यर्थ की बकवाद से यह पर्व भरा है। यह सारे का सारा तीसरी तह जान पड़ता है। इसमें मेरे काम की एक भी बात नहीं है।

निदान भीष्म ने स्वर्गारोहण किया। बस इतनी पहली तह है।

XI : कामगीता

भीष्म के स्वर्गारोहण करने पर युधिष्ठिर फिर आँखों से गंगा-यमुना बहाने लगा। बोला, मैं तो वन जाऊँगा। लोगों ने बहुत समझाया। पर श्री कृष्ण ने अबके कुछ और ही ढंग निकाला। उन्होंने रोग पहचान कर चिकित्सा की। इस तरह रोग पहचान लेना औरों के सामर्थ्य के बाहर था। युधिष्ठिर का रोग था अहंकार। अंग्रेजी स्कूलों में सिखाया गया प्राइड अहंकार का प्रति शब्द है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। अहंकार और प्राइड में बड़ा भेद है। "मैं यह करता हूँ, यह मेरा है, यह मेरा सुख है, यह मेरा दुःख है", इत्यादि ज्ञान ही अहंकार है। यह अहंकार ही युधिष्ठिर के दुःख का कारण था। मैंने यह पाप किया है, मेरा यह शोक है, मेरे लिए ही यह सब कुछ हुआ, इसलिए मैं वन जाऊँगा, इत्यादि भाव ही युधिष्ठिर का अभिमान है और यह अभिमान ही उसके विलाप की जड़ है। इस जड़ को काट कर युधिष्ठिर को ठीक राह पर लाना ही श्री कृष्ण का उद्देश्य था। वह बड़े कठोर शब्दों में युधिष्ठिर से बोले : "आपके शत्रु अब भी बाकी हैं। आपके शरीर के भीतर अहंकाररूपी बड़ा भारी शत्रु घुस बैठा है, क्या आप उसे नहीं देखते हैं?" इसके पीछे तत्वज्ञान से अहंकार दूर करने के लिए श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को एक रूपक सुनाया। फिर बड़ा उत्तम ज्ञानोपदेश दिया। जो निष्काम धर्म गीता में हम देखते हैं, वही यहाँ भी है। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण धर्मोपदेशों में ही कृष्ण चरित्र भली भाँति विकसित होता है अच्छा, वह धर्मोपदेश पूरा-पूरा नीचे दिए देता हूँ : हे, धर्मराज, व्याधि दो प्रकार की हैं, शारीरिक और मानसिक। ये दोनों आपस में एक दूसरे की सहायता से उत्पन्न होती हैं। शरीर में जो व्याधि होती हैं वे शारीरिक और जो मन में होती हैं वे मानसिक व्याधि कहलाती हैं। कफ, पित्त और वायु यही तीन शरीर के गुण हैं। जब ये तीनों समान रूप से रहते हैं तब शरीर सुस्वस्थ यानी चंगा कहलाता है और जब इनमें विषमता हो जाती है तब वह असुस्वस्थ यानी रोगी हो जाता है पित्तकी अधिकता होने से कफ का ह्रास होता है और कफ के आधिक्य से पित्त का।

शरीर की भाँति आत्मा के भी तीन गुण हैं। इनके नाम सत्त्व, रज और तम हैं। इन तीनों का स्वभाव आत्मा का स्वास्थ्य है। इनमें एक के आधिक्य से दूसरे का हास हो जाता है। हर्ष होने से शोक और शोक होने से हर्ष भाग जाता है। क्या कोई सुख के समय दुःख और दुःख के समय सुख अनुभव करता है? जो हो, अभी सुख दुःख दोनों का स्मरण करना आपका कर्त्तव्य नहीं है। सुख दुःख से परे पारब्रह्म का स्मरण करना ही आपको विधेय है।''' भीष्म द्रोण के साथ आपका जो युद्ध पहले हो चुका है, उससे बढ़कर इस समय अकेले अहंकार के साथ उपस्थित हुआ है। इसका सामना करना आपको अवश्य चाहिए। योग या उसके उपयोगी कार्य करने से ही आप इस युद्ध में विजय प्राप्त कर सकेंगे। इस समर में धनुष बाण, सेवक, बन्धु, बान्धव की कुछ भी आवश्कता नहीं है। केवल मन को सहाय बनाकर लड़ना पड़ेगा। इसमें हार जाने से दुःख की सीमा न रहेगी। इसलिए आप मेरे उपदेश के अनुसार अहंकार को शीघ्र परास्त कर डालिए और शोक परित्याग करके शांत चित्त से पैतृक राज्य प्रतिपालन कीजिए।

हे धर्मराज, केवल राजपाट छोड़ देने से ही सिद्धि-लाभ कदापि संभव नहीं है। इन्द्रियों का दमन कर लेने से ही सिद्धि प्राप्त होगी, इसमें संदेह है। जो राजपाट छोड़कर भी मन ही मन विषय भोग की वासना करता है, उसका धर्म और सुख आपके शत्रुओं को मिले। ममता संसार की प्राप्ति का और निर्ममता ब्रह्म की प्राप्ति का कारण कहा गया है। यह विरुद्ध धर्मवाली मामता और निर्ममता लोगों के चित्त में चुपके-चुपके डेरा डालकर आपस में एक दूसरे को दबोचती हैं। जो ईश्वर को अविनाशी मानकर जगत् को भी अविनाशी मानता है, वह प्राणियों की हत्या करके भी हिंसा का भागी नहीं होता है। जो स्थावर तथा जगम जगत् का अधिकार पाकर भी उसमें लिप्त नहीं होता, वह कभी संसार के जाल में नहीं फंसता। और जो वन में फल मूलादि खाकर भी विषय वासना नहीं छोड़ सकता, वह अवश्य ही संसार के जाल में फंस जाता है। इसलिए इन्द्रियों और विषयों को माया से परे समझना आपका कर्तव्य है। जो इन विषयों पर कुछ भी ममता नहीं करता वह निश्चय ही संसार से छुटकारा पाता है। काम के वश मूढ़ व्यक्ति कदापि प्रशंसा का पात्र नहीं हो सकता। कामना मन से उत्पन्न होती है। वही सारी वृत्ति का मूल कारण है। जो महात्मा अनेक जन्मों के अभ्यासवश कामनाओं को अधर्म रूप समझकर दान, वेदाध्ययन, तपस्या, व्रत, यज्ञ, विविध नियम, ध्यान और योग फल की इच्छा नहीं करते हैं वह किसी समय भी कामनाओं को जीत

सकते हैं। वासना का नाश ही यथार्थ धर्म और मोक्ष का बीजस्वरूप है, इसमें संदेह नहीं।

पुरावित्त पण्डित जिस कामगीता का कीर्त्तन करते रहते हैं, वही अब मैं तुम्हें सुनाता हूँ, ध्यान से सुनो। कामना स्वयं कहती है कि निर्ममता और योगाभ्यास के बिना मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता है। जो जपादि से मुझे जीतना चाहता है, उसके मन में मैं अहंकार रूप से प्रगट होकर उसका जपतप बिगाड़ देती हूं। जो यज्ञादि से मुझे जीतना चाहता है, उसके मन में मैं जंगल के जीवात्मा के समान व्यक्त रूप से प्रगट होती हूं। जो वेदांत की आलोचना से मुझे दमन करना चाहता है उसके मन में स्थावर के जीवात्मा की तरह अव्यक्त रूप से रहती हूँ। जो धैर्य से मुझे जय करना चाहता है मैं कदापि उसके मन से दूर नहीं होती हूँ। जो तपस्या करके मुझे दबाना चाहता है, मैं उसकी तपस्या में ही प्रगट होती हूँ। और जो मोक्षार्थी हो मुझे जीतना चाहता है, मैं उसे देखकर नाचती और हँसती हूँ। पण्डितों ने मुझे अवध्य और सनातन ठहराया है।

हे धर्मराज, मैंने तुम्हें सारी कामगीता सुना दी है। कामना को पराजय करना नितांत दुःसाध्य है। आप विधिपूर्वक अश्वमेध तथा अन्यान्य बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करके कामना को धर्म के विषयों में लगाइए। बन्धु-बांधवों के लिए बार-बार शोक करना बहुत अनुचित है। आप अनुताप कर के उन्हें कभी न देख सकेंगे। इसलिए अभी बड़ी धूमधाम के साथ बड़े-बड़े यज्ञ कीजिए। इससे इस लोक में अतुल कीर्त्ति और परलोक में उत्तम गति आप पा सकेंगे।

XII : कृष्ण-प्रयाण

धर्मराज्य स्थापित हुआ और धर्म का प्रचार हुआ। श्री कृष्ण के कारण ही पाण्डवों के नाम इस पुस्तक में आए। महाभारत में जिस हेतु श्री कृष्ण को देखते थे, वह पूरा हो गया। अब श्री कृष्ण को महाभारत से अंतर्धान हो जाना उचित था। पर लिखासे लोगों के मारे उनका पीछा नहीं छूटता है। अब के इन लिखासों ने अर्जुन के मुँह से एक बड़ी विचित्र और अप्रासंगिक बात कहलायी है। अर्जुन ने कहा कि युद्ध के समय तुमने जो धर्मोपदेश दिया था, वह मैं सब भूल गया। फिर दो। कृष्ण बोले, खूब कही, वह सब बातें मुछे याद नहीं हैं। उस समय तो योग-बल से वे बातें बतायी थीं। तुम भी बड़े मूर्ख हो। तुममें श्रद्धा नहीं है। जाओ, तुमसे और कुछ कहने को जी नहीं चाहता है। खैर, आओ एक पुराना

इतिहास सुनाता हूँ।

कृष्ण ने इस इतिहास के सहारे अर्जुन को फिर कुछ तत्वज्ञान सुनाया। पहले जो सुनाया था उसका नाम गीता प्रसिद्ध है। अब जो सुनाया उसका नाम ग्रन्थकार ने 'अनुगीता' रखा है। इसके एक भाग का नाम 'ब्राह्मणगीता है'।

भगवद्गीता, प्रजागर, सनत्सु जातीय, मार्कण्डेय समस्या, अनुगीता आदि वहुत से धर्मसंबंधी ग्रंथ महाभारत में ऊपर से मिलाए गए हैं और अव वे सवके सब महाभारत का अंश समझे जाते हैं। इनमें सवसे श्रेष्ठ गीता है, पर औरों में भी काम की वहुत सी बातें मिलती हैं। अनुगीता भी उत्तम ग्रंथ है। मोक्षमूलकर भट्ट ने अपनी 'सैकरेड बुक्स आफ दी ईस्ट' (पूर्व की पवित्र पुस्तकें) नामक पुस्तकावली में[54] इसे स्थान दिया है। श्रीयुत काशीनाथ तैलंगने जो बम्बई हाईकोर्ट के जज थे, इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है। यह अनुगीता ग्रंथ चाहे जैसा हो, इससे मुझे कुछ मतलब नहीं। पर यह कृष्णोक्त नहीं है। रचयिता या और किसी ने जिस ढंग से इसे कृष्ण के मुख से कहलाया है, उसी से प्रतीत होता है कि यह कृष्णोक्त नहीं है। पेवन्द साफ मालूम होता है। वह बहुत छिपाने से भी नहीं छिपता है। गीतोक्त धर्म का अनुगीता के धर्म से ऐसा कुछ मेल नहीं है, जिससे इसे गीता कहने वाले की उक्ति समझी जाय। श्रीयुत काशीनाथ त्राम्बक ने अपने अनुवाद की लंबी चौड़ी भूमिका लिखी है। उसमें उन्होंने संतोषजनक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि गीता वनने के कई शताव्दी पीछे यह अनुगीता रची गई है। उन प्रमाणों की आलोचना करना कुछ दरकार नहीं। कृष्ण चरित्र का अनुगीता से कुछ लेने देना नहीं है। हाँ, अनुगीता और ब्राह्मणगीता या ब्रह्मगीता वास्तव में क्षेपक हैं, इसका प्रमाण बस यही है कि पर्व-संग्रहाध्याय में इनके नाम तक नहीं हैं।

अर्जुन को उपदेश दे चुकने पर श्री कृष्ण अर्जुन और युधिष्ठिरादि से विदा होकर द्वारका चले। इस विदा के समय मानव-प्राकृति के अनुरूप स्नेह प्रगट हुआ है। कृष्ण की मानविकता के अनेक उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। अतएव उनका विस्तृत वर्णन यहाँ तहाँ है।

पथ में उतंक मुनि से श्री कृष्ण का साक्षात् हुआ, लिखा है। कृष्ण ने युद्ध रोका नहीं। इसलिए मुनिजी उन्हें शाप देने लगे। कृष्ण बोले, शाप न देना, देने से तुम्हारा तप क्षय होगा, मैंने संधि के लिए चेष्टा की थी, और मैं जगदीश्वर हूँ। इस पर उतंक ने प्रणाम करके उनकी स्तुति की और विराट रूप देखने की

इच्छा प्रगट की। कृष्ण ने भी उनकी इच्छा पूरी की। फिर जबरदस्ती उतंक को मनमाना वरदान दिया। पीछे चाण्डाल आया, कुत्ता आया, चाण्डाल ने उतंक से कुत्ते का मूत पीने को कहा, इत्यादि, इत्यादि बहुत सी गंदी बातें हैं। उतंक समागम की कथा महाभारत के पर्वसंग्रहाध्याय में नहीं है। अतएव यह क्षेपक है। क्षेपक के बारे में कुछ लिखना व्यर्थ है। यहाँ तीसरी तह साफ दिखाई देती है।

द्वारका पहुँचकर श्री कृष्ण बंधु-बांधवों से मिले। वसुदेव ने युद्ध का वृत्तांत सुनना चाहा। कृष्ण ने कह सुनाया। यह वृत्तांत संक्षिप्त है। इसमें न अत्युक्ति है और न किसी प्रकार की अनैसर्गिक घटनाएं ही हैं। मोटी-मोटी सब बातें इसमें आ गई हैं। केवल अभिमन्यु वध की बात उन्होंने नहीं कही। सुभद्रा उनके साथ द्वारका आयी थी। उसने अभिमन्यु वध की चर्चा चलायी तो उन्होंने पूरा-पूरा हाल कह सुनाया।

इधर युधिष्ठर ने श्री कृष्ण से चलने के समय अनुरोध किया था कि अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर फिर आना। इसी से यज्ञ के समय श्री कृष्ण यादवों सहित फिर हस्तिनापुर गए। कृष्ण के वहाँ पहुँचने पर अभिमन्यु की भार्या उत्तरा ने मरा हुआ बच्चा जना। कृष्ण ने उसे जिला दिया। पर इससे यह सिद्धांत नहीं निलकता कि कृष्ण ने किसी शक्ति से उस मरे बच्चे को जिलाया था। क्योंकि आजकल के बहुत से डाक्टर भी मरे हुए बच्चे को धरती पर गिरते ही जिला सकते हैं और जिलाते हैं, यह हम लोगों में से बहुतों को मालूम है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि उस समय और लोग जो काम नहीं जानते थे, वह श्री कृष्ण जानते थे, वह आदर्श मनुष्य थे, इससे उन्होंने सब विद्याएँ और कलाएँ सीखी थीं।

पीछे यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। कृष्ण फिर द्वारका पधारे। पाण्डवों से फिर उनका साक्षात् नहीं हुआ।

संदर्भ

1. उसका नाम 'धर्मतत्त्व' है।
2. गीता की बंगला टीका।
3. बंगला महाभारत के रचयिता। भाषांतरकार।
4. ऐसे भी पाठक होंगे जिनसे कहना पड़ेगा कि अभिमन्यु अर्जुन का पुत्र और कृष्ण का भानजा था।
5. विष्णुपुराण, 1 अंश, 11 अध्याय।

6. बंगाल का मृदंग विशेष। भा. का.
7. घटोत्कचवध पर्वाध्याय का 18वाँ अध्याय देखो।
8. धृतराष्ट्र वाक्य देखो।
9. "अश्वत्थमा हत इति गजः" यह वाक्य महाभारत का नहीं है। जान पड़ता है, किसी कथक्कड़ ने बनाया है। मूल महाभारत में यह नहीं है। महाभारत में है :
   तमतथ्यभये मग्नो जये सक्तो युधिष्ठिरः।
   अव्यक्तमब्रवीद्वाक्यं हतः कुंजर इत्युत।।
10. प्रथम अध्याय देखिए।
11. अर्जुन और कृष्ण ने जबरदस्ती रथ पर से भीम को खींच लिया था और उनके हथियार छीन लिए थे।
12. भीम में रथों को पटक-पटक कर तोड़ डालने की आदत थी। रथ अगर इक्के की तरह होते हों, तो आज कल के लोग भी तोड़ सकते हैं।
13. प्रथम अध्याय देखो।
14. पाठकों से शायद कहना नहीं पड़ेगा कि गाण्डीव अर्जुन के धनुष का नाम है। यह देवता का दिया हुआ, अविनश्वर और धनुषों में भयंकर था।
15. ईसाई धर्म का प्रचार पहले पहल रोमन जाति के लोगों में ही हुआ था। उन्होंने फिर इसे यूरोप में फैलाया। इस कारण आरम्भ से ही रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की प्रधानता थी।
16. यह एक ईसाई संत का नाम है जिसे लोगों ने आरमेनिया के आलवानो पोलिस में खाल खेंचकर मार डाला था। कहते हैं, यह भारतवर्ष भी आया था और मैथ्यू की इंजील यहाँ छोड़ गया था। भाषांतरकार।
17. यूरोप के सब राष्ट्रों और मुसलमानों में जेरूसेलम के लिए जो युद्ध हुआ था उसे "क्रूसेड का युद्ध" कहते हैं। ईसाइयों को ओर से इसमें जो लड़े थे वे 'क्रूसेडर' कहलाते हैं। जरूसेलम ईसा मसीइ की जन्मभूमि है।
18. श्री कृष्ण के जिस वचन के सहारे यह सिद्धांत निकलता है वह यों है :
   प्राणिनामवधस्तात सर्व्वज्यायान्मतो मम।
   अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथचंन।।
   अहिंसा परम धर्म है, यह कृष्ण के वाक्य का ठीक उल्था नहीं है। इसका ठीक उल्था है, "मेरे मत से जीवों की हिंसा न करना सबसे श्रेष्ठ है।" पर अर्थ में विशेष भेद न देखकर मैंने "अहिंसा परम धर्म" इस प्रचलित वाक्य से ही काम लिया है।
19. 'न सत्याद्विद्यते परम्'। इसके पहले कृष्णा ने कहा है 'प्राणीनाम-वधस्तात सर्व्वज्यायान्मतो मम।' यह दोनों वाक्य एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इसका कारण है। एक तो कृष्ण का मत है और दूसरा भीष्मादि की कही प्रचलित धर्मनीति है।
20. यथा 'स्त्रीषु', 'विवाह काले,' 'प्राणात्यये' और 'सर्व धना पहारे।' भाषांतरकार।

21. इंगलैण्ड के दार्शनिक। भाषांतरकार।
22. प्रथम अध्याय नवम् सूत्र।
23. बंगाल के प्रसिद्ध स्मृतिकार। भाषांतरकार।
24. बेन्थम की बात इंगलेण्ड वालों ने मान ली। क्या भारतवासी श्री कृष्ण की बात न मानेंगे?
25. ऐसा सोचने का कोई कारण महाभारत में कहीं नहीं है। किसी तह में नहीं है।
26. श्री कृष्ण का इससे कुछ भी संवंध नहीं हैं महाभारत में भी ऐसा कहीं नहीं लिखा है।
27. वह तो शत्रु का वध करता था फिर श्री कृष्ण क्यों बोलते?
28. श्री कृष्ण ने इसके लिए कुछ भी चालाकी नहीं की। महाभारत में तो लिखा है कि कौरवों के कहने से कर्ण ने घटोत्कच पर शक्ति चलायी थी।
29. यह सरासर झूठ है। ऐसी कथा महाभारत में कहीं नहीं है। सात्याकी ने भूरिश्रवा को जरूर मारा है पर श्री कृष्ण के कहने से नहीं। उन्होंने तो मने किया था।
30. यह उस्तादी अपने पैरों के जोर से पहिए को जमीन में धंसाना है। कृष्ण का यह काम बहुत उचित था। रथी की रक्षा करना सारथी का धर्म है।
31. क्या चालाकी हुई? महाभारत में तो कृष्ण की कोई चालाकी नहीं है। उसमें तो वस इतना ही है कि युद्ध में अर्जुन ने कर्ण को मारा।
32. यथा, "भीष्मादि महारथी और राजा दुर्योधन समर विद्या में असाधारण पण्डित थे। तुम लोग धर्मयुद्ध में उन्हे कभी जीत न सकते। मैंने तुम्हारी भलाई के लिए वड़े-वड़े उपायों और माया के प्रभाव से उन्हें मार गिराया है। यदि मैं ऐसी चालें न चलता, तो तुम्हारी जीत कभी न होती और न तुम्हें राजपाट और धन संपत्ति ही मिलती। देखो, भीष्मादि चारों महात्मा भूमण्डल में अतिरथी समझे जाते हैं। लोकपाल सब इकट्ठे होकर भी उन्हें धर्म-युद्ध में नहीं मार सकते थे। और देखो, समरभूमि में न थकने वाले उस गदाधारी दुर्योधन को दण्डधारी यमराज भी धर्म युद्ध में नहीं मार सकता था, भीम ने उसे जिस बेईमानी से मार गिराया है, उसका अव जिक्र करना वेफायदा है। लोग कहते हैं कि शत्रु जब बहुत बढ़ जाय तब कूट युद्ध से उनका विनाश करना चाहिए। महात्मा देवताओं ने कूटयुद्ध करके ही असुरों का संहार किया था। उनका अनुकरण सब को ही करना चाहिए"। ऐसा निर्लज्ज अधर्म कहीं सुनने में नहीं आता है।
33. इसमें अग्नि की निंदा अवश्य है, पर तनिक उलट फेर करने से स्तुति हो जाती है, यथा "हे अग्नि, तू शम्भु के तो ललाट में रहती है दूसरों को जलाती है। तेरी शिखा में ज्वाला हो।"
34. Sacred Books of the East.

अध्याय 7

प्रभास

I : यदुवंश में फूट

इसके पीछे आश्रमवासिकपर्व है। इससे कृष्ण का कुछ संबंध नहीं है। इसके बाद मौसलपर्व है। यह बड़ा भयानक है। इसमें यादवों का विनाश और कृष्ण-बलराम का देहत्याग वर्णित है। यादव आपस में लड़कर मर मिटे। लिखा है कि श्री कृष्ण ने इस महा भयानक दुर्घटना के रोकने का कुछ भी उपाय नहीं किया—वल्कि बहुतेरे यादवों पर उन्होंने स्वयं हाथ साफ किया।

इसका वर्णन यों है। गान्धारी के कहे तिरेसठ वर्ष पूरे हो गए। यादव बड़े उद्दण्ड हो उठे थे। एक बार विश्वामित्र, कण्व और नारद यह तीनों प्रसिद्ध ऋषि द्वारका पहुँचे। उद्दण्ड यादवों ने कृष्ण के पुत्र शाम्ब को स्त्री बना कर ऋषियों के पास ले जाकर कहा कि महाराजजी, इसके पैर भारी हैं, कहिए इसके बेटा होगा या बेटी? पुराणों में लिखा है कि ऋषि बड़े क्रोधी होते हैं। बात-बात पर शाप देने के लिए मुँह बाए बैठे रहते हैं। यदि यह सत्य है, तो ऋषियों को जितेन्द्रिय ईश्वरपरायण न कह कर निष्ठुर नर-पिशाच कहना चाहिए। आजकल किसी भले आदमी से ऐसा सवाल किया जाय, तो वह हँसकर रह जाएगा या बहुत करेगा तो जरा एंड़ी-बेंड़ी सुना देगा। पर हमारे इन जितेन्द्रिय महर्षियों में इतनी सहनशीलता कहाँ? वह चट जामे से बाहर हो कर शाप दे बैठे। बोले, न बेटा होगा न बेटी, लोहे का मूसल होगा, जिससे कृष्ण-बलराम को छोड़कर सब यदुवंशियों का नाश होगा। कृष्ण तक यह खबर पहुँची, तो वह बोले, ऋषियों ने जो कहा वह अवश्य होगा। उन्होंने शाप निवारण का कुछ उपाय न किया।

शाम्ब पुरुष हो चाहे स्त्री, पर उसने ऋषियों के वचनानुसार लोहे का मूसल जन दिया। यादवों के राजा ने (श्री कृष्ण राजा न थे, राजा थे उग्रसेन) उस मूसल को चूर्ण कर डालने की आज्ञा दी। वह चूर्ण कर के समुद्र में फेंक दिया गया। उधर यादव उद्दण्ड होकर धर्म-कर्म छोड़ बैठे। कृष्ण ने उनके विनाश करने की वासना से प्रभास-तीर्थ चलने के लिए उनसे कहा।

यदुवंशी लोग प्रभास पहुँचे और मदिरा पीकर रंगरेलियाँ करने लगे। पीछे

सबके सब लड़ मरे। कुरुक्षेत्र के महारथी सात्यकी ने कृतवर्मा से छेड़छाड़ की। प्रद्युम्न ने सात्यकी का साथ दिया। सात्यकी ने कृतवर्मा का सिर काट लिया। इस पर कृतवर्मा के भाई-बेटों ने' बिगड़कर सात्यकी और प्रद्युम्न को मार डाला। कृष्ण ने क्रुद्ध हो एक मुट्ठी सरपत उखाड़ लिया और उसी से बहुत से यादवों का काम तमाम कर दिया। अन्य ग्रंथों मे लिखा है कि यह सरपत मूसल के उसी चूर्ण से पैदा हुआ था, जो समुद्र में फेंका गया था। महाभारत में यह कथा नहीं मिली, पर लिखा है कि श्री कृष्ण ने जब सरपत उखाड़ा, तो वह मूसल बन गया। और यह भी कहा जाता है कि वहाँ के सब सरपत ही ब्राह्मण के शाप से मूसल बन गए। यादवों ने सरपत उखाड़-उखाड़कर एक दूसरे को मारना शुरू किया। बस समस्त यादव आपस में लड़कर मर मिटे। सबके मारे जाने पर कृष्ण का सारथी दारुक और बभ्रु (यादव) श्री कृष्ण से बोले : "जनार्दन, आपने अभी असंख्य प्राणियों का संहार किया, अब चलिए हम लोग महात्मा बलभद्र के निकट चलें।"

कृष्ण ने दारुक को अर्जुन के पास हस्तिनापुर भेजा। और कहला भेजा कि अर्जुन आकर यादवों की स्त्रियों को हस्तिनापुर ले जाए। कृष्ण ने आकर देखा कि बलराम योगासन पर बैठे हैं। उनके मुँह से सहस्त्रफनों का एक सर्प निकलकर समुद्र में घुस गया और सागर, नदी, वरुण और वासुकी आदि अन्य सर्प गण उसकी स्तुति करने लगे। बलराम का शरीर प्राण-शून्य हो गया। उस समय श्री कृष्ण मृत्युलोक त्याग करने की इच्छा से महायोग अवलंबन कर धरती पर लेट गए। जरा नाम के व्याधने मृग के भ्रम से उनके पाद-पद्म में बाण मारा। पीछे अपनी भूल समझकर भयभीत हो श्री कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ा। कृष्ण ने उसे आश्वासन देकर आकाशमण्डल प्रकाशित करके स्वर्ग गमन किया।

अर्जुन ने द्वारका आकार बलरामकृष्णादि का क्रिया-कर्म किया और फिर यदुवंश की कुल-कामिनियों को लेकर वह हस्तिनापुर चला गया। पथ में लठबंद डाकू उस पर टूट पड़े। जिस अर्जुन ने पृथ्वी जय की थी, भीष्म और कर्ण को लड़ाई में मारा था वह बेचारा लठधर किसानों का कुछ न कर सका। गाण्डीव धनुष यों ही पड़ा रह गया और डाकू रुक्मिणी, सत्यभामा, हैमवती, जाम्ब्वती आदि कृष्ण की पटरानियों को छोड़कर बाकी सबको उठा ले गए।

यह सब कथाएँ क्या मौलिक हैं? मूसल और सरपत की कथा अस्वाभाविक समझकर नियमानुसार छोड़ देने के लिए मैं बाध्य हूँ। पर इसे छोड़ देने पर भी, जो सच्ची मोटी बातें बच रहती हैं, वह सहज ही छोड़ देने लायक नहीं हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि यादव मद्यप और उद्दण्ड हो गए थे। वे सब एक

वंश के नहीं थे। कई वंशों के थे और आपस में उनका हेल-मेल नहीं था। कुरुक्षेत्र की लड़ाई में वार्ष्णेय, सात्यकी और कृष्ण पाण्डवों की तरफ थे, पर अंधक, भोजवंशी, कृतवर्मा, दुर्योधन की तरफ थे। फिर यादवों का कोई राजा न था। उग्रसेन नाममात्र का राजा था। कृष्ण अपने गुणों के कारण उनके नेता थे, पर देखने में आता है कि उनकी राय अपने बड़े भाई बलराम से नहीं मिलती थी। शांतिपर्व में कृष्ण और नारद का संवाद भीष्म सुनाते हैं। उसमें कृष्ण दुःखी होकर नारद से कहते हैं कि मैं यदुवंशियों को प्रसन्न रखने के लिए बहुत प्रयत्न करता हूँ, पर कुछ फल नहीं होता है। यह सब बातें पहले कही जा चुकी हैं। इसलिए यादव जब एक दूसरे से ईर्षाद्वेष करने लगे, अपने-अपने घर के सब ही मुखिया बन बैठे, उद्दण्ड और अभिमानी हो गए और शराब पीने लगे,[2] तब उनका परस्पर कलह करके मर मिटना और फिर कृष्ण-बलदेव का भी इच्छा या अनिच्छा से देह त्याग करना असंभव या अस्वाभाविक नहीं है। जान पड़ता है ऐसी कुछ किंवदंती प्रचलित थीं, जिस पर पुराण बनाने वालों ने यदुवंश ध्वंश का यह किस्सा खड़ा किया है। इसलिए इसकी सत्यता की बहुत छान-बीन करने की जरूरत नहीं दीखती है। हाँ, दो-एक बातें कहनी जरूरी हैं। लिखा है कि कृष्ण ने यदुवंश को बचाने के लिए कुछ भी न किया, बल्कि उसके नाश करने में सहायता दी। यदि यह भी सत्य हो, तो कृष्ण चरित्र में कुछ भी दोष या धब्बा नहीं लगता है। वह आदर्श मनुष्य थे, उन्होंने आदर्श मनुष्य के उपयुक्त ही काम किया। आदर्श पुरुष का अपना-पराया कुछ नहीं है। धर्म ही उसका अपना है। यदुवंशी अधर्मी हो गए तो उन्हें दण्ड देना और जरूरत होने पर उनका विनाश कर डालना श्री कृष्ण का कर्त्तव्य था। जिन्होंने जरासन्धादि को अधर्मी होने के कारण ही मारा था वह यादवों को अधर्म करते देखकर भला कैसे चुप रह सकते थे? अगर रह जाते, तो वह धर्म के बंधु नहीं, अपने बंधुबांधवों के बंधु—आत्मबंधु समझे जाते। वह धर्म के पक्षपाती नहीं, अपने पक्षपाती और अपने वंश के पक्षपाती माने जाते। आदर्श धर्मात्मा ऐसे नहीं होते और न कृष्ण ऐसे थे।

कृष्ण के शरीर-त्याग का कारण बहुत कुछ अनिश्चित ही है। पर तो भी इसके चार कारण हो सकते हैं। पहला, टलबीयस ह्वीलटी[3] संप्रदाय वाले कह सकते हैं कि कृष्ण जुलियस सीजर[4] की तरह अपने द्वेषी भाइयों के हाथ से मारे गए। पर ऐसी बात किसी ग्रंथ में नहीं है।

दूसरा, कृष्ण ने योगावलंबन कर शरीर त्याग किया। पाश्चात्य वैज्ञानिकों के चेलों का योग-फोग पर विश्वास नहीं है। पर मैं स्वयं अविश्वास का कोई

कारण नहीं देखता हूँ। जिन्होंने योगाभ्यास के समय साँस रोकने का अभ्यास किया है, वह साँस रोककर अपना शरीर त्याग नहीं सकते यह जोर देकर मैं नहीं कह सकता। ऐसी घटनाएँ विश्वस्त सूत्र से सुनी भी गई हैं। कोई कह सकता है कि यह आत्महत्या है, इसमें पाप है। इसलिए आदर्श मनुष्य के योग्य यह काम नहीं है। मेरी राय ठीक यह नहीं है। बुढ़ापे में जीवन के सब काम पूरे हो जाने पर, ईश्वर में लीन होने के लिए, मन ही मन तन्मय हो श्वासरोध करना, आत्महत्या समझी जाएगी या 'ईश्वरप्राप्ति'? यह विचारने की बात है। मैं मानता हूँ कि आत्महत्या महापाप है, पर क्या जीवन के अंत में योगबल से प्राण-त्याग करना भी पाप है? कदापि नहीं।

तीसरा, जरा व्याध का वाण मारना। चौथा, उस समय कृष्ण की उमर सौ साल से ज्यादा हो चुकी थी, यह विष्णु पुराण में लिखा है। यह जरा व्याध कहीं जरा (बुढ़ापा) व्याधि तो नहीं है?

जो श्री कृष्ण को मनुष्य ही समझते हैं, उनका ईश्वर होना नहीं मानते, वह इन चार मतों में से एक मान सकते हैं? मैं तो श्री कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानता हूँ। इसलिए मैं कहता हूँ कि कृष्ण की इच्छा ही उनके शरीर-त्याग का कारण है। मेरा कहना यह है कि संसार में मनुष्यत्व का आदर्श प्रचार करना उनकी इच्छा थी। वही इच्छा पूर्ण करने के लिए उन्होंने मानुषी शक्ति से सब काम किया। पर तो भी कहना पड़ेगा कि ईश्वरावतार का जन्म-मरण उसके ही इच्छाधीन है। इस हेतु मैं कहता हूँ कि कृष्ण की इच्छा ही कृष्ण के प्राण-त्याग का एक मात्र कारण था।

मौसलपर्व महाभारत की पहली तह के भीतर है या नहीं, इसका विचार मैंने नहीं किया है। इसकी जरूरत क्यों नहीं है, यह भी कह चुका हूँ। स्थूल घटना कुछ सत्य मालूम होती है। पर तो भी यह महाभारत की पहली तह नहीं जान पड़ती है। पुराणों और हरिवंश में कृष्ण के जीवन की जो और-और बातें हैं वह महाभारत में नहीं हैं। केवल एक घटना है जो पुराणों में भी है, हरिवंश में भी है और महाभारत में भी है। पाण्डवों के बारे में श्री कृष्ण ने जो कुछ किया था उसके सिवा और कोई कृष्ण-वृतांत महाभारत में नहीं है और न रहने की संभावना ही है। केवल यही उस नियम के बाहर है। यहाँ श्री कृष्ण अवतार माने गए हैं, यह दूसरी या तीसरी तह के कवि की करतूत है, यह पहले ही कह चुका हूँ। ऐसा सोचने का और भी कारण बताया जा सकता है, पर बताने की कुछ विशेष आवश्यकता नहीं दिखाई देती। हाँ, यह कहना आवश्यक है कि

अनुक्रमणिकाध्याय में मौसलपर्व की कुछ भी चर्चा नहीं है। परीक्षित के जन्म के पीछे को कोई बात उसमें नहीं है। मेरी समझ से परीक्षित का जन्म ही आदि महाभारत का अंत है। उसके बाद की जो कथाएँ हैं, वे सबकी-सब दूसरी या तीसरी तह की हैं।

II : उपसंहार

आवश्यकतानुसार समालोचकों का काम दो प्रकार का है। एक तो पुराने कुसंस्कार का मिटाना और दूसरा सत्य की स्थापना करना। कृष्ण चरित्र में पहला काम ही प्रधान है। इसलिए मेरा विशेष ध्यान उधर ही रहा है। कृष्ण चरित्र में सत्य प्रगट करना बड़ा ही कठिन काम है, क्योंकि मिथ्या और अलौकिक घटनाओं की भस्म में यहाँ सत्य रूपी अग्नि ऐसी छिप गई है कि उसका पता लगाना टेढ़ी खीर है। जिन उपादानों से सच्चा कृष्ण चरित्र प्रगट हो सकता है, वह असत्य के सागर में निमग्न हो गए हैं। पर तो भी, जहाँ तक बना मैंने इसे प्रगट किया है।

उपसंहार में अब यह देखना है कि इतिहास और पुराणों में जितना सत्य मिलता है, उतने से कृष्ण चरित्र कैसा प्रतिपन्न होता है।

बचपन में श्री कृष्ण आदर्श बलवान थे। उस समय उन्होंने केवल शारीरिक बल से ही हिंसक जंतुओं से वृंदावन की रक्षा की थी। और कंस के मल्लादि को भी मार गिराया था। गौ चराने के समय ग्वालों के साथ खेलकूद और कसरत करके उन्होंने अपने शारीरिक बल की वृद्धि कर ली थी। दौड़ने में कालयवन भी उन्हें न पा सका। कुरुक्षेत्र युद्ध में उनके रथ हाँकने की भी बड़ी प्रशंसा है।

शास्त्रास्त्र की शिक्षा मिलने पर वह क्षत्रिय समाज में सर्वश्रेष्ठ वीर समझे जाने लगे। उन्हें कभी कोई परास्त न कर सका। कंस, जरासंध, शिशुपाल प्रभृति तत्कालीन प्रधान योद्धाओं से तथा काशी, कलिंग, पोण्ड्रक, गांधार आदि के राजाओं से वह लड़ गए और सबको उन्होंने परास्त किया। उन्हें कभी कोई जीत न सका। सात्यकी और अभिमन्यु उनके शिष्य थे। वह दोनों भी सहज ही हारने वाले न थे। स्वयं अर्जुन ने भी उनसे युद्ध की बारीकियाँ सीखी थीं।

केवल शारीरिक बल और शिक्षा पर जो रणपटुता निर्भर है, उसकी ही प्रशंसा इतिहास और पुराणों में मिलती है। परन्तु ऐसी रणपटुता एक सामान्य सैनिक की भी हो सकती है। सेनापतित्व ही यौद्धा का वास्तविक गुण है। इस काम में उस समय के लोग पटु नहीं थे। महाभारत या पुराणों में एक भी अच्छे सेनापति

का पता नहीं लगता है। भीष्म या अर्जुन भी अच्छे सेनापति न थे। श्री कृष्ण के सेनापतित्व का कुछ विशेष परिचय जरासंध युद्ध में मिलता है। उन्होंनें अपनी मुट्ठी भर यादव सेना लेकर जरासंध की अगणित सेना को मथुरा से मार भगाया था। अपनी थोड़ी सी सेना से जरासंध का सामना करना असाध्य समझकर मथुरा छोड़ना, नया नगर बसाने के लिए द्वारकाद्वीप का चुनना, और उसके सामने की रैवतक पर्वतमाला में दुर्भेद्य दुर्ग निर्माण करना जिस रणनीतिज्ञता का परिचायक है, वह पुराणेतिहास के और किसी क्षत्रिय में नहीं देखी जाती है। पुराणकार ऋषियों की बुद्धि वहाँ तक न पहुँची। इसलिए इस बात का यह भी एक प्रमाण है कि कृष्ण की कथा केवल उनकी कल्पना से नहीं निकली है। श्री कृष्ण की ज्ञानार्जुनी वृत्तियाँ तब भी विकास की पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। इसका भी यथेष्ट प्रमाण मिल गया है। वह अद्वितीय वेदज्ञ थे, क्योंकि भीष्म ने उन्हें अर्घ प्रदान करने का एक कारण यह भी बताया था। शिशुपालने, इसका कुछ उत्तर नहीं दिया– बस इतना ही कहा था कि वेदव्यास के रहते कृष्ण की पूजा क्यों?

श्री कृष्ण की ज्ञानार्जनी वृत्तियाँ विकास की पराकाष्ठा को पहुँच गई थीं, इसका तीव्रोज्जवल प्रमाण उनका प्रचारित धर्म ही है। यह धर्म केवल गीता में ही नहीं, महाभारत में भी यत्र-तत्र है। ग्रंथांतर में मैंने कहा है कि कृष्णा कथित धर्म की अपेक्षा उन्नत, सर्व लोहितकारी, सब लोगों के आचरण योग्य धर्म और कभी पृथ्वी पर प्रचारित नहीं हुआ। इस धर्म में जिस ज्ञान का परिचय मिलता है, वह प्रायः मनुष्य बुद्धि के परे है। श्री कृष्ण ने मानुषी शक्ति से सब काम सिद्ध किए हैं, यह मैं बारंबार कह चुका हूँ, और प्रमाणित भी कर चुका हूँ। केवल गीता में ही श्री कृष्ण ने अनंत ज्ञान का आश्रय किया है।

सार्वजनीन धर्म के सिवा राजधर्म या राजनीति में भी देखा जाता है कि श्री कृष्ण की ज्ञानार्जनी वृत्तियाँ विकास की चरम सीमा तक पहुँच गई थीं। श्री कृष्ण सबसे श्रेष्ठ और माननीय राजनीतिज्ञ थे। इसी से युधिष्ठिर ने वेदव्यास के कहने पर भी श्री कृष्ण के परामर्श बिना राजसूय यज्ञ में हाथ नहीं लगाया। स्वेच्छाचारी यादव और कृष्ण की आज्ञा में चलने वाले पाण्डव दोनों ही उनसे पूछे बिना कुछ नहीं करते थे। जरासंध को मारकर उसकी कैद से राजाओं को छुड़ाना उन्नत राजनीति का अति सुंदर उदाहरण है। यह साम्राज्य संस्थापन का बड़ा सहज और परमोचित उपाय है। धर्मराज्य स्थापन के पश्चात् उसके शासन के हेतु भीष्म से राज्यव्यवस्था ठीक कराना राजनीतिज्ञता का दूसरा बड़ा प्रशंनीय उदाहरण हैं। और भी बहुत से उदाहरण पाठकों को मिल चुके हैं।

श्री कृष्ण की बुद्धि का विकास चरम सीमा तक हुआ था। इसी से वह सर्वव्यापी, सर्वदर्शी और सब उपायों की उद्‌भावना करने वाली थी, यह हम बराबर देखते आते हैं। मनुष्य शरीर धारण करके जितनी सर्वज्ञता हो सकती है, उतनी श्री कृष्ण में थी। जिस अपूर्व अध्यात्मतत्व, सौर धर्मतत्व के आगे अब तक मनुष्य की बुद्धि नहीं जा सकती है उनसे लेकर चिकित्सा, संगीत, और अश्वपरिचर्या तक, वह भली भाँति जानते थे। उत्तरा के मृत पुत्र को जिलाना उनकी चिकित्सा का, वंशी-वादन संगीत का और जयद्रथ वध के दिन घोड़ों की चिकित्सा उनकी अश्वपरिचर्या के उदाहरण हैं।

कृष्ण की सब ही कार्यकारिणी वृत्तियां चरम सीमा तक विकसित हुई थीं। उनके साहस, उनकी फुर्त्ती, और सब कामों में उनकी तत्परता का परिचय बहुत दे चुका हूँ। उनका धर्म तथा सत्य अचल था, इसके प्रमाण इस पुस्तक में अनेकों हैं। ठौर-ठौर उनकी दयालुता और प्रीति का इसमें वर्णन है। वलाभिमानियों की अपेक्षा बलवान् होना भी लोकहित करना है। वह शांति के लिए दृढ़ता के साथ बराबर प्रयत्न करते थे। और इसके लिये वह दृढ़प्रतिज्ञ थे। वह सबके हितैषी थे, केवल मनुष्यों पर ही नहीं, गोवात्सादि जीव जन्तुओं पर भी वह दया करते थे। इसका पता गोवर्द्धन-पूजा से लगता है। भागवत में लिखा है कि वह बन्दरों के लिए मक्खन चोरी करते और फल बेचने वालों के फल छीनते थे। यह कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता। पर जिन्होंने गो-बछड़ों के अच्छे चारे के लिए इन्द्रयज्ञ बंद करा दिया, उनका बंदरों के लिए मक्खन चुराना भी स्वाभाविक ही है। वह अपने भाई-बंद, कुटुम-कबीला के कितने हितैषी थे यह दिखा चुका हूँ। पर साथ ही यह भी दिखा दिया है कि उनके पापीचारी हो जाने पर उनके पूरे शत्रु बन जाते थे। उनका असीम क्षमागुण देखा है और यह भी देखा है कि समय पर वह पाषाण हृदय होकर दण्ड देते थे। वह स्वजनप्रिय थे पर लोकहित के लिए स्वजनों का विनाश करने में भी कुण्ठित नहीं होते थे। कंस उनका मामा था। उनके जैसे पाण्डव थे वैसे शिशुपाल भी था। दोनों ही उनकी फूफी के बेटे थे। उन्होंने मामा और भाई का मुलाहजा न करके दोनों को ही दण्ड दिया। फिर यादव लोग सुरापायी हो उद्दण्ड हो गए, तो उन्होंने उन्हें भी अछूता न छोड़ा।

कृष्ण की यह सब वृत्तियाँ चरम सीमा तक विकसित हो गई थीं। इसलिए उन्होंने मनोरजिंनी वृत्तियों को भी नहीं छोड़ा। उन्होंने उसका भी अनुशीलन किया था, क्योंकि वह आदर्श मनुष्य थे। बचपन में ब्रज की लीलाएँ जिस

लिए हुई थी, उसी लिए समुद्र विहार, यमुना-विहार, और रैवतक विहार की व्यवस्था स्याने होने पर की गई थी। इसका विस्तृत वर्णन व्यर्थ है। बस, अब एक ही बात कहने को बाकी है। धर्मतत्व में मैंने कहा है कि भक्ति ही मनुष्य की प्रधान वृत्ति है। श्री कृष्ण आदर्श मनुष्य थे, मनुष्यत्व का आदर्श प्रचार करने के लिए उनका अवतार हुआ था। पर उनकी भक्ति तो कहीं देखने में न आई। यदि वह ईश्वरावतार हों तो उनकी भक्ति का पात्र कौन हो सकता था? वह अपनी भक्ति के पात्र आप ही हैं[5]। अपने को परमात्मा से अभिन्न कर लेने से ही अपनी भक्ति अपने ऊपर होती है। यह ज्ञानमार्ग की पराकाष्ठा है। इसी का नाम आत्मरति है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है : एष एवं पश्चन्नेवं मन्वान एवं विजान न्नात्मरति रात्म क्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवतीति। अर्थात् यह देखकर, यह सोचकर, यह जानकर, जो आत्मा में रत होता है, आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, आत्मा में ही रहता है और आत्मा में ही आनंद करता है, वही स्वराज्य है। गीता में इसकी व्याख्या है। श्री कृष्ण आत्मा-राम थे। आत्मा जगन्मय है। उसी जगत् पर उनका प्रेम था। परमात्मा की आत्मरति और किसी तरह समझ में नहीं आती। कम से कम मैं तो नहीं समझा सकता।

अंत में कहना यही है कि सर्वदा और सर्वत्र सर्व गुणों के प्रकाश से श्री कृष्ण तेजस्वी थे। वह अपराजेय, अपराजित, विशुद्ध, पुण्यमय, प्रेममय, दयामय, दृढ़कर्मी, धर्मात्मा, वेदज्ञ, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, लोकहितैषी, न्यायशील, क्षमाशील, निरपेक्ष, शास्त्रा, निर्दय, निरहंकारी, योगी, और तपस्वी थे। वह मानुषी शक्ति से कार्य करते थे, परंतु उनका चरित्र अमानुषिक था। अब पाठक ही अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इसका निर्णय कर लें कि जिसकी शक्ति मानुषी पर चरित्र मनुष्यातीत था, वह पुरुष मनुष्य था या ईश्वर। जो श्री कृष्ण को निरा मनुष्य ही समझें, वह उन्हें कम से कम वही मानें, जो राइसडेविड्स ने गौमतबुद्ध को माना है। राइसडेविड्स ने गौतमबुद्ध को 'The wisest and greatest of the Hindus'[6] लिखा है। और जिसे श्री कृष्ण के चरित्र में ईश्वर का प्रभाव दिखाई दे वह यह पुस्तक समाप्त होते समय मेरे साथ हाथ जोड़कर विनय पूर्वक कहें :

ना कारणात् कारणाद्वा कारणाकारणान्नच।
शरीर ग्रहणं वापि धर्मत्राणाय ते परम्।।

संदर्भ

1. यदुवंशियों में वृष्णि, भोज, अंधक, और कुकुरवंशी भी शामिल हैं।
2. यादवों में मदिरा की चाल इतनी चल गई थी कि कृष्ण बलराम को मुनादी करवानी पड़ी कि जो कोई शराब चुलावेगा, वह शूली पर चढ़ाया जाएगा। मैं चाहता हूँ कि यूरोप वाले इसकी नकल करें।
3. यह यूरोप का संस्कृतज्ञ विद्वान् है। इसने संस्कृत ग्रंथों के बारे में बड़ी ऊटपटाँग बातें लिखी हैं। भषांतरकार।
4. रोम का प्रसिद्ध बादशाह जिसका खून ब्रूटस ने किया था। भाषांतरकार।
5. महाभारत में जहाँ-जहाँ श्री कृष्ण शिवोपासक बताए गए हैं, वह सब क्षेपक हैं।
6. अर्थात् हिंदुओं में सबसे बड़ा ज्ञानी और महात्मा। भाषांतरकार।